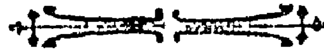
श्रीसूत्रकृताङ्गम्

(तृतीय ण्ड)

अध्ययन १० से १६ पर्य्यन्त



श्रीमच्छीलाङ्काचार्य्यकृतटीका हित

श्रीमद् जैनाचार्य्य

पूज श्री १००८ श्रीजवाहिर ा जी हारा के

तत्त्वावधानमें

पण्डित अम्बिकादत्तजी ओझा व्याकरणाचार्य्य

द्वारा

सम्पादित

[मूल, संस्कृत छाया, अन्वयार्थ, ार्थ और टीकार्थ सहित]



प्रका —

श्रीराजकोट स्थानकवासी जैन ' की सहा ासे

श्रीमहावीर जैन ज्ञानोदय सो यटी–राजकोट

धी वीरविजय प्री. प्रेसमां शा. रमणीकलाल पीताम्बरदास कोठारीए छापी.
ठे. रतनपोळ, सागरनी खडकी-अहमदावाद.

प्रयोजन

आर्हत आगमोंमें श्रीसूत्रकृताङ्ग का बहुत उच्चस्थान है, यह आगम बडी उत्तमताके साथ वस्तुतत्त्वका निरूपण करता है, एक मात्र इस ग्रन्थके मननसेभी मनुष्य अपने जीवनको सफल बना सकता है। मुमुक्षु जीवोंके लिये यह आगम परमोपयोगी है परन्तु इसका मूल अर्ध-मागधीमें और टीका प्रौढ संस्कृतमें रची गई है इस लिये जो अर्धमागधी और संस्कृत नहीं जानते है वे इस आगमके लाभ से वञ्चित रह जाते है।

यद्यपि मुनि महात्माओंके द्वारा किये जानेवाले इस आगमके प्रवचनकी सहायतासे कभी कभी साधारण जनता को इसके अमूल्य ज्ञानोंका लाभ प्राप्त होता है तथापि उससे उतना लाभ नहीं होता जैसाकि स्वयं इस ग्रन्थके मनन करने से हो सकता है। एतदर्थ श्री श्वे. स्था जैन संप्रदायके आचार्य पूज्यश्री १००८ श्रीजवाहिरलालजी महाराज के तत्त्वावधानमें पण्डित अम्बिकादत्त ओझाने इस ग्रन्थका सम्पादन कार्य्य किया है और साधारण जनताके लाभार्थ मूलकी छाया हिन्दी में अन्वयार्थ, भावार्थ तथा टीकाका अर्थ किया है। टीकाका अर्थ अक्षरश: करनेकी चेष्टा की गई है इसलिये भाषासौष्ठव वैसा नहीं हो सका है जैसा प्रचलित पद्धतिको अपेक्षित है। फिरभी संस्कृत न जाननेवाले जिज्ञासु टीकार्थको पढकर टीकाके लाभसे सर्वथा वञ्चित नहीं रह सकते यह निश्चित है।

यद्यपि यह कार्य्य रतलामके चातुर्मास्यसे ही आरम्भ हुआ था तथापि सुविस्तृत ग्रन्थ होनेके कारण दो अध्यायोंका अनुवाद पूज्यश्री के संवत १९९२ के साल राजकोट चातु-र्मास्यके समय समाप्त हुआ। पश्चात् राजकोट श्रीसंघके सामने यह अनुवाद रखा गया और श्रीसंघको यह उपकारक प्रतीत हुआ। फलतः श्रीसघने अपनी उदारताका परिचय देते हुए बलूंदानिवासी शेठ श्रीछगनलालजी साहिब मूंथाके प्रशसनीय सहकारसे इसे मुद्रित कराकर जनताके करकमलोंमें अर्पण करनेका निश्चय किया। उपर्युक्त रीतिके अनुसार प्रथम भागमें प्रारम्भ के दो अध्ययन पर्यन्त और दूसरे भागमें तीनसे नव अध्ययन तक और इस तृतीय भागमें दश से सोलह अध्ययन प्रकाशित कराकर प्रथम श्रुतस्कंध तीन भागोंमे समाप्त किया जाता है।

यद्यपि इस सूत्र–प्रकाशनके लिये आवश्यक सूचनामें लिखे अनुसार आर्थिक सहायता प्राप्त होनेसे पुस्तक विना कीमत बॉट सकते थे किन्तु विना कीमत पुस्तक–वितरण करनेसे पुस्तककी कदर कम होती है इसलिए लागत दामसे कम कीमत रखकर प्रचार करनेका निश्चय किया है। इससे जो आमदनी होगी इसका उपयोग सूत्र–प्रकाशनमें ही किया जायगा।

सम्वत् १९९३ के साल राजकोट चातुर्मास्य के समय इस ग्रन्थका प्रकाशनकार्य्य समाजके अनुपम रत्न धर्मवीर श्रीमान् शेठ दुर्लभजीभाई जौहरीके व्यवस्थापकत्वमें होना निश्चित हुआ और प्रथम भागका संस्करण उक्त जौहिरीजी के व्यवस्थापकत्वमें ही संपन्न हुआ परन्तु शोकके साथ लिखना पडता है कि द्वितीय भाग और तृतीय भागके संस्करण के समय उक्त जौहिरीजीका देहावसान हो गया इस लिये मुझको इस कार्य्यकी व्यवस्था करनी पडी है।

श्रीमान् शेठ दुर्लभजी भाईके स्वर्गवास होनेसे स्थानकवासी समाजकी जो भारी क्षति हुई है उसकी पूर्ति असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है क्योंकि उक्त जौहरीजी के समान धर्मवीर, समाजसेवक परोपकारी पुरुषको प्राप्त करना समाजके भारी पुण्यका फल है, इस समय तो इस समाजने अपना अमूल्य रत्न खोकर भारी हानि उठाई है। मै उक्त जौहरीजीके स्वर्गीय आत्माके प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए तृतीय भागको प्रकाशित करके उनके शेप कार्य्यको पूरा करनेका प्रयत्न करता हूं।

राजकोट
आषाढी पूर्णिमा
सम्वत् १९९५

श्रीसंघसेवक
चुनीलाल नागजी वोरा
व्यवस्थापक

आवश्यक सूचना

राजकोट के चातुर्मास्य के समय पूज्यश्री १००८ श्रीजवाहिरलालजी महाराजके दर्शनार्थ बलून्दा निवासी श्रीमान् सेठ छगनलालजी साहेब मुथा राजकोट पधारेथे। आपने अपनी उदारताका परिचय देते हुए पूज्यश्रीके दर्शनलाभ के स्मरणार्थ सूत्र प्रकाशन कार्य में रु ३०००) तीन हजारकी आर्थिक सहायता प्रदान करनेका भाव प्रकट किया था परन्तु आवश्यक बातोंके बढजानेसे सूत्रकी कलेवरवृद्धिको देखकर खर्चाभी द्विगुण होनेका अनुमान हुआ और आर्थिक प्रबन्ध करनेका प्रयत्न किया गया। फलत पूज्यश्रीके जन्मदिन के शुभ प्रसङ्ग पर सम्वत् १९९२ के कार्तिक मासमें श्रीमान् सेठ लक्ष्मीदास पीताम्बरदास पोरबन्दरवालेने रु० १००१) दिये तथा राजकोट निवासी सेठ चुन्नीलाल नागजी वोराने रु० ५०१) तथा राजकोट श्रीसङ्घके भाई बहिनोने लगभग रु० १०००) दिये।

आर्थिक सहायता देनेवाले सज्जनोंके आभारप्रदर्शनार्थ सूत्रकी ५०० प्रतियोंपर श्रीमान् सेठ छगनलालजी मूथाका और शेष ५०० प्रतियोंपर राजकोट श्री संघके नाम निर्देशका निश्चय किया गया। इस निश्चयके अनुसार ही उपर्युक्त सहायता द्वारा श्री सूत्रकृताङ्गसूत्र का प्रथम श्रुतस्कंध तीन पुस्तक २ विभागोंमें पूर्ण प्रकाशित कराकर समाजकी सेवामें रखा जाता है।

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्रके प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायकोंकी

शुभ नामावली

रु० ३०००) श्रीमान् शेठ छगनलालजी साहेब मूँथा-बेंगलोर

रु० १००१) श्रीमान् सेठ लक्ष्मीदास पीताम्बर, पोरबन्दरवाले

,, ५०१) ,, ,, चुनीलालजी नागजी वोरा, राजकोट

,, १२५) ,, ,, दुर्लभजी त्रिभुवन झवेरी, मोरबी

,, १०१) ,, रावसाहेब ठाकरसी मकनजी घीया, राजकोट

,, १०१) ,, सेठ कानजी पानाचन्द भीमाणी ,,

,, १०१) ,, ,, रामजी वेलजी वीराणी ,,

,, ५१) ,, रावसाहेब डा० लल्लुभाई छगनलाल शाह,,

,, ५१) ,, सेठ जयचन्द अजरामर कोठारी ,,

,, ५१) श्रीमती बहिन जयाकुँवर व्रजलाल मोदी ,,

,, ५१) ,, ,, छबलबेन वनेचन्द देसाई ,,

,, ५१) ,, ,, ताराबेन देवकरण मेंगणीवाले ,,

,, २५) श्रीमान् सेठ गोपालजी भीमजी पारेख, राजकोट

,, २५) ,, ,, रूपचन्द रणछोड मेहता ,,

,, २५) ,, ,, ताराचन्द बेचरदास कामदार ,,

,, २५) ,, ,, नारायणदास पीताम्बर कन्दोई ,,

,, २५) ,, ,, सघजी झवेरी द वनेचन्दभाई ,,

,, २५) ,, ,, प्राणजीवन नागजी मेहता ,,

,, २५) श्रीमती बहिन नानकुँवर हीरजीभाई पोरबन्दरवाले—इत्यादि

आचार्य पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज साहेबकी जन्मतिथि
वर्ष ६२ वाँ सम्वत् १९९३ की कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
राजकोट

एकादश अध्ययन

द्वादश अध्ययन

तेरहवाँ अध्ययन

चौदहवाँ अध्ययन

पंदरहवाँ अध्ययन

सोलहवाँ अयपन

अशुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पश्चात्	पश्चात्	१	१८
करमेवाला	करनेवाला	६	१८
संयमातुष्ठाने	संयमानुष्ठाने	७	७
तथा	तसा	८	१
दुःखेन	दु खेन	११	१४
अतिपापतो	अतिवायतो	१२	८
विपर्योयें	विपर्योमें	२१	२०
स्थानों	स्थानों को	२७	३०
ह्विसप्पसूयाइं	ह्विसप्पसूयाइं	३०	७
निष्क्रग्य	निष्क्रस्य	३३	२२
आधु	साधु	३३	२४
तया	तथा	३३	२५
मुल	मुक्त	३४	१
आधाकर्मा	अधाकर्मा	३९	९
समझनी	समझना	४०	२३
आइकसेयज्ज	आइक्खेज्ज	४५	११
शास्त्रपरिज्ञाख्ये	शास्त्रपरिज्ञाख्ये	४९	३
नहिं ा	अहिंसिया	५०	८
जाति है	जाती है	५४	२५
षस	एप	५५	२८
किया के	क्रिया के	५८	१७
च्छिन्नस्त्रोना	ण्छिन्नस्त्रोता	६३	१२
स्याप	स्यापि	६५	११
अत्तत्ताए	आत्तत्ताए	६९	[illegible]
औदायिक	औदयिक	७९	[illegible]
धद्ध	वद्ध	८५	१७
भण्यते	भण्यन्ते	८८	[illegible]
कज्जस्स	कज्ज	८९	[illegible]
सर्वज्ञका	सर्वज्ञका	[illegible]	[illegible]
पुदुपका	पुरुपका	[illegible]	[illegible]
तज्जनितः	तज्जनितः	[illegible]	[illegible]
पक्षवाला ह	पक्षवाला है	[illegible]	[illegible]
वौद्धादया	वौद्धादयो	[illegible]	[illegible]

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
जग्रत्	जाग्रत्	१११	२९
सर्वशून्वत्वे	सर्वशून्यत्वे	११२	३
णाण	णाणं	११३	३०
पट् स्थान	षट् स्थान	११४	१६
स्वयम्भु	स्वयम्भू	१२३	६
नभना	नभिज्ञाः	१२४	१४
उचित्त	अचित्त	१३३	७
निग्रहस्थाव	निग्रहस्थान	१३५	१८
व्यचिचाराद्	व्यभिचाराद्	१३७	३
वादो	वादी	१४३	६
नहीं ह	नहीं है	१४४	२७
वेगारव	वेगाख्य	१४५	१६
रक्तव्यं	रक्तत्वम्	१४६	१५
अररह्ट	अरहट्ट	१५८	४
निम्रह	निग्रह	१६०	२२
दशन	दर्शन	१६०	१७
जादि	आदि	१६०	३१
पुरूपं	परूपं	१६२	५
प्रन्थके	ग्रन्थके	१६३	१८
गृहस्थकोकं	गृहस्थलोकं	१७०	९
व्याधातं	व्याघातं	१८४	१९
साधुजनगुप्सा	साधुजनजुगुप्सा	१८६	२०
दोनूं	दोनो	१९२	२०
चॅाचके	चोंचके	१९५	७
बहार	बाहर	१९७	९
टाणओ	ठाणओ	१९८	२९
मेर	मेरे	२०६	३
चयना	चनया	२१५	१४
समयासुपुन्ने	समयासुपन्ने	२२०	१४
[illegible]	[illegible]	२२२	७
[illegible]	[illegible]	२२९	२
पारणन	परिणत	२३२	२९
[illegible]	[illegible]	२८९	२१
भ्रान्ति	भ्रान्ति	२५७	८
[illegible]	[illegible]		

ओम् अर्हम्

॥ श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रम् ।

अथ दशमं श्रीसमाध्यध्ययनं प्रारभ्यते

नवमानन्तरं दशममारभ्यते-अस्यचायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने धर्मोऽभिहितः, सचाविकलः समाधौ सति भवतीत्यतोऽधुना समाधिः प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्युपक्रमादीन्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि तत्रोपक्रमद्वारान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा-धर्मे समाधिः कर्त्तव्यः, सम्यगाधीयते-व्यवस्थाप्यते मोक्षं तन्मार्गं वा प्रति येनात्मा धर्मध्यानादिना स समाधिः-धर्मध्यानादिकः, स च सम्यग् ज्ञात्वा स्पर्शनीयः, नामनिष्पन्नन्तु निक्षेपमधिकृत्य-निर्युक्तिकृदाह—

आयाण पदेणाऽऽघं गोणं णामं पुणो समाहित्ति ।
णिक्खिवविहुण समाहिं, भावसमाहीइ पगयंतु ॥१०३॥
णामंठवणादविए खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो उ समाहीए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥१०४॥
पञ्चसु विसएसु सुभेसु, दव्वंमि त्ता भवे समाहित्ति ।
खेत्तं तु जम्मि खेत्ते काले कालो जहिं जो ऊ ॥१०५॥
भावसमाहि चउव्विह दंसणणाणे तवे चरित्ते य ।
चउसुवि समाहियप्पा सम्मं चरणट्ठिओ साहू ॥१०६॥

(टीकार्थ)—नवम अध्ययन कहनेके पश्चात दशम अध्ययन आरम्भ किया जाता है। इस अध्ययन का नवम अध्ययनके साथ सम्बन्ध यह है नवम अध्ययन में धर्मका प्रतिपादन किया है वह धर्म, अविकल समाधि होनेपर पूर्ण होता है इस लिये अब समाधि का कथन करते है इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययनके उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार कहने चाहिये। उनमे उपक्रमद्वार मे अर्थाधिकार यह है जैसेकि साधकको धर्ममें समाधि करनी चाहिये। जिसके द्वारा आत्मा मोक्ष या मोक्षके मार्गमें अच्छी तरह स्थापन किया जाता है वह समाधि है, वह धर्मध्यान आदिक है। उस धर्मध्यान आदि को अच्छी तरहसे जानकर साधुको ग्रहण करना चाहिये। अब निर्युक्तिकार नामनिष्पन्न निक्षेपके विषयमें कहते है—

आदीयते-गृह्यते प्रथममादौ यत्तदादानम् आदानंच तत्पदंच-सुबन्तं तिङन्तं वा तदादानपदं तेन 'आघं'ति नामास्याध्ययनस्य, यस्मादध्ययनादाविदं सूत्रं-'आघं मईमं मणुवीइ धम्म' मित्यादि, यथोत्तराध्ययनेषु चतुर्थमध्ययनं प्रमादाप्रमादाभिधायकमप्यादानपदेन 'असंखय' मित्युच्यते, गुणनिष्पन्नं पुनरस्याध्ययनस्य नाम समाधिरिति, यस्मात्सएवात्र प्रतिपाद्यते, तं च समाधिं नामादिना निक्षिप्य भावसमाधिनेह 'प्रकृतम्' अधिकार इति। समाधिनिक्षेपार्थमाह-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् एष तु समाधिनिक्षेपः षड्विधो भवति, तुशब्दो गुणनिष्पन्नस्यैव नाम्नो निक्षेपो भवतीत्यस्यार्थस्याविर्भावनार्थ इति, नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादिकमधिकृत्याह-पञ्चस्वपि शब्दादिषु मनोज्ञेषु विषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां यथास्वं प्राप्तौ सत्यां यस्तुष्टिविशेषः स द्रव्यसमाधिः तदन्यथा त्वसमाधिरिति, यदिवा द्रव्ययोर्द्रव्याणां वा सम्मिश्राणामविरोधिनां सतां न रसोपघातो भवति अपितु रसपुष्टिः स द्रव्यसमाधिः, तद्यथा-क्षीरशर्करयोर्दधिगुडचातुर्जातकादीना चेति, येन वा द्रव्येणोपभुक्तेन पानकादिना समाधिर्भवति तद्द्रव्यं द्रव्यसमाधिः, तुलादावारोपित वा यत् द्रव्यं समतामुपैतीत्यादिको द्रव्यसमाधि-

(टीकार्थ)—जो पहले पहल आदि में ग्रहण किया गया है उसे आदान कहते है। जो सुवन्त या तिङन्त पद अध्ययन के आदि में गृहीत होता है उसे आदानपद कहते है, उसके हिसाव से इस अध्ययनका 'आघ' नाम है क्योकि इस अध्ययनके आदि मे "आघं मईमं" इत्यादि सूत्र है, इस सूत्र में पहले 'आघ' पद आया है। जैसे उत्तराध्ययन सूत्र का चौथा अध्ययन प्रमाद और अप्रमाद का वर्णन करता हुआ भी आदान पद के हिसावसे "असंखय" कहा जाता है। परन्तु इस अध्ययन का गुणनिष्पन्न नाम समाधि अध्ययन है क्योकि इस अध्ययन में समाधि का ही प्रतिपादन किया गया हैं। उस समाधि का नाम आदि निक्षेप करके इस अध्ययन मे भावसमाधि का अधिकार कहना चाहिये। समाधि का निक्षेप करनेके लिये कहते हैं नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावभेद से समाधि का निक्षेप छः प्रकार का है। गाथा में आया हुआ 'तु' शब्द, "गुणनिष्पन्न नाम का ही निक्षेप होता है" यह बताने के लिये है। नाम और स्थापना सुगम है इस लिये उन्हें छोडकर द्रव्यादि निक्षेप के विषय में कहते हैं मनोहर शब्द आदि पाच विषयों की प्राप्ति होने पर जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों की तुष्टि होती है उसे द्रव्यसमाधि कहते हैं और इससे विपरीत हो तो द्रव्य असमाधि कहते हैं। अथवा परस्पर विरोध नहीं रखनेवाले दो द्रव्य अथवा बहुत द्रव्यों के मिलाने से जो रस बिगडता नहीं किन्तु उस की पुष्टि होती है उसे द्रव्यसमाधि कहते हैं जैसे दूध और शक्कर तथा दही और गुड मिलाने से अथवा शाक आदि में नमक, मिर्च जीरा और धनिया मिलाने से रस की पुष्टि होती है अतः इस मिश्रण को द्रव्यसमाधि कहते हैं। अथवा जिस द्रव्य के खाने [illegible] पीने से शान्ति प्राप्त होती है उसे द्रव्य समाधि कहते हैं अथवा तरा-

रिति, क्षेत्रसमाधिस्तु यस्य यस्मिन् क्षेत्रे व्यवस्थितस्य समाधिरुत्पद्यते स क्षेत्रप्राधान्यात् क्षेत्रसमाधिः यस्मिन्वा क्षेत्रे समाधिर्व्यावर्ण्यत इति, कालसमाधिरपि यस्य यं कालमवाप्य समाधिरुत्पद्यते, तद्यथा-शरदि गवां नक्तमुलूकानामहनि वलिभुजां, यस्य वा यावन्तं कालं समाधिर्भवति यस्मिन्वा काले समाधिर्व्याख्यायते स कालप्राधान्यात् कालसमाधिरिति । भावसमाधि त्वधिकृत्याह-भावसमाधिस्तु दर्शनज्ञानतपश्चारित्रभेदाच्चतुर्द्धा, तत्र चतुर्विधमपि भा माधिं समासतो गाथापश्चार्धेनाह-मुमुक्षुणा चर्यत इति चरणं तत्र सम्यक्चरणे-चारित्रे व्यवस्थितः-समुद्युक्तः 'साधु' मुनिश्चतुर्ष्वपि भावसमाधिभेदेषु दर्शनज्ञानतपश्चारित्ररूपेषु सम्यगाहितो-व्यवस्थापित आत्मा येन स समाहितात्मा भवति, इदमुक्तं भवति-यः सम्यक्चरणे व्यवस्थितः स चतुर्विधभावसमाधिसमाहितात्मा भवति, यो वा भावसमाधिसमाहितात्मा भवति, स सम्यक्चरणे व्यवस्थितो द्रष्टव्य इति, तथाहि-दर्शनसमाधौ व्यवस्थितो जिनवचनभावितान्तःकरणो निवातशरणप्रदीपवन्न कुमतिवायुभिर्भ्राम्यते, ज्ञानसमाधिना तु यथा यथाऽपूर्वं श्रुतमधीते तथा तथाऽतीव

जूके ऊपर जिस वस्तु को चढाने से दोनो बाजू समान हों उसे द्रव्यसमाधि कहते है। जिस जीव को जिस क्षेत्र में रहने से शान्ति उत्पन्न होती है वह क्षेत्र की प्रधानता के कारण क्षेत्र समाधि है। अथवा जिस क्षेत्र मे समाधि का वर्णन किया जाता है उसे भी क्षेत्र समाधि कहते है। जिस जीवको जिस कालमे शान्ति उत्पन्न होती है वह उसके लिये कालसमाधि है जैसे शरद् ऋतुमे गौको, रातमे उल्लकको और दिन मे कौवेको शान्ति उत्पन्न होती है। अथवा जिस जीवको जितने कालतक समाधि रहती है अथवा जिस कालमें समाधि की व्याख्या की जाती है वह कालकी प्रधानता के कारण कालसमाधि है। अव भाव समाधिके विषय में कहते है भावसमाधि, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके भेदसे चार प्रकार का है, इन चारो भावसधाधियों को निर्युक्तिकार गाथाके उत्तरार्ध के द्वारा संक्षेप से बताते है मोक्ष की इच्छा रखनेवाले पुरुप जिस की आराधना करते है उसे चरण कहते हैं वह सम्यक् चारित्र है। उसमें अच्छीतरह प्रवृत रहनेवाला मुनि समाहितात्मा कहलाता है क्योकि उसने दर्शन, ज्ञान, तप और चारित्ररूप भावसमाधि के चारो भेदों मे अपने आत्मा को अच्छी तरह स्थापन किया है। कहने का आशय यह है कि जो पुरुष सम्यक् चारित्र में स्थित है उसने अपने आत्मा को चारो भावसमाधियों मे स्थापन किया है। अथवा जिस पुरुपने भावसमाधि में अपने आत्मा को स्थापन किया है उसे सम्यक् चारित्र मे स्थित जानना चाहिये। क्योकि जो पुरुष दर्शन समाधि में स्थित है वह जिन वचनो से रँगा हुआ अन्तःकरणवाला होनेके कारण वायुरहित स्थानमे रखा हुआ दीपक के समान कुबुद्धिरूपी वायु से विचलित नहीं किया जाता है। तथा ज्ञान समाधि के द्वारा वह पुरुप ज्यों ज्यो नये नये शास्त्रों का अध्ययन करता है त्यो त्यों वह भावसमाधि में प्रवृत्त होता जाता है, जैसाकि कहा है (जह जह) अर्थात् जिनमे अतिशय

भावसमाधावुद्युक्तो भवति, तथा चोक्तम्-[१]"जह जह सुयमवगाहइ अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी णवणवसंवेगसद्धाए ॥ १ ॥" चारित्रसमाधावपि विषयसुखनिःस्पृहतया निष्किञ्चनोऽपि परं समाधिमाप्नोति, तथा चोक्तम्-[२]"तणसंथारणिसन्नोऽवि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो त चक्कवट्टीवि? ॥ १ ॥ नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य । यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥ २ ॥" इत्यादि, तपःसमाधिनापि विकृष्टतपसोऽपि न ग्लानिर्भवति तथा क्षुत्तृष्णादिपरीषहेभ्यो नोद्विजते, तथा अभ्यस्ताभ्यन्तरतपोध्यानाश्रितमनाः स निर्वाणस्थ इव न सुखदुःखाभ्यां बाध्यत इत्येवं चतुर्विधभावसमाधिस्थः सम्यक्चरणव्यवस्थितो भवति साधुरिति ॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदं—

रसका प्रसार है ऐसे नये नये शास्त्रो में ज्यो ज्यों मुनि प्रवेश करता जाता है त्यो त्यों मोक्ष मे श्रद्धा बढने से वह आनन्द को प्राप्त होता है। चारित्र समाधि में स्थित मुनि दरिद्र होने पर भी विषय सुखसे नि स्पृह होनेके कारण परम शान्ति को अनुभव करता है, अतएव कहा है कि जिस के राग, मद और मोह नष्ट हो गये है वह मुनि तृणकी शय्या पर स्थित्त होकर भी जो आनन्द अनुभव करता है उसे चक्रवर्ती राजा भी कहाँ पा सकता है ? । संसारके व्यापार से रहित मुनि को जो सुख इसी लोक मे प्राप्त होता है वह सुख राजाओ के राजाको अथवा देवराज को भी नहीं मिल सकता है । तप समाधि मे स्थित मुनि को भारी तप करने पर भी ग्लानि नहीं होती है तथा क्षुधा, और तृष्णा आदि परीषहोसे वह पीडित नहीं होता है । एव आभ्यन्तर तपका अभ्यास किया हुआ मुनि ध्यान मे लग्नचित्त होनेके कारण मोक्षमें स्थित की तरह सुख दु खसे पीडित नहीं होता है । इस प्रकार चार प्रकारके भावसमाधि मे स्थित साधु सम्यक् चारित्रमें स्थित होता है । नाम निक्षेप समाप्त हुआ अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिये वह सूत्र यह है—

आघं मईमं मणुवीय धम्मं, अंजू समाहिं तमिणं सुणेह।
अपडिन्न भिक्खू उ समाहिपत्ते, अणियाण भूतेसु परिव्वएज्जा ॥१॥

छाया—आख्यातवान् मतिमान् ऋजुनिश्चितं धर्मं ऋजुं समाधिं तमिमं शृणुत।

समाधिको प्राप्त (अणियाणभूते) प्राणियोंका आरम्भ न करता हुआ (भिक्खू सुपरिव्वएज्जा) साधु शुद्ध सयमका पालन करे।

(भावार्थ) केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामीने सरल तथा मोक्षदायक धर्मका कथन किया है। हे शिष्यों! तुम उस धर्मको सुनो। अपने तपका फल नहीं चहता हुआ तथा समाधियुक्त और प्राणियोका आरम्भ न करता हुआ साधु शुद्ध सयमका पालन करे।

अस्य चायमनन्तरसूत्रेण सह सम्बन्ध, तद्यथा-अशेषगारवपरिहारेण मु (ग्र० ५५००) निर्निवाणमनुसन्धयेदित्येतद्भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः समाख्यातवान् एतच्च वक्ष्यमाणमाख्यातवानिति, 'आघं'ति आख्यातवान् कोऽसौ?-'मतिमान्' मननं मति-समस्तपदार्थपरिज्ञानं तद्विद्यते यस्यासौ मतिमान् केवलज्ञानीत्यर्थः, तत्रासाधारणविशेपणोपादानात्तीर्थकृद् गृह्यते, असावपि प्रत्यासत्तेर्वीरवर्धमानस्वामी गृह्यते, किमाख्यातवान्?-'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं, कथम्?—'अनुविचिन्त्य' केवलज्ञानेन ज्ञात्वा प्रज्ञापनायोग्यान् पदार्थानाश्रित्य धर्मं भापते, यदिवा-ग्राहकमनुविचिन्त्य कस्यार्थस्यायं ग्रहणसमर्थः? तथा कोऽयं पुरुषः? कञ्च नतः? किं वा दर्शनमापन्न? इत्येवं पर्यालोच्य, धर्मशुश्रूपवो वा मन्यन्ते-यथा प्रत्येकमस्मदभि-

टीकार्थ—इस सूत्रका पूर्वसूत्रके साथ सम्वन्ध यह है—नवम अध्ययनकी अन्तिम गाथामे कहा है कि "मुनि, सव सांसारिक सुखोंको छोड कर मोक्षका साधन करे" अव यह वतलाते है कि केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामीने आगे कहे अनुसार धर्मका कथन किया है। उस भगवान् महावीर स्वामीका विशेपण वताने के लिये पूछते है कि वह भगवान् कैसे हैं।

उत्तर—भगवान् मतिमान् हैं। समस्त पदार्थों के ज्ञानको मति कहते है, वह जिसमे विद्यमान है उस केवलज्ञानी पुरुप को मतिमान् कहते हैं। यद्यपि केवलज्ञानी अनेक हुए हैं तथापि यहां 'मतिमान्' यह असाधारण विशेपण कहनेसे तीर्थङ्करका ही ग्रहण है और तीर्थङ्करो मे सवसे निकट होने के कारण भगवान् महावीर स्वामीका ही यहाँ ग्रहण है। भगवान् महावीर स्वामीने श्रुत और चारित्ररूप धर्म कहाथा। (प्रश्न) क्या करके कहाथा? (उत्तर) केवलज्ञानके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जानकर उपदेश करने योग्य पदार्थों को लेकर धर्म का कथन किया था। अथवा भगवान् महावीर स्वामीने पहले ग्राहक (धर्मसुननेवाले) पुरुप को विचार कर धर्म कहाथा, जैसे कि—"यह पुरुप किस पदार्थ को ग्रहण कर सकता है। तथा यह पुरुप कौन है? और यह किस देवता या गुरु को नमस्कार करता है एवं यह किस दर्शन का अनुयायी है इत्यादि वातो को निश्चय करके धर्म कहा था। अथवा धर्म की सेवा करनेवाले पुरुपो की यह मान्यता है कि भगवान हम लोगोंके प्रत्येकका अभिप्राय जानकर धर्मका भाषण करते हैं। वह धर्मोपदेश एकही समय सवलोगों की भाषामें परिणत हो जाता है। (प्रश्न) भगवान कैसे धर्मका उपदेश करते है?—(उत्तर) भगवान् ऋजु अर्थात सरल धर्मका उपदेश

प्रायमनुविचिन्त्य भगवान् धर्मं भाषते, युगपत्सर्वेषां स्वभाषापरिणत्या संशयापगमादिति, किंभूतं धर्मं भाषते ?—'ऋजुम्' अवक्रं यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिरूपणतो, न यथा शाक्याः सर्वं क्षणिकमभ्युपगम्य कृतनाशाकृताभ्यागमदोषभयात्सन्तानाभ्युपगमं कृतवन्तः तथा वनस्पतिमचेतनत्वेनाभ्युपगम्य स्वयं न छिन्दन्ति तच्छेदनादावुपदेशं तु ददति तथा कार्षापणादिकं हिरण्यं स्वतो न स्पृशन्ति अपरेण तु तत्परिग्रहतः क्रयविक्रयं कारयन्ति, तथा साङ्ख्याः सर्वमप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यमभ्युपगम्य कर्मबन्धमोक्षाभावप्रसङ्गदोषभयादाविर्भावतिरोभावावाश्रितवन्त इत्यादिकौटिल्यभावपरिहारेणावक्रं तथ्यं धर्ममाख्यातवान्, तथा सम्यगाधीयते-मोक्षं तन्मार्गं वा प्रत्यात्मा योग्यः क्रियते व्यवस्थाप्यते येन धर्मेणासौ धर्मः समाधिस्तं समाख्यातवान्, यदिवा-धर्ममाख्यातवांस्तत्समाधिं च धर्मध्या

करते हैं अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसका वे वैसाही स्वरूप बतलाते है (परन्तु बौद्ध आदि की तरह कुटिल धर्म का उपदेश नही करते है) क्योकि, बौद्ध सब पदार्थों को क्षणिक मानते हैं अत इनके मनमे कृतनाश और अकृताभ्यागमरूप दोष आते है (यह इस प्रकार समझना चाहिये—यदि आत्मा क्षणिक हो तो वह पाप करने के पश्चात् ही मरजाता है फिर उस पाप का फल उसको नहीं प्राप्त हो सकता है अत कर्मका फल कर्ताको नहीं प्राप्त होने से कृतनाश दोष आता है। तथा जो आत्मा दुःख भोगता है उसने पाप नहीं किया था क्योकि पाप करनेवाला आत्मा क्षणभङ्ग सिद्धान्तके अनुसार फल भोगनेवाले आत्मासे भिन्न है अत दूसरे के कर्मका फल दूसरेको प्राप्त होता है यह अकृताभ्यागम दोष आता है) इन दोषो को निवारण करनेके लिये बौद्ध एक सन्तान स्वीकार करते हैं (और कहते है कि यद्यपि आत्मा क्षणिक है तथापि उसका सन्तान यानी सिलसिला चलता रहता है वही उसका फल भोगता है दूसरा नही भोगता है इसलिये हमारे मतमें कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष नहीं आते है ?) इसी तरह वे वनस्पतिको अचेतन मानकर स्वयं उसका छेदन नहीं करते हैं परन्तु दूसरेको वनस्पतिके छेदनका उपदेश करते है तथा वे स्वयं रुपया पैसा आदि नहीं छुते है परन्तु दूसरे के द्वारा उसका संग्रह कराकर उसके द्वारा खरीद बिक्री कराते हैं।

नादिकमिति । सुधर्मस्वाम्याह—तमिमं-धर्मं समाधिं वा भगवदुपदिष्टं शृणुत यूयं, तद्यथा-न विद्यते ऐहिकामुष्मिकरूपा प्रतिज्ञा-आकाङ्क्षा तपोऽनुष्ठानं कुर्वतो यस्यासावप्रतिज्ञो, भिक्षणशीलो भिक्षुः तुर्विशेषणे भावभिक्षु', असावेव परमार्थतः साधु', धर्मं धर्मसमाधिं च प्राप्तोऽसावेवेति, तथा न विद्यते निदानमारम्भरूपं 'भूतेषु' जन्तुषु यस्यासावनिदान स एवम्भूतः सावद्यानुष्ठानरहितः परि-समन्तात्संयमानुष्ठाने 'व्रजेद्' गच्छेदिति, यदिवा-अनिदानभूत.-अनाश्रवभूत कर्मोपादानरहितः सुष्ठु परिव्रजेत् सुपरिव्रजेत्. यदिवा-अनिदानभूतानि-अनिदानकल्पानि ज्ञानादीनि तेषु परिव्रजेत्, अथवा निदानं हेतुः कारणं दुःखस्यातोऽनिदानभूतः कस्यचिद्दुःखमनुपपादयन् संयमे पराक्रमेतेति ॥१॥

अत इस दोषके भयसे वे सभी पदार्थों का आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं। परन्तु यह मान्यता सरल नहीं अपितु कुटिल है (क्योंकि सन पदार्थों को नित्यानित्य मानने से कोई आपत्ति नहीं आती है तथापि ऐसा न मानकर सबको एकान्त नित्य मानलेना और पीछे आपत्ति आनेपर उनका आविर्भाव तिरोभाव मानना सरल मार्ग नहीं है) परन्तु भगवान् महावीर स्वामीने कुटिलमार्गको छोडकर सच्चे मार्गका कथन किया है। भगवान्ने उस धर्मका कथन किया है जिसके द्वारा आत्मा अच्छीतरह मोक्ष या मोक्षके मार्गमें स्थापन किया जाता है उस धर्मको समाधि धर्म कहते हैं। यद्वा भगवान्ने धर्म और उसकी समाधि अर्थात् ध्यान आदिका उपदेश किया है। श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्यों से कहते हैं कि–"आपलोग भगवान् महावीर स्वामीके द्वारा उपदेश किये हुए उस धर्मको अथवा समाधिको सुनें" जो पुरुष अपने तपका फल ऐहलौकिक या पारलौकिक सुख नहीं चाहता है वही वस्तुत भिक्षु है अर्थात् वही सच्चा साधु है। तथा उसीने धर्मसमाधिको प्राप्त किया है। अत साधु प्राणियो का आरम्भ न करता हुआ अर्थात् सावद्यानुष्ठानको छोड़ता हुआ सब प्रकार से संयम के अनुष्ठानमें प्रवृत्त रहे। अथवा साधु कर्मबन्धके कारण आश्रवोंका त्याग करता हुआ शुद्ध संयम का पालन करे। अथवा जो संसारके कारण नहीं है उन्हें अनिदान कहते है वे ज्ञान आदि हैं उनमें साधु प्रयत्नशील बने, अथवा जो दु खका कारण है उसे निदान कहते है अत साधु अनिदान होकर यानी किसी प्राणीको दु ख उत्पन्न न करता हुआ संयम में पराक्रम करे। १

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता, अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा ॥२॥

छाया—ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः।
हस्तैः पादैश्च संयम्य, अदत्त मन्यैश्च न गृह्णीयात् ॥

अन्वयार्थ-(उड्ढं अहेय तिरियं दिसासु) ऊपर नीचे और तिरच्छे दिशाओं में (तथा थावरा जे य पाणा) जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं (हत्थेहिं पाएहि य संजमित्ता) उनको हाथ पैर वश रखकर पीडा न देनी चाहिये (अन्नेसु य अदिन्न नो गहेज्जा) तथा दूसरेसे न दीहुई चीज न लेनी चाहिये।

(भावार्थ)-ऊपर नीचे और तिरच्छे तथा आठही दिशाओं मे जो त्रस और स्थावर प्राणी निवास करते है उनको, हाथ पैर वश करके पीडा न देनी चाहिये तथा दूसरे से न दी हुई चीज न लेनी चाहिये।

प्राणातिपातादीनि तु कर्मणो निदानानि वर्तन्ते, प्राणातिपातोऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा, तत्र क्षेत्रप्राणातिपातमधिकृत्याह-सर्वोऽपि प्राणातिपात· क्रियमाण प्रज्ञापकापेक्षयोर्ध्वमधस्तिर्यक् क्रियते, यदिवा-ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपेषु त्रिषु लोकेषु तथा प्राच्यादिषु दिक्षु विदिक्षु चेति. द्रव्यप्राणातिपातस्त्वय-त्रस्यन्तीति त्रसा-द्वीन्द्रियादयो ये च 'स्थावरा' पृथिव्यादयः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः, कालप्राणातिपातसंसूचनार्थो वा दिवा रात्रौ वा, 'प्राणाः' प्राणिनः, भावप्राणातिपातं त्वाह-एतान् प्रागुक्तान् प्राणिनो हस्तपादाभ्यां 'सयम्य' बद्ध्वा उपलक्षणार्थत्वादस्यान्यथा वा कदर्थयित्वा यत्तेषां दुःखोत्पादन तन्न कुर्यात्, यदिवैतान् प्राणिनो हस्तौ पादौ च संयम्य संयतकायः सन्न हिंस्यात्, चशब्दादुच्छ्वासनिश्वासकासितक्षुतवातनिसर्गादिषु सर्वत्र मनोवाक्कायकर्मसु संयतो भवन् भावसमाधिमनु-

पालयेत्, तथा परैरदत्तं न गृह्णीयादिति तृतीयव्रतोपन्यासः, अदत्तादाननिषेधाच्चा-र्थतः परिग्रहो निषिद्धो भवति, नापरिगृहीतमासेव्यत इति मैथुननिषेधोऽप्युक्तः, समस्तव्रतसम्यक्पालनोपदेशाच्च मृषावादोऽप्यर्थतो निरस्त इति ॥२॥

परिग्रह किये विना किसी वस्तु का सेवन नहीं किया जाता है इस लिये परिग्रह के निषेध से मैथुन का निषेध भी अर्थत' कहा हुआ समझना चाहिये। समस्तव्रतो के पालन के उपदेश से झूठ वोलने का निषेध भी अपने आप सिद्ध हो जाता है।

सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिण्णे, लाढे चरे आयतुले पयासु ।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू॥३॥

छाया-स्वाख्यातधर्मा, विचिकित्सातीर्णः, लाढश्चरेदात्मतुल्यः प्रजासु ।
आयं न कुर्य्यादिह जीवितार्थी, चयं न कुर्य्यात् सुतपस्वी भिक्षुः ॥

अन्वयार्थ-(सुयक्खायधम्मे) श्रुत और चारित्र धर्मको अच्छी तरह प्रतिपादन करनेवाला (वितिगिच्छतिन्ने) तथा तीर्थङ्कर प्रतिपादित धर्ममें शका न करनेवाला (लाढे) तथा प्रासुक आहार से अपना निर्वाह करनेवाला (सुतवस्सि भिक्खु) उत्तम तपस्वी साधु (पयासु आयतुले) पृथिवी-काय आदि जीवों को आत्मतुल्य समझता हुआ (चरे) सयमको पालन करे। (इह जीवियट्ठी आय न कुज्जा) तथा इस लोक में जीनेकी इच्छा से आश्रवों का सेवन न करे (चय न कुज्जा) एव भविष्य कालके लिये धन धान्य आदि का सचय न करे।

भावार्थ-श्रुत और चारित्र धर्म को सुन्दर रीति से कहनेवाला तथा तीर्थङ्करोक्त धर्म में शङ्कारहित, प्रासुक आहार से शरीरका निर्वाह करनेवाला उत्तम तपस्वी साधु समस्त प्राणियोंको अपने समान समझता हुआ संयमका पालन करे और इस लोकमे चिरकालतक जीनेकी इच्छासे आश्रवोका सेवन न करे एवं भविष्य कालके लिये धनधान्य आदिका सञ्चय न करे।

ज्ञानदर्शनसमाधिमधिकृत्याह-सुष्ठ्वाख्यातः श्रुतचारित्राख्यो धर्मो येन साधु-नाऽसौ स्वाख्यातधर्मा, अनेन ज्ञानसमाधिरुक्तो भवति, न हि विशिष्टपरिज्ञानम-न्तरेण स्वाख्यातधर्मत्वमुपपद्यत इति भावः, तथा विचिकित्सा-चित्तविप्लुतिर्वि-द्वज्जुगुप्सा वा तां '[वि]तीर्णः'-अतिक्रान्तः 'तदेव च निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदित'-मित्येवं निःशङ्कतया न क्वचिच्चित्तविप्लुतिं विधत्त इत्यनेन दर्शनसमाधिः प्रतिपा-

टीकार्थ-अब शास्त्रकार ज्ञान और दर्शनरूप समाधिका उपदेश करते है-श्रुत और चारित्ररूप धर्मको जो अच्छीतरह उपदेश करता है उस साधुको स्वाख्यातधर्मा कहते हैं। इस विशेषणके द्वारा ज्ञानसमाधि बताई गई है क्योंकि उच्चकोटिका ज्ञान हुए विना अच्छी रीतिसे धर्मका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। चित्तकी शङ्काको अथवा विद्वानोंकी निन्दाको जुगुप्सा कहते हैं, उसको छोड़कर, "जिनेश्वरने जो कहा है वही सत्य है" यह

दितो भवति, येन केनचित्प्रासुकाहारोपकरणादिगतेन विधिनाऽऽत्मानं यापयति-पालयतीति लाढः, स एवम्भूतः संयमानुष्ठानं 'चरेदू' अनुतिष्ठेत्, तथा प्रजायन्त इति प्रजाः-पृथिव्यादयो जन्तवस्तास्वात्मतुल्यः, आत्मवत्सर्वप्राणिनः पश्यतीत्यर्थः, एवम्भूत एव भावसाधुर्भवतीति, तथा चोक्तम्-[१]"जह मम ण पियं दुक्खं, णिय एमेव सव्वजीवाणं । ण हणइ ण हणावेइ य, स ई तेण सो समणो ॥१॥" यथा च ममाऽऽक्रुश्यमानस्याभ्याख्यायमानस्य वा दुःखमुत्पद्यते एवमन्येषामपीत्येव मत्वा प्रजास्वात्मसमो भवति, तथा इहासंयमजीवितार्थी प्रभूतं कालं सुखेन जीविष्यामीत्येतदध्यवसायी वा 'आयं' कर्माश्रवलक्षणं न कुर्यात्, तथा 'चयम्' उपचयमाहारोपकरणादेर्धनधान्यद्विपदचतुष्पदादेर्वा परिग्रहलक्षणं संचयमायत्यर्थं सुष्ठु तपस्वी सुतपस्वी-विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहो भिक्षुर्न कुर्यादिति ॥३॥

मानकर चित्तमें शङ्का नहीं लाता हुआ. (यह कहकर दर्शनसमाधि बताई है) तथा जो कुछ प्रासुक आहार या उपकरण प्राप्त हो उसीसे अपना निर्वाह करता हुआ साधु संयम पालन करे। जो वारवार जन्म लेते है उन्हे प्रजा कहते है वे पृथिवी आदि प्राणी है, इन प्राणियोंको अपने समान देखनेवाला पुरुष भावसाधु कहा जाता है। अतएव कहा है कि-(जह मम) अर्थात् जैसे मुझको दुःख प्रिय नहीं है इसी तरह सभी जीवोंको नहीं है, यह जानकर जो स्वय जीवोंका हनन नहीं करता है और दूसरेसे हनन नहीं कराता है किन्तु समभावसे रहता है वह साधु श्रमण कहलाता है। तथा साधु यह जानता है कि जैसे मुझको कोई धमकाता है अथवा कलङ्क लगाता है तो मुझको दुःख उत्पन्न होता है इसीतरह अन्य प्राणियोको भी दुःख उत्पन्न होता है। अत साधु समस्त प्राणियोको अपने समान मानता है। साधु इस लोकमे असंयम जीवनका इच्छुक अथवा मैं चिरकालतक जीवित रहूं ऐसा निश्चय कर कर्मोके आश्रवका सेवन न करे एवं तपसे अपने शरीरको अच्छीतरह तपाया हुआ साधु भविष्य कालके लिये आहार और उपकरण आदि एव धन, धान्य, द्विपद और चतुष्पद आदिका परिग्रह रूप सचय न करे। ३

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के।
पासाहि पाणे य पुढोवि सत्ते, दुक्खेण अट्टे परितप्पमाणे ॥४॥

छाया-सर्वेन्द्रियाभिनिर्वृतः प्रजासु, चरेन्मुनिः सर्वतो विप्रमुक्तः ।

भावार्थ—साधु स्त्रियोके विषयमें अपनी समस्त इन्द्रियोंको रोककर जितेन्द्रिय बने तथा सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होकर शुद्ध संयमको पालन करे। इस लोकमें अलग अलग प्राणिवर्ग दुःख भोग रहे है यह देखो।

किञ्चान्यत्—सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि तैरभिनिर्वृतः संवृतेन्द्रियो जितेन्द्रिय इत्यर्थः, क ?—'प्रजासु' स्त्रीषु, तासु हि पञ्चप्रकारा अपि शब्दादयो विषया विद्यन्ते, तथा चोक्तम्—"कलानि वाक्यानि विलासिनीनां, गतानि रम्याण्यवलोकितानि। रतानि चित्राणि च सुन्दरीणां, रसोऽपि गन्धोऽपि च चुम्बनानि ॥१॥" तदेवं स्त्रीषु पञ्चेन्द्रियविषयसम्भवात्तद्विषये संवृतसर्वेन्द्रियेण भाव्यम्, एतदेव दर्शयति—'चरेत्' संयमानुष्ठानमनुतिष्ठेत् 'मुनिः' साधुः 'सर्वत' सबाह्याभ्यन्तरात् सङ्गाद्विशेषेण प्रमुक्तो विप्रमुक्तो निःसङ्गो मुनिः निष्किञ्चनश्चेत्यर्थः, स एवम्भूत सर्वबन्धनविप्रमुक्तः सन् 'पश्य' अवलोकय पृथक् पृथक् पृथिव्यादिषु कायेषु सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नान् 'सत्त्वान्' प्राणिनः अपिशब्दाद्वनस्पतिकाये साधारणशरीरिणोऽनन्तानप्येकत्वमागतान् पश्य, किंभूतान् ?—दुःखेन—असातवेदनीयोदयरूपेण दुःखयतीति वा दुःखम्—अष्टप्रकारं कर्म तेनार्त्तान्—पीडितान् परि—समन्तात्संसारकटाहोदरे स्वकृतेनेन्धनेन 'परिपच्यमानान्' यदिवा—दुष्प्रणिहितेन्द्रियानार्तध्यानोपगतान्मनोवाक्कायैः परितप्यमानान् पश्येति सम्बन्धो लगनीय इति ॥४॥

टीकार्थ—साधु स्पर्शन आदि सभी इन्द्रियोंको वश करके जितेन्द्रिय बने (प्रश्न) किसके विषयमे ? (उत्तर) स्त्रियोके विषयमें अर्थात् स्त्रियोंके विषयमे शब्द आदि पॉचही विषय विद्यमान हैं अतएव कहा है कि (कलानि) स्त्रियोका वाक्य सुनने में कानोको मधुर लगता है, तथा उनका चलना और देखना, नेत्रको प्रसन्न करता है एवं उनके साथ रमण करनेसे आश्चर्य्यजनक आनन्द होता है तथा उनके मुखको चुम्बन करनेसे रस और गन्धभी प्राप्त होते है इस प्रकार सुन्दरी स्त्रीमें पॉचही विषय होनेसे साधुको स्त्रीके विषयमे जितेन्द्रिय होना चाहिये। (स्त्रियोके सहवाससे साधुको दूर रहना चाहिये) यही शास्त्रकार दिखाते हैं—साधु बाहर और भीतर दोनो ही प्रकारके सङ्गोको छोड़कर तथा निष्किञ्चन होकर सयमका अनुष्ठान करे। तुम सब प्रकारके वन्धनोंसे रहित होकर पृथिवी आदि कायोमे अलग अलग रहनेवाले सूक्ष्म बादर पर्य्याप्त और अपर्य्याप्त भेद वाले प्राणी तथा अपि शब्दसे वनस्पतिकायमे साधारण शरीरवाले अनन्त प्राणी जो एकताको प्राप्त हुए है उन्हें देखो) (प्रश्न) वे प्राणी कैसे है ? (उत्तर) वे असातावेदनीयके उदयरूप अथवा आठ प्रकारके कर्मरूप दु खसे पीडित है, वे संसाररूप कराहमे अपने किये हुए कर्मरूपी इन्धनोसे पकाये जा रहे है अथवा उनकी इन्द्रियाँ बुरे व्यापारोंमें लगी हुई हैं और वे आर्त्तध्यान करते हुए मन वचन और कायसे तापका अनुभव कर रहे है यह देखो। ४

एतेसु वाले पकुव्वमाणे, आवट्टती कम्मसु पावएसु।
अतिवायतो कीरति पावकम्मं, निउंजमाणे उ करेइ कम्मं ॥५॥

छाया-एतेषु वालश्च प्रकुर्वाणः, आवर्तते कर्मसु पापकेषु ।
अतिपाततः क्रियते पापकर्म, नियोजयंस्तु करोति कर्म ॥

अन्वयार्थ-(वाले) अज्ञानी जीव, (एतेसु) पूर्वोक्त पृथिवीकाय आदि प्राणियों को (पकुव्वमाणे) कष्ट देता हुआ (पावएसु कम्मसु आवट्टति) पापकर्म में अथवा इन पृथिवीकाय आदि योनियों में भ्रमण करता है । (अतिपायतो पावकम्म किरति) जीवहिंसा करके प्राणी पापकर्म करता है (निउजमाणेउ कम्म करेइ) तथा दूसरेके द्वारा हिंसा कराकर भी जीव पाप करता है ।

भावार्थ-अज्ञानी जीव पृथिवीकाय आदि प्राणियोंको कष्ट देता हुआ पापकर्म करता है और अपने पापका फल भोगने के लिये वह पृथिवीकाय आदि प्राणियोमें ही वार वार जन्म लेता है । जीवहिंसा स्वयं करने और दूसरे के द्वारा करानेसे पाप उत्पन्न होता है ।

'एतेषु' प्राङ्निर्दिष्टेषु प्रत्येकसाधारणप्रकारेपूपतापक्रियया बालवत् 'बालः' अज्ञश्चशब्दादितरोऽपि सङ्घट्टनपरितापनापद्रावणादिकेनानुष्ठानेन 'पापानि' कर्माणि प्रकर्षेण कुर्वाणस्तेषु च पापेषु कर्मसु सत्सु एतेषु वा पृथिव्यादिजन्तुषु गतः संस्तेनैव संघट्टनादिना प्रकारेणानन्तशः 'आवर्त्यते' पीड्यते दुःखभाग्भवतीति, पाठान्तरं वा 'एव तु वाले' एवमित्युपप्रदर्शने यथा चौरः पारदारिको वा असदनुष्ठानेन हस्तपादच्छेदान् बन्धवधादींश्चेहावाप्नोत्येव सामान्यदृष्टेनानुमानेनान्योऽपि पापकर्मकारी इहामुत्र च दुःखभाग्भवति, 'आउट्टति' त्ति क्वचित्पाठः, तत्राशुभान्

कर्मविपाकान् दृष्ट्वा श्रुत्वा ज्ञात्वा वा तेभ्योऽसदनुष्ठानेभ्य 'आउट्टति' त्ति निवर्तते, कानि पुनः पापस्थानानि येभ्यः पुनः प्रवर्तते निवर्तते वा इत्याशङ्क्य तानि दर्शयति-'अतिपाततः' प्राणातिपाततः प्राणव्यपरोपणाद्धेतोस्तच्चाशुभं ज्ञानावरणादिकं 'क्रियते' समादीयते, तथा परांश्च भृत्यादीन् प्राणातिपातादौ 'नियोजयन्' व्यापारयन् पापं कर्म करोति, तुशब्दान्मृषावादादिकं च कुर्वन् कारयंश्च पापकं कर्म समुच्चिनोतीति ॥५॥

अनुमानसे सिद्ध होता हैं। कहीं (आउट्टति) यह पाठ मिलता है इसका अर्थ यह है कि-बुद्धिमान् पुरुष, अशुभ कर्मोंका दुःखरूप फल देख कर या सुनकर अथवा जानकर कर्मोंसे निवृत्त हो जाते है। (प्रश्न) वे कौन पापके स्थान है जिनमे प्राणी प्रवृत्त होते हैं अथवा जिनसे निवृत्त होने है: (उत्तर) जीवहिंसा करनेसे प्राणी ज्ञानावरणीय आदि अशुभ कर्मोंको बॉधता है तथा जो अपने नौकर आदिको जावहिंसा करने की आज्ञा देता है वह पापकर्म करता है तथा तु शब्दसे जो झूठ बोलता है चोरी करता है मैथुन करता है और परिग्रह करता है अथवा दूसरे से इन कर्मों को कराता है वह पापका सञ्चय करता है। ५

आदीणवित्तीव करेति पावं, मंता उ एगंतसमाहिमाहु।
बुद्धे माहीय रते विवेगे, पाणातिवाता विरते ठियप्पा ॥६॥

छाया-आदीनवृत्तिरपि करोति पापं, मत्वात्वेकान्तसमाधि माहुः।
बुद्धः समाधौ च रतो विवेके, प्राणातिपाताद् विरतः स्थितात्मा।

अन्वयार्थ-(आदीणवित्तीव पाव करोति) जो पुरुष दीनवृत्ति करता है अर्थात् कगाल भीखारीका धधा करता है वह भी पाप करता है (मत्ताउ एगत समाहि माहु) यह जानकर तीर्थकरोंने एकान्त समाधि का उपदेश किया है। (बुद्धे ठियप्पा) इसलिये विचारवान् शुद्धचित्त पुरुप (समाहीय विवेगे रते) समाधि और विवेकमें रत रहे। (प्राणातिवाता विरते) एव प्राणातिपातसे निवृत्त रहे।

जो पुरुष कंगाल और भीखारी आदि के समान करुणाजनक धंधा करता है वह भी पाप करता है यह जानकर तीर्थकरोने भावसमाधि का उपदेश किया है। अत. विचारशील शुद्धचित्त पुरुप भावसमाधि और विवेक मे रत होकर प्राणातिपात से निवृत्त रहे।

चलकर काशी नहीं आता तो वह काशी में नहीं देखा जाता इससे यह सिद्ध होता है कि एक जगहसे दूसरी जगहपर गतिके विना कोई वस्तु नहीं प्राप्त होती है। इसप्रकार जब हम सूर्य्यको एक देशसे दूसरे देश में देखते हे तब देवदत्त की गति के समान ही सूर्य्य में भी गतिका अनुमान करते हैं क्योंकि सूर्य्य में यदि गति न होती तो वह एक देशसे दूसरे देशमे कैसे प्राप्त होता? । अत देवदत्त आदि में गतिपूर्वक देशान्तर की प्राप्ति देखकर सूर्य्य मे अप्रत्यक्ष गतिका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। इसीतरह प्रत्यक्ष ही चोर आदिको दुःखका फल भोगते हुए देखकर दूसरे पापियों का भी पापका फल भोगना जाना जाता है।

किञ्चान्यत्-आ-समन्ताद्दीना-करुणास्पदा वृत्तिः-अनुष्ठानं यस्य कृपणवनीपकादे· स भवत्यादीनवृत्तिः, एवम्भूतोऽपि पापं कर्म करोति, प न्तरं वा आदीनभोज्यपि पापं करोतीति, उक्तं च-¹" पिंडोलगेव दुस्सोले, णरगाओ ण मुच्चइ" स कदाचिच्छोभनमाहारमलभमानोऽज्ञत्वादार्तरौद्रध्यानोपगतोऽध· स्यामप्युत्पद्येत, तद्यथा-असावेव राजगृहनगरोत्सवनिर्गतजनसमूहवैभारगिरिशिलापातनोद्यत· स दैवात्स्वयं पतितः पिण्डोपजीवीति, तदेवमादीनभोज्यपि पिण्डोलकादिवज्जनः पापं कर्म करोतीत्येवं 'मत्वा' अवधार्य एकान्तेनात्यन्तेन च यो भावरूपो ज्ञानादिसमाधिस्तमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः, द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादका अनैकान्तिका अनात्यन्तिकाश्च भवन्ति अन्ते चावश्यमसमाधिमुत्पादयन्ति, तथा चोक्तम्-" यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः। किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चाद्‌तिदुरन्ताः ॥१॥" इत्यादि, तदेवं 'बुद्धः' अवगततत्त्वः स चतुर्विधेऽपि ज्ञानादिके रतो-व्यवस्थितो 'विवेके वा' आहारोपकरणकषायपरित्यागरूपे द्रव्यभावात्मके रतः सन्नेवंभूतश्च स्यादित्याह-प्राणानां दशप्रका

राणामप्यतिपातो-विनाशस्तस्माद्विरतः स्थितः सम्यग्मार्गेषु आत्मा यस्य सः पाठान्तरं वा 'ठियच्चि'त्ति स्थिता शुद्धस्वभावात्मना अर्चिः-लेश्या यस्य स भवति स्थितार्चिः,-सुविशुद्धस्थिरलेश्य इत्यर्थ ॥६॥

आहार उपकरण और कषायको त्यागकर द्रव्य और भाव से आनन्द माने। ऐसा होकर प्राणियों के दशप्रकार के प्राणोके विनाश से दूर तथा उत्तममार्ग मे आत्माको स्थिर रखनेवाला साधु बने। अथवा "ठियच्चि" इस पाठान्तरके अनुसार साधु विशुद्धलेश्यावाला बने। ६

सव्वं जगं तू स याणुपेही, पिय प्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो, संपूयणं चेव सिलोयकामी ॥७॥

छाया-सर्वं जगत्तु समतानुप्रेक्षी, प्रियमप्रिय कस्यचिन्न कुर्यात्।
उत्थाय दीनश्च पुनर्विषण्णः संपूजनश्चैव श्लोककामी।

अन्वयार्थ-(सव्व जगत् तु समयाणुपेही) साधु समस्त जगत्को समभाव से देखे। (कस्सइ पिय मप्पिय नो करेज्जा) किसीका भी प्रिय और अप्रिय न करे (उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो) कोई पुरुष प्रव्ज्या लेकर परीषह और उपसर्गों की बाधा होनेपर दीन हो जाते है और वे फिर पतित हो जाते हैं (संपूयणं चेव सिलोयकामी) और कोई पूजा और प्रशसा के अभिलाषी बन जाते है।

भावार्थ-साधु समस्त जगत् को समभाव से देखे वह किसीका प्रिय अथवा अप्रिय न करे। कोई कोई प्रव्ज्या धारण करके परीषह और उपसर्गों की बाधा आने पर दीन हो जाते हैं और प्रव्ज्या छोड़कर पतित हो जाते हैं। कोई अपनी पूजा और प्रशंसा के अभिलाषी हो जाते हैं।

किञ्च-'सर्वं' चराचरं 'जगत्' प्राणिसमूहं समतया प्रेक्षितुं शीलमस्य स समतानुप्रेक्षी समतापश्यको वा, न कश्चित्प्रियो नापि द्वेष्य इत्यर्थः, तथा चोक्तम्-[1]"नत्थि य सि कोइ विस्सो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु" तथा-"जह मम ण पियं दुक्खमि"त्यादि; समतोपेतश्च न कस्यचित्प्रियमप्रियं वा कुर्यान्निःसङ्गतया विहरेद्, एवं हि सम्पूर्णभावसमाधियुक्तो भवति, कश्चित्तु भावसमाधिना सम्य-

टीकार्थ-साधु चर और अचर सब प्राणियों को समभाव से देखता हुआ किसीको प्रिय और किसीको अप्रिय न करे। अतएव कहा है कि-(नत्थिय) अर्थात् समस्त जीवों मे साधुका न तो कोई द्वेष का पात्र है और न कोई प्रेम का भाजन है अतएव साधु यह चिन्ता करता है कि-जैसे मुझको दुःख अप्रिय है इसीतरह दूसरे प्राणियोंको भी अप्रिय है, इसप्रकार साधु समभाव से युक्त होकर किसीका भी प्रिय अथवा अप्रिय न करे किन्तु निःसङ्ग होकर विचरे। जो साधु ऐसा करनेवाला है वह सम्पूर्ण भावसमाधि से युक्त होता है परन्तु कोई पुरुष भाव-

१ नास्ति तस्य कोऽपि द्वेष्यः प्रियश्च सर्वेषु चैव जीवेषु ॥

गुत्थानेनोत्थाय परीषहोपसर्गैस्तर्जितो दीनभावमुपगम्य पुनर्विषण्णो भवति विषयार्थी वा कश्चिद्गार्हस्थ्यमप्यवलम्बते रससातागौरवगृद्धो वा पूजासत्काराभिलाषी स्यात् तदभावे दीनः सन् पार्श्वस्थादिभावेन वा विषण्णो भवति, कश्चित्तथा सम्पूजनं वस्त्रपात्रादिना प्रार्थयेत् 'श्लोककामी च' श्लाघाभिलाषी च व्याकरणगणितज्योतिषनिमित्तशास्त्राण्यधीते कश्चिदिति ॥७॥

समाधि के द्वारा अपनी उन्नति करके अर्थात् दीक्षा लेकर भी परीषह और उपसर्गों से पीडित होकर दीन हो जाते हैं और वे पश्चात्ताप करते है। तथा कोई विषयलोलुप होकर फिर गृहस्थ हो जाते है एव कोई रस और सातागौरव में आसक्त होकर पूजा और सत्कार के अभिलाषी वन जाते है। वे पूजा सत्कार प्राप्त न होने पर पार्श्वस्थ बनकर खेद करते हैं। तथा कोई वस्त्र और पात्र आदि की चाहना करनेवाले हो जाते है एवं कोई अपनी प्रशंसा के लिये व्याकरण गणित ज्योतिष् और निमित्तशास्त्र पढते है। ७

आहाकडं चेव निकाममीणे, नियामचारी य विसण्णमेसी।
इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥८॥

छाया—आधाकृतञ्चैव निकाममीणो, निकामचारी च विषण्णैषी।
स्त्रीषु सक्तश्च पृथक् च बालः परिग्रहञ्चैव प्रकुर्वाणः।

अन्वयार्थ—(आहाकडं चेव निकाममीणे) जो दीक्षा लेकर आधाकर्मी आहार की अत्यन्त इच्छा करता है (नियामचारीय विसण्णमेसी) तथा जो आधाकर्मी आहार के लिये विचरता है वह कुशील बनना चाहता है। (इत्थीसुसत्ते य) तथा जो स्त्रीमें आसक्त है (पुढोय बाले) एवं स्त्रीके विलासों में अज्ञानी की तरह मुग्ध रहता है तथा (परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे) स्त्रीकी प्राप्ति के लिये परिग्रह रखता है वह पापकर्म करता है।

'करोति' उपादत्ते 'स' एवम्भूत उपात्तवैरः कृतकर्मोपचय 'इतः' अस्मात्स्थानात् 'च्युतो' जन्मान्तरं गतः सन् दुःखयतीति दुःखं-नरकादियातनास्थानमर्थतः-परमार्थतो दुर्गं-विषमं दुरुत्तरमुपैति, यत एवं तत्तस्मात् 'मेधावी' विवेकी मर्यादावान् वा सम्पूर्णसमाधिगुणं जानानो 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं 'समीक्ष्य' आलोच्याङ्गीकृत्य 'मुनिः' साधुः 'सर्वतः' सबाह्याभ्यन्तरात्सङ्गात् 'विप्रमुक्तः' अपगतः संयमानुष्ठानं मुक्तिगमनैकहेतुभूतं 'चरेद्' अनुतिष्ठेत्, स्त्र्यारम्भादिसङ्गाद्विप्रमुक्तोऽनिश्रितभावेन विहरेदितियावत् ॥९॥

सग्रह करता है अथवा द्रव्यसंग्रहके लिये कर्म बॉधता है वह प्राणियोंके साथ वैर तथा पापकर्मका सग्रह करनेके कारण इस भवको छोडकर दुस्तर नरक आदि महापीडा स्थानों मे जन्म धारण करता है। पापी पुरुपकी नरकादि गति होती है इसलिये विवेकी अथवा मर्य्यादामें स्थित एव सम्पूर्ण समाधि गुणको जाननेवाला साधु श्रुत और चारित्र धर्मको स्वीकार करके बाह्य और आभ्यन्तर सङ्गोको छोडकर मोक्ष प्राप्तिके कारणरूप संयमका अनुष्ठान करे। वह स्त्री और आरम्भ आदिसे रहित होकर स्वतंत्र विचरे यह भाव है। ९

आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी, असज्जमाणो य परिव्वएज्जा।
णिसम्मभासी य विणीय गिद्धिं, हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा ॥१०॥

छाया—आय न कुर्य्यादिह जीवितार्थी, असजमानश्च परिव्रजेत्।
निशम्यभाषी च विनीय गृद्धिं हिंसान्वितां वा न कथां कुर्य्यात् ॥

अन्वयार्थ-(इह जीवियट्ठी आय ण कुज्जा) साधु इसलोकमें चिरकालतक जीनेकी इच्छासे द्रव्य उपार्जन न करे। (असज्जमाणो य परिव्वएज्जा) तथा स्त्रीपुत्र आदिमें आसक्त न रहता हुआ सयममें प्रवृत्ति करे (णिसम्मभासी) एव साधु विचारकर कोई बात कहे (गिद्धिं विणीय) तथा शब्दादि विषयोंमे आसक्तिको हटाकर (हिंसन्नियं कहं न करेज्जा) हिंसा सम्बन्धी कथा न कहे।

भावार्थ—साधु इस ससार मे चिरकालतक जीनेकी इच्छासे द्रव्यका उपार्जन न करे। तथा स्त्री पुत्रादिमें आसक्त न होता हुआ संयममें प्रवृत्ति करे। साधु विचार कर कोई बात कहे तथा शब्दादि विषयोंमे आसक्ति हटाकर हिंसायुक्त कथा न कहे।

किञ्चान्यत्—आगच्छतीत्यायो-द्रव्यादेर्लाभस्तन्निमित्तापादितोऽष्टप्रकारकर्मलाभो वा तम् 'इह' अस्मिन् संसारे 'असंयमजीवितार्थी' भोगप्रधानजीवितार्थी-त्ययं, यदि वा-आजीविकाभयात् द्रव्यसञ्चय न कुर्यात्, पाठान्तरं वा तत्त्वाणां

कुज्जा इत्यादि, छन्दः-प्रार्थनाऽभिलाष इन्द्रियाणां स्वविषयाभिलाषो वा तत् न कुर्यात्, तथा 'असजमान' सङ्गमकुर्वन् गृहपुत्रकलत्रादिषु 'परिव्रजेत्' उद्युक्तविहारी भवेत् तथा 'गृद्धिं' गार्ध्यं विषयेषु शब्दादिषु 'विनीय' अपनीय 'निशम्य' अवगम्य पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य भाषको भवेत्, तदेव दर्शयति-हिंसया-प्राण्युपमर्दरूपया अन्वितां-युक्तां कथां न कुर्यात्, न तत् ब्रूयात् यत्परात्मनोः उभयोर्वा बाधकं वच इति भावः, तद्यथा-अश्नीत पिबत खादत मोदत हत छिन्त प्रहरत पचतेत्यादिकथां पापोपादानभूतां न कुर्यादिति ॥१०॥

साधु आजीविकाके भयसे द्रव्यका सञ्चय न करे। अथवा "छन्दणं कुज्जा" इस पाठान्तरके अनुसार साधु इन्द्रियोंके विषयभोगकी इच्छा न करे। तथा गृह पुत्र और स्त्री आदिमें आसक्त न होता हुआ विहार करे। तथा शब्दादि विषयोंसे आसक्ति हटाकर आगे पीछे सोचकर कोई बात कहे, यही शास्त्रकार दिखाते हैं—साधु हिंसासे युक्त कथा न कहे तथा जिससे अपनेको तथा दूसरेको एवं दोनोको दुःख उत्पन्न हो ऐसा वचन न कहे जैसेकि खाओ, पिओ, पकाओ, इत्यादि पापके कारणरूप कथा न कहे। १०

आहाकडं वा ण णिकामएज्जा, णिकामयंते य ण संथवेज्जा।
धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चिच्चा ण सोयं अणवेक्खमाणो ॥११॥

छाया—आधाकृतं वा न निकामयेत्, निकामयतश्च न संस्तुयात्।
धुनीयादुदारमनुप्रेक्षमाणः, त्यक्त्वा च शोकमनपेक्षमाणः॥

पयेत्-नोपबृंहयेत् तैर्वा सार्धं संस्तवं न कुर्यादिति, किञ्च-'उरालं'ति औदारिकं शरीर विकृष्टतपसा कर्मनिर्जरामनुप्रेक्ष ाो 'धुनीयात्' कृशं कुर्यात्, यदिवा 'उरालं'ति बहुजन्मान्तरसञ्चितं कर्म तदुदारं-मोक्षमनुप्रेक्षमाणो 'धुनीयाद्' अपनयेत्, तस्मिंश्च तपसा धूयमाने कृशीभवति शरीरके कदाचित् शोकः स्यात् तं त्यक्त्वा याचितोपकरणवदनुप्रेक्षमाणः शरीरकं धुनीयादिति सम्बन्धः ॥११॥

तथा कर्मकी निर्जराके लिये बडी तपस्याके द्वारा शरीरको कृश करे। अथवा साधु बहुत जन्मोंके सञ्चित कर्मको मोक्षकी प्राप्ति के लिये नाश करे। तपके द्वारा कर्मोंको क्षय करते समय शरीरकी कृशता हो जानेसे कदाचित् साधुको शोक उत्पन्न हो तो साधु शरीरको माँगकर लायेहुए उपकरणके समान जानकर शोक न करे किन्तु शरीरके मलके समान कर्मोंको नष्ट करे। ११

एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो मु ंति पासं।
एसप्पमोक्खो मुसे वरेवि, अ ोहणे सच्चरते वस ी ॥१२॥

छाया-एकत्वमेतदभिप्रार्थयेदेवं प्रमोक्षो न मृषेति पश्य ।
एष प्रमोक्षोऽमृषा वरोऽपि, अक्रोधनः सत्यरत स्तपस्वी ॥

अन्वयार्थ-(एगतमेय अभिपत्थएज्जा) साधु एकत्वकी भावना करे (एव पमोक्खो न मुसेतिपासं) एकत्वकी भावना करने से ही साधु नि.सङ्गताको प्राप्त होता है यह मिथ्या नहीं किन्तु सत्य जानो। (एस पमोक्खो अमुसे वरेवि) यह एकत्वकी भावनाही उत्कृष्ट मोक्ष है तथा यही सत्य भावसमाधि और प्रधान है। (अकोहणे सचरते तवस्सी) जो क्रोध रहित तथा सत्यमें रत और तपस्वी है वही सबसे श्रेष्ठ है।

भावार्थ-साधु एकत्वकी भावना करे क्योंकि एकत्वकी भावना से ही नि.सङ्गताको प्राप्त होता है। यह एकत्वकी भावनाही उत्कृष्ट मोक्ष है अत जो इस भावनासे युक्त होकर क्रोध नहा करता हैं तथा सत्य भाषण और तप करता है वही पुरुष सबसे श्रेष्ठ है।

किञ्चापेक्षेतेत्याह-एकत्वम्-असहायत्वमभिप्रार्थयेद्-एकत्वाध्यवसायी स्यात्, तथाहि-जन्मजरामरणरोगशोकाकुले संसारे स्वकृतकर्मणा विलुप्यमानानामसुमतां न कश्चित्त्राणसमर्थः सहायः स्यात्, तथा चोक्तम्-"एगो[1] मे सासओ अप्पा, णाणदंसणसंजुओ। सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संयोगलक्खणा ॥१॥" इत्यादि-

टीकार्थ—साधु एकत्वकी इच्छा करे दूसरेकी सहायताकी इच्छा न करे तथा एकत्वका विचार करे क्योंकि जन्म जरा मरण रोग और शोकसे पूर्ण इस जगत्में अपने किये हुए कर्मोंसे दुःख भोगते हुए प्राणीकी कोई भी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। अतएव कहा है कि "एगो" अर्थात् ज्ञानदर्शनसे युक्त मेरा एक आत्माही शाश्वत है बाकीके सभी पदार्थ बाह्य

१ एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनसंयुतः । शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१॥

कामेकत्व भावयेद्, एवमनयैकत्वभावनया र्येण मोक्षः प्रमोक्षो-विप्रमुक्त-सङ्गता, न 'मृषा' अलोकमेतद्भवतीत्येवं पश्य, एष एवैकत्वभावनाभिप्रायः प्रमोक्षो वर्तते, अमृषारूपः-सत्यश्चायमेव। तथा 'वरोऽपि' प्रधानोऽप्ययमेव भावसमाधिर्वा, यदिवा यः 'तपस्वी' तपोनिष्टप्तदेहोऽक्रोधनः, उपलक्षणार्थत्वादस्यामानो निर्मायो निर्लोभः सत्यरतश्च एष एव प्रमोक्ष 'अमृषा' सत्यो 'वरः' प्रधानश्च वर्तत इति ॥१२॥ किञ्चान्यत्—

है और वे कर्मके कारण संयोगको प्राप्त है। इसप्रकार साधु सदा एकत्वकी भावना करता रहे। एकत्वकी भावना करनेसेही सब झंझटोसे छुटकारा होता है इसमे जराभी झूठ नहीं है यह देखो। यह एकत्वकी भावना ही मोक्षका उपाय है तथा यही सत्य और प्रधान है अथवा यही भावसमाधि है। अथवा जो तपस्वी है अर्थात् तपसे अपने शरीरको तपानेवाला है तथा क्रोध नहीं करता है एवं क्रोध उपलक्षण होनेसे मान माया और लोभ नहीं करता है तथा सत्यमें रत रहना है वही पुरुष सच्चामुक्त और सबसे प्रधान है। १२

इत्थीसु या आरय मेहुणाओ, परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे।
उच्चावएसु विसएसु ताई, निस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ॥१३॥

छाया—स्त्रीषुचारतमैथुनम्तु परिग्रहञ्चैवाकुर्वाणः।

यदिवोच्चा-उत्कृष्टा अवचा-जघन्यास्तेष्वरक्तद्विष्टः 'त्रायी' अपरेषां च त्राणभूतो विशिष्टोपदेशदानतो 'निःसंशयं' निश्चयेन परमार्थतो 'भिक्षुः' साधुरेवम्भूतो मूलोत्तरगुणसमन्वितो भावसमाधिं प्राप्तो भवति, नापरः कश्चिदिति, उच्चावचेषु वा विषयेषु भावसमाधिं प्राप्तो भिक्षुर्न संश्रयं याति नानारूपान् विषयान् न संश्रयतीत्यर्थः ॥१३॥

जो आसक्त नहीं है अथवा उत्कृष्ट विषयोमे जिसका राग और निकृष्टमें द्वेष नहीं है तथा जो विशिष्ट उपदेश देकर प्राणियोकी रक्षा करता है वह मूल और उत्तरगुणोसे युक्त साधु वास्तव में भावसमाधिको प्राप्त है परन्तु इससे विपरीत पुरुष नहीं। अथवा नाना प्रकारके विषयोमें जो भावसमाधिको प्राप्त है वह साधु विषयोंका सेवन नहीं करता है यह अर्थ है। १३

अरइं रइं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफासं तह सीयफासं।
उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा, सुब्भिं च दुब्भिं च तितिक्खएज्जा १४

छाया-अरतिं रतिश्चाभिभूय भिक्षु स्तृणादिस्पर्शं तथा शीतस्पर्शम्।
उष्णञ्च दंशञ्चाधिसहेत, सुरभिञ्चा सुरभिञ्च तितिक्षयेत् ॥

अन्वयार्थ-(भिक्खू) साधु (अरइं रइं च अभिभूय) संयममें अरति अर्थात् खेद तथा असंयममें रति अर्थात् रागको त्यागकर (तणाइ फासं तह सीयफासं उण्हं च दंसं च हियासएज्जा) तृण आदिका स्पर्श तथा शीत उष्ण और दंश मशकके स्पर्शको सहन करे (सुब्भिं च दुब्भिं च तितिक्खएज्जा) तथा सुगन्ध और दुर्गन्धकोभी सहे।

भावार्थ-साधु संयम मे खेद और असंयममे प्रेमको त्यागकर तृण आदि तथा शीत उष्ण दंश मशक और सुगन्ध तथा दुर्गन्धको सहन करे।

विषयानन्नाश्रयन् कथं भावसमाधिमाप्नुयादित्याह-स भावभिक्षुः परमार्थदर्शी शरीरादौ निःस्पृहो मोक्षगमनैकप्रवणश्च या संयमेऽरतिरसंयमे च रतिर्वा तामभिभूय मतदधिसहेत, तद्यथा निष्किञ्चनतया तृणादिकान् स्पर्शानादिभक्षणानिम्नोन्नतभूप्रदेशस्पर्शांश्च सम्यगधिसहेत, तथा शीतोष्णदंशमशकक्षुत्पिपासादिकान् परीषहानक्षोभ्यतया निर्जरार्थम् 'अध्यासयेद्' अधिसहेत तथा गन्ध

सुरभिमितरं च सम्यक् 'तितिक्षयेत्' सह्यात्, चशब्दादाक्रोशवधादिकांश्च परिषहान्मुमुक्षुस्तितिक्षयेदिति ॥१४॥

नहीं है तथा सुगन्ध और दुर्गन्धको सहता है तथा च शब्दसे आक्रोश और वध आदि दुःखोंको सहता है वही पुरुष वस्तुत मुक्तिकी इच्छा करनेवाला है । १४

गुत्तो वईए य ाहिपत्तो, ले ं ाह परिवएज्जा ।
गिहं ाए णवि ा ए ा, संमि स भावं पयहे पयासु ॥१५॥

छाया—गुप्तो वाचा च समाधिं प्राप्तो, लेश्यां समाहृत्य परिव्रजेत् ।
गृहं न छादयेन्नाऽपि छादये त्संमिश्रभावं प्रजह्यात्प्रजासु ॥

अन्वयार्थ—(वईएयगुत्ते समाहिपत्ते) जो साधु वचनसे गुप्त रहता है वह भावसमाधिको प्राप्त है । (लेस समाहटु परिव्वएज्जा) साधु शुद्ध लेश्याको ग्रहण करके सयम पालन करे । (गिह न छाए णवि छायएज्जा) घर स्वय न छावे और दूसरे से भी न छवावे । (पयासु समिस्सभाव पयहे) और स्त्रियोंके साथ मिश्रण न करे ।

भावार्थ—जो साधु वचनसे गुप्त है वह भावसमाधिको प्राप्त है । साधु शुद्ध लेश्याको ग्रहण करके संयमका अनुष्ठान करे तथा वह स्वय घर न छावे और दूसरेसे भी न छवावे तथा स्त्रियोके साथ संसर्ग न करे ।

किञ्चान्यत्—वाचि वाचा वा ुगो वाग्गुप्तो—मौनव्रती सुपर्यालोचितधर्मसम्बन्धभाषी वेत्येवं भावसमाधिं प्राप्तो भवति, तथा शुद्धां 'लेश्यां' तजस्यादिकां 'समाहृत्य' उपादाय अशुद्धां च कृष्णादिकामपहृत्य परि—समन्तात्संयमानुष्ठाने 'व्रजेत्' गच्छेदिति, किञ्चान्यत्—गृहम्—आवसथं स्वतोऽन्येन वा न छादयेदुपलक्षणार्थत्वादस्यापरमपि गृहादेरुरगवत्परकृतबिलनिवासित्वात्संस्कारं न कुर्यात्, अन्यदपि गृहस्थकर्तव्यं परिजिहीर्षुराह—प्रजायन्त इति प्रजास्तासु—तद्विषये येन कृतेन सम्मिश्रभावो भवति तत्प्रजह्यात्, एतदुक्तं भवति—प्रव्रजितोऽपि सन् पचन-

टीकार्थ—जो साधु वचनसे गुप्त रहता है अर्थात् मौनव्रत करता है अथवा विचार कर धर्मसम्बन्धी बात कहता है वह भावसमाधिको प्राप्त है । एवं साधु तैजस आदि शुद्ध लेश्याओंको स्वीकार करके और कृष्णादिक अशुद्ध लेश्याओंको त्यागकर संयमके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति करे । साधु स्वयं घर न छावे तथा दूसरे सेभी न छवावे । यह उपलक्षणमात्र कहा गया है इस लिये साधु गृहसम्बन्धी दूसरा कार्य्यभी न करे । जैसे सर्प अपनेलिये बिल नहीं बनाता है किन्तु दूसरेके बनाए हुए बिलमें निवास करता है इसीतरह दूसरेसे बनाये हुए मकानमें निवास करनेवाला साधु गृहका संस्कार न करे । एवं शास्त्रकार दूसरे गृहस्थोके कार्य्योका निषेध करनेके लिये कहते हैं—जो बार बार जन्म धारण करते हैं उन्हें प्रजा कहते

पाचनादिकां क्रियां कुर्वन् कारयञ्च गृहस्थैः सम्मिश्र ' भजते, यदिवा- ः स्त्रियस्तासु ताभिर्वा यः सम्मिश्रीभावस्तमवि संयमार्थी 'प्रजह्यात्' परित्यजे दिति ॥१५॥

है उनके साथ जिस कार्य्यसे मिश्रभाव हो वह कार्य्य साधु न करे। कहनेका आशय यह कि—दीक्षा लेकर रसोई पकाने अथवा दूसरेसे पकवाने आदि क्रिया करनेसे गृहस्थके सा मिश्रभाव हो जाता है अथवा स्त्रियोंको प्रजा कहते है उनके साथ मिलाप करना सम्पूर्णसंयमा पुरुष सर्वथा त्याग करे। १५

जे केइ लोगंमि उ अकिरियआया, न्नेण पुट्ठा धुयमादि ंति आरंभसत्ता गढिता लोए, धम्मं ा ंति विमुक्खहेउं ॥१६॥

छाया—ये केऽपि लोकेत्वक्रियात्मानोऽन्येन पृष्टाः धुतमादिशन्ति ।
आरम्भसक्ताः गृद्धाश्च लोके, धर्मं न जानन्ति विमोक्षहेतुम् ॥

अन्वयार्थ—(लोगमिउ जेकेइ अकिरियआया) इस लोकमें जो लोग आत्माको क्रियारहि मानते हैं (अन्नेन पुट्ठा धुयमादिसति) और दूसरेके पूछनेपर मोक्षका आदेश करते हैं (आरभसत्त लोके गढिता) वे आरम्भमें आसक्त और विषयभोगमें मूर्च्छित हैं। (विमोक्खहेउ धम्मं ण जाणति) वे मोक्षके कारणरूप धर्मको नहीं जानते हैं।

भावार्थ—इस लोकमें जो आत्माको क्रियारहित मानते है और दूसरेके पूछनेपर मोक्ष आदेश करते हैं वे आरम्भमे आसक्त और विषयभोगमें मूर्च्छित हैं वे मोक्षके कारण धर्म नहीं जानते हैं।

अपिच—ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा येषामभ्युपगमे तेऽक्रिया त्मानः—साङ्ख्याः, तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा निष्क्रियः पठ्यते, तथा चोक्तम्- "अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शने" इति, तुशब्दो विशेषणे, स चैत द्विशिनष्टि—अमूर्तत्वव्यापित्वाभ्यामात्मनोऽक्रियत्वमेव ... ते चाक्रियात्मवादिनोऽ

ऽक्रियावाददर्शनेऽपि 'धूतं' मोक्षं तदभावम् (च) 'आदिशन्ति' प्रतिपादयन्ति, ते तु पचनपाचनादिके स्नानार्थं हनरूपे वा 'आरम्भे' धे ' ' अध्युपपन्ना गृद्धास्तु लोके मोक्षैकहेतुभूतं 'धर्मं' श्रु रित्राख्यं 'न जानन्ति' कुमार्गग्राहिणो न सम्यगवगच्छन्तीति ॥१६॥ किञ्चान्यत्—

प्रकार किसीके पूछने पर वे अपने अक्रियावाद सिद्धान्तमें भी बन्ध और मोक्षका अस्तित्व बताते हैं। वे सांख्यवादी साधु स्वयं रसोई पकाते है तथा दूसरे से भी पकवाते हैं एवं स्नानके लिये नदी आदिमें अवगाहन करते है। इसप्रकार सावद्य कार्य्यमें प्रवृत्त वे सांख्यवादी मोक्षके सत्य कारण श्रुत और चारित्र धर्मको नहीं जानते हैं किन्तु कुमार्गको ग्रहण करनेवाले वे धर्मके तत्वको अच्छी तरह नहीं जानते है। १६

पुढो ंदा इह णवा उ, किरियाकिरीयं च पुढो वायं।
जाय बालस्स प देहं, पवड्ढती वेर संजतस्स ॥१७॥

छाया—पृथक् छन्दा इह मानवास्तु, क्रियाऽक्रियं पृथग्वादम्।
जातस्य बालस्य प्रकृत्य देहं, प्रवर्धते वैरमसंयतस्य।

अन्वयार्थ—(इह माणवा उ पुढो छदा) इसलोकमें मनुष्योंकी भिन्न भिन्न रुचि होती है (किरियाकिरिय पुढो वाद) इसलिये कोई क्रियावाद और कोई अक्रियावादको मानते हैं (जातस्स बालस्स देह पकुव्व) वे जन्मे हुए बालकके शरीरको काटकर अपना सुख उत्पन्न करते हैं। (असजतस्स वेर पवड्ढती) असयत पुरुषका वैर वढता है।

भावार्थ—मनुष्योकी रुचि भिन्न भिन्न होती है इसकारण कोई क्रियावाद और कोई अक्रियावादको मानते हैं तथा कोई जन्मे हुए बालककी देह काटकर अपना सुख उत्पन्न करते हैं वस्तुत असंयमी पुरुषका प्राणियोके साथ वैर वढता है।

पृथक् नाना छन्दः—अभिप्रायो येषां ते 'पृथक्छन्दा 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके ' वा' मनुष्याः, तुरवधारणे, तमेव नानाभिप्रायमाह—क्रि ऽक्रिययोः पृथक्त्वेन क्रियावादमक्रियावादं च समाश्रिताः, तद्यथा—"क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्। यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥१॥" इत्येवं क्रि ैव -

---

टीकार्थ—इस मनुष्य लोकमे मनुष्योकी रुचि भिन्न भिन्न होती है। तु शब्द अवधारणार्थक है। वही भिन्न भिन्न रुचि शास्त्रकार बताते हैं—क्रिया और अक्रिया में भिन्नता होनेके कारण कोई क्रियावादको और कोई अक्रियावादको मानते हैं। क्रियावादी कहते हैं कि—पुरुषको क्रियाही फल देती है ज्ञान नहीं क्योकि स्त्री और खानेकी चीज तथा भोगकी वस्तुओको जाननेवाला पुरुष ज्ञान मात्र से सुखी नहीं होता है। इसप्रकार क्रियावादी क्रियाकोही फलदायी मानकर क्रियावादका आश्रय लेते हैं। इससे विपरीत अक्रियावादी ज्ञानका समर्थन करते हुए क्रियाको निष्फल

दायित्वेनाभ्युपगता, क्रियावादमाश्रिताः, एवमेतद्विपर्ययेणाक्रियावादमाश्रिताः, एतयोश्चोत्तरत्र स्वरूपं न्यक्षेण वक्ष्यते, ते च नानाभिप्राया मानवाः क्रियाक्रियादिकं पृथग्वादमाश्रिता मोक्षहेतुं धर्ममजानाना आरम्भेषु सक्ता इन्द्रियवशगा रससातागौरवाभिलाषिण एतत्कुर्वन्ति, तद्यथा-'जातस्य' उत्पन्नस्य 'वालस्य' अज्ञस्य सदसद्विवेकविकलस्य सुखैषिणो 'देहं' शरीर 'पकुव्व'त्ति खण्डशः कृत्वाऽऽत्मनः सुखमुत्पादयन्ति, तदेवं परोपघातक्रियां कुर्वतोऽसंयतस्य कुतोऽप्यनिवृत्तस्य जन्मान्तरशतानुवन्धि वैरं परस्परोपमर्दकारि प्रकर्षेण वर्धते, पाठान्तरं वा-जायाए वालस्स पगव्भणाए-'वालस्य' अज्ञस्य हिंसादिषु कर्मसु प्रवृत्तस्य निरनुकम्पस्य या जाता 'प्रगल्भता' धाष्टर्यं तया वैरमेव प्रवर्धत इति सम्बन्धः ॥१७॥

वताते हैं । इनका स्वरूप आगे चल कर वताया जायगा । कहनेका आशय यह है कि नाना प्रकारकी रुचिवाले मनुष्य अपनी अपनी रुचिके अनुसार कोई क्रियावाद और कोई अक्रियावाद का आश्रय लेकर मोक्षका कारण धर्मको नहीं जानते हैं वे आरम्भमें आसक्त तथा इन्द्रियवशीभूत होकर सुख और मान वडाईकी इच्छा करते हुए यह कार्य्य करते हैं—वे सुखकी इच्छासे भले और बुरेके विवेकसे रहित अज्ञानी तथा तुरत जन्मेहुए और सुखकी इच्छा करनेवाले बालककी देहको खण्डशः काटकर आनन्द मानते हैं । इसप्रकार दूसरेको पीडा देनेवाली क्रिया करनेवाला और किसीभी पापसे नहा हटा हुआ असंयति जीव सैकडो जन्मतक चलनेवाला परस्परके घातका कारण प्राणियोके साथ वैर वढाता है । यहा "जायाए वालस्स पगव्भणाए" यह पाठान्तर पाया जाता है इसका अर्थ यह है कि—दयारहित तथा हिंसादि कार्य्यमे प्रवृत्त अज्ञानी जीवकी जो हिंसावादमें धृष्टता है उससे उसका प्राणियोके साथ वैरही वढता है । १७

आउक्खयं चेव अवुज्झमाणे, म ाति से साहसकारि मंदे ।
अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्टेसु मूढे अजरामरेव ॥१८॥

छाया—आयुःक्षयं चैवावुध्यमानः, ममत्ववान् स साहसकारिमन्दः ।

अपिच-आयुषो-जीवनलक्षणस्य क्षय आयुष्कक्षयस्तमारम्भप्रवृत्तः छिन्नह्रद-मत्स्यवदुदकक्षये सति अबुध्यमानोऽतीव 'ममाइ'त्ति ममत्ववान् इदं मे अहमस्य स्वामीत्येवं स 'मन्दः' अज्ञः साहसं कर्तुं शीलमस्येति साहसकारीति, तद्यथा-कश्चिद्वणिग् महता क्लेशेन महार्घाणि रत्नानि समासाद्योज्जयिन्या बहिरावासि :, स च राजचौरदायादभयाद्रात्रौ रत्नान्येवमेवं च प्रवेशयिष्यामीत्येवं पर्यालोचनाकुलो रजनीक्षयं न ज्ञातवान्, अह्न्येव रत्नानि प्रवेशयन् राजपुरुषै रत्नेभ्यश्च्यावित इति, एवमन्योऽपि किंकर्तव्यताकुलः स्वायुषः क्षयमबुध्यमानः परिग्रहेष्वारम्भेषु च प्रवर्तमान साहसकारी स्यादिति, तथा कामभोगतृषितोऽह्नि रात्रौ च परि-समन्तात् द्रव्यार्थी परितप्यमानो मम्मणवणिग्वदार्तध्यायी कायेनापि क्लिश्यते, तथा चोक्तम्-"अजरामरवद्बालः, क्लिश्यते धनकाम्यया । शाश्वतं जीवितं चैव, मन्यमानो धनानि च ॥१॥" तदेवमार्तध्यानोपहतः [1]"कइया वच्चइ सत्थो ? किं भंडं कत्थ कित्तिया भूमी'त्यादि, तथा [2]"उक्खणइ खणइ णिहणइ रत्तिं न सुयइ

टीकार्थ—आरम्भमें आसक्त जीव अपनी आयुका क्षय होना नहा जानता है जैसे तालावका बॉध टूट जानेपर उससे निकलते हुए पानीको मछली नहीं जानती है । वह मूर्ख जीव, यह वस्तु मेरी है और मैं इसका स्वामी हूं इसप्रकार वस्तुओंपर ममता करता हुआ साहसका कार्य्य करता है । इस विषयमें एक वानियेका दृष्टान्त देते हैं—एक वनिया बहुत परिश्रम करके रत्न कमाकर उज्जयिनी पुरीके वाहर ठहरकर रातभर यह सोचता रहा कि—"मेरे धनको राजा, चोर तथा भाई आदि न लेले इसलिये धनको इसप्रकार रक्षित करके रखूं" ऐसी चिन्ता करते करते सारी रात वीत गई परन्तु उसने रातका वीतना नहीं जाना पश्चात् वह दिनमें ही अपने धनको किसी गुप्त स्थानमें रखता हुआ राजपुरुषोंसे पकड़ लिया गया और सव धन राजपुरुषोंने ले लिये । इस वनियेने जैसे चिन्ता मे पडकर रातका वीतना नहीं जानाथा इसीतरह प्राणिवर्ग धनकी चिन्तामे पडकर अपनी आयुका क्षय होना नहीं जानते हैं और परिग्रह तथा आरम्भमे आसक्त होकर साहसका कार्य्य (पाप) करते हैं । वे मम्मण वनियेकी तरह कामभोगके प्यासे होकर दिन रात द्रव्यके लिये तप्त होते हुए आर्त्तध्यान करके शरीर को भी क्लेश देते हैं । अतएव कहा है कि—अज्ञानी जीव अजर और अमरकी तरह धनकी कामना से क्लेश भोगता है, वह अपने जीवन तथा धनको शाश्वत (सदा रहनेवाला) मानता है । इस प्रकार आर्तध्यान करता हुआ वह पुरुष चिन्ता करता है कि—यह व्यापारियोका सार्थ कव निकलेगा इसमे कौन माल भरा है तथा कितना दूर जाना है । एव वह कभी अपने धनकी रक्षा करनेके लिये पहाड आदि ऊंचे स्थानो खनता है कभी जमीन खोदता है, वह रातमे सुखसे नहीं सोता है तथा दिनमें भी

१ कदा व्रजति सार्थः किं भाण्डं क्व च कियती भूमिः ।

२ उत्खनति खनति निहन्ति रात्रौ न स्वपिति दिवापि च सशङ्कः ॥१॥

दियावि य ससंको'इत्यादिचित्तसंक्लेशात्सुष्ठु मूढोऽजरा वणिग्वदजरामरवदा-त्मानं मन्यमानोऽपगतशुभाध्यवसायोऽहर्निशमारम्भे तंत इति ॥१८॥

शङ्कित रहता है। इसप्रकार चित्तकी पीडासे मूर्ख बना हुआ वह पुरुष अजरामर बनियेकी तरह अथवा अपनेको अजर अमर मानता हुआ शुभ विचारसे रहित होकर दिन रात आरम्भमें पडा रहता है। १८

जहाहि वित्तं पसवो य वं, जे बंधवा जे पिया य मित्ता।
लालप्पती सेऽवि य एइ मोहं, जणा तंसि हरंति वित्तं॥१९॥

छाया—जहाहि वित्तञ्च पशूंश्च सर्वान्, ये वान्धवा ये च प्रियाश्च मित्राणि।
लालप्यते सोऽपि चैति मोहमन्ये जनास्तस्य हरन्ति वित्तम् ॥

अन्वयार्थ—(वित्त सव्व पसवो य जहाहि) धन तथा सब पशु आदिको छोडो। (जे बान्धवा जे य पिया य मित्ता) तथा जो वान्धव और प्रिय मित्र हैं वे वस्तुत कुछभी उपकार नहीं करते हैं (सेऽविय लालप्पती मोह य एति) तथापि मनुष्य इनके लिये रोता है और मोहको प्राप्त होता है। (अने जणा तसि वित्त हरति) उसके मरनेपर दूसरे लोग उसका धन हर लेते हैं।

भावार्थ—धन और पशु आदि सब पदार्थोंको छोडो। बान्धव तथा प्रियमित्र कुछभी उपकार नहीं करते तथापि मनुष्य इनके लिये रोता है और मोहको प्राप्त होता है। जब वह प्राणी मर-जाता है तब दूसरेलोग उसका कमाया हुआ धन हर लेते हैं।

किञ्चान्यत्-'वित्तं' द्रव्यजातं तथा 'पशवो' गोमहिष्यादयस्तान् सर्वान् 'जहाहि' परित्यज-तेषु ममत्वं मा कृथाः, ये 'बान्धवा' मातापित्रादय श्वसुरादयश्च पूर्वापरसंस्तुता ये च प्रिया 'मित्राणि' सहपांसुक्रीडितादयस्ते एते मातापित्रादयो न किञ्चित्तस्य परमार्थत' कुर्वन्ति, सोऽपि च वित्तपशुबान्धवमित्रार्थी अत्यर्थं पुनः पुनर्वा लपति लालप्यते, तद्यथा-हे मातः! हे पितरित्येवं तदर्थं शोकाकुलः प्रलपति, तदर्जनपरश्च मोहमुपैति, रूपवानपि कण्डरीकवत् धनवानपि मम्मणव-

तेन महता क्लेशेनापरप्राण्युपमर्देनोपार्जितं वित्तं तदन्ये जनाः 'से' तस्यापहरन्ति जीवत एव मृतस्य वा, तस्य च क्लेश एव केवलं पापबन्धश्चेत्येवं मत्वा पापानि कर्माणि परित्यजेत्तपश्चरेदिति ॥१९॥

होता है उसने प्राणियोकी हिंसा तथा वहुत कष्ट करके जो धन कमाया है उसे उसके जीतेही अथवा मरजानेपर दूसरेलोग हर लेते है केवल उसको दु ख ही हाथ आता है और कर्मबन्ध होता है, यह जानकर मनुष्यको पापकर्म छोड देना चाहिये और तप करना चाहिये । १९

सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता, दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥२०॥

छाया–सिंहं यथा क्षुद्रमृगाश्चरन्तो दूरे चरन्ति परिशङ्कमानाः ।
एवं तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं दूरेण पापं परिवर्जयेत् ॥

अन्वयार्थ–(चरता खुड्डमिगा सिंह परिसंकमाणा) विचरते हुए छोटे मृग जैसे सिंहकी शङ्कासे (दूरे चरंती (दूरही विचरते हैं (एव तु मेहावि धम्म समिक्ख) इसीतरह बुद्धिमान् पुरुष धर्मको विचार कर (पाव दूरेण परिवज्जएज्जा) पापको दूरसेही वर्जित करे ।

भावार्थ–जैसे पृथिवी पर विचरते हुए छोटे मृग मरणकी शंकासे सिंहको दूरही छोडकर विचरते है इसीतरह बुद्धिमान् पुरुष धर्मको विचारकर पापको दूर ही छोड देवे ।

तपश्चरणोपायमधिकृत्याह–यथा 'क्षुद्रमृगा' क्षुद्राटव्यपशवो हरिणजात्याद्याः 'चरन्तः' अटव्यामटन्तः सर्वतो बिभ्यतः परिशङ्कमानाः सिंहं व्याघ्रं वा आत्मोपद्रवकारिणं दूरेण परिहृत्य 'चरन्ति' 'विहरन्ति, एवं 'मेधावी' मर्यादावान्, तुर्विशेषणे, सुतरां धर्मं 'समीक्ष्य' पर्यालोच्य 'पापं' कर्म असदनुष्ठानं दूरेण मनोवाक्कायकर्मभिः परिहृत्य परि–समन्ताद्व्रजेत् संयमानुष्ठायी तपश्चारी च भवेदिति, दूरेण वा पापं–पापहेतुत्वात्सावद्यानुष्ठानं सिंहमिव मृगः स्वहितमिच्छन् परिवर्जयेत्–परित्यजेदिति ॥२०॥ अपिच

टीकार्थ–अब शास्त्रकार तपका उपायके विषयमें कहते है–जैसे हरिण आदि छोटे छोटे जङ्गली पशु पृथिवी पर विचरते हुए चारो तर्फसे डरकर अपना घात करनेवाले सिंहको दूरही छोड़कर विचरते है इसीतरह मर्य्यादामें स्थित बुद्धिमान् मुनि धर्मको विचार कर मन वचन और कायसे पापको दूरही छोड़कर संयम पालन और तप करे अथवा जैसे अपना कल्याण चाहनेवाला मृग, सिंहको दूरही छोड देता है इसीतरह कल्याणार्थी पुरुष पापके कारणरूप सावद्य अनुष्ठानको दूरही त्याग देवे । २०

संबुज्झ ाणे उ णरे मतीमं, पावाउ अप्पाण निव एज्जा ।
हिसप्पसूयाइं दुहाइं ा, वेराणुबंधीणि हब्भयाणि ॥२१॥

छाया-संबुध्यमानस्तु नरो मतिमान्, पापात्त्वात्मानं निवर्तयेत् ।
हिसाप्रसूतानि दुःखानि मत्त्वा वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥

अन्वयार्थ-(सबुज्झमाणे मतीम णरे) धर्मको समझनेवाला बुद्धिमान् पुरुष (पावा उ अप्पाण णिवट्टएज्जा) पापकर्मसे अपनेको निवृत्त करे। (हिंसप्पसूयाइ) हिंसासे उत्पन्न कर्म (वेराणुवधीणि) वैर उत्पन्न करते हैं (महब्भयाइ) वे महाभय उत्पन्न करते है (दुहाइ) तथा दु ख देते है (मत्ता) यह मानकर हिंसा न करे ।

भावार्थ—धर्मके तत्त्वको समझनेवाला पुरुष पापसे अलग रहे । हिंसासे उत्पन्न कर्म वैर उपन्न करनेवाले महाभयदायी तथा दु ख उत्पन्न करते है यह जानकर हिंसा न करे ।

मननं मतिः सा शोभना यस्यास्त्यसौ मतिमान्, प्रशंसायां मतुप्, तदेवं शोभनमतियुक्तो मुमुक्षुर्नरः सम्यक्श्रुतचारित्राख्यं धर्मं भावसमाधिं वा 'बुध्यमानस्तु' विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वाणस्तु पूर्वं तावन्निषिद्धाचरणान्निवर्तेत अतस्तत् दर्शयति-'पापात्' हिंसानृतादिरूपात्कर्मण आत्मानं निवर्तयेत्, निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवतीत्यतोऽशेषकर्मक्षयमिच्छन्नादावेव आश्रवद्वाराणि निरुन्ध्यादित्यभिप्रायः, किं चान्यत्-हिंसा-प्राणिव्यपरोपणं तया ततो वा प्रसूतानि-जातानि यान्यशुभानि कर्माणि तान्यत्यन्तं नरकादिषु यातनास्थानेषु दुःखानि-दुःखोत्पादकानि वर्तन्ते, तथा वैरमनुबध्नन्ति तच्छीलानि च वैरानुबन्धीनि-जन्मशतसहस्रदुर्मोचानि, अत एव महद्भयं येभ्य. सकाशात्तानि महाभयानीति, एवं च मत्वा मतिमानात्मानं पापान्निवर्तयेदिति. [illegible]

अस्यायमर्थः-यथा हि निर्वृतो निर्व्यापारत्वात्कस्यचिदुपघाते न वर्तते ' धु-रपि सावद्यानुष्ठानरहितः परि-ममन्ताद् व्रजेदिति ॥२१॥

पाठान्तर मिलता है। इसका अर्थ यह है कि जैसे लडाईसे लौटा हुआ पुरुष व्यापाररहित होकर किसीकी हिंसा नही करता है इसीतरह सावद्य अनुष्ठानसे रहित पुरुष किसीका घात न करे किन्तु संयमका पालन करे। २१

मु ' बूया णि अत्त ामी, णि ाणमेयं सिणं ाहिं।
यं ज्जा ारवेज्जा, रं न्नंपि ाणुजाणे ॥२२॥

छाया-मृषा न ब्रूयान्मुनिराप्तगामी, निर्वाणमेतत्कृत्स्नं समाधिम्।
स्वयं न कुर्य्यान्न च कारये त्कुर्वन्तमन्यमपि च नानुजानीयात्॥

अन्वयार्थ-(अत्तगामी मुणि मुस न बूया) सर्वज्ञोक्त मार्गसे चलनेवाला मुनि, झूठ न बोले। (एय निव्वाण कसिण समाहिं) यह झूठ बोलनेका त्याग, सम्पूर्ण भावसमाधि और मोक्ष कहा गया है। (सय न कुज्जा न य कारवेज्जा) साधु झूठ बोलना तथा दूसरे व्रतोंके अतिचारको स्वय न सेवन करे और दूसरेसे सेवन न करावे (करतमन्नपिय णाणुजाणे) तथा दोष सेवन करते हुए दूसरेको अच्छा नहीं जाने।

भावार्थ-सर्वज्ञोक्त मार्गसे चलनेवाला मुनि झूठ न बोले। झूठ बोलनेका त्याग सम्पूर्ण भावसमाधि और मोक्ष कहा गया है। इसीतरह साधु दूसरे व्रतोमें भी दोष न लगावे और दूसरे के द्वाराभी दोष लगानेकी प्रेरणा न करे एवं दोष लगाते हुए पुरुषको अच्छा न जाने।

तथा आप्तो-मोक्षमार्गस्तद्गामी-तद्गमनशील आत्महितगामी वा आप्तो वा प्रक्षीणदोषः सर्वज्ञस्तदुपदिष्टमार्गगामी 'मुनिः' साधुः 'मृषावादम्' अनृतमयथार्थं न ब्रूयात् सत्यमपि प्राण्युपघातकमिति, 'एतदेव' मृषावादवर्जनं 'कृत्स्नं' पूर्णं भावसमाधिं निर्वाणं चाहुः, सांसारिका हि समाधयः स्नानभोजनादिजनिताः शब्दादिविषयसंपादिता वा अनैकान्तिकानात्यन्तिकत्वेन दुःखप्रतीकाररूपत्वेन वा असपूर्णा

टीकार्थ-मोक्षमार्गको आप्त कहते है उसमे जानेवाले पुरुषको आप्तगामी कहते है अथवा अपना हित करनेवाले पुरुषको आप्तगामी कहते है अथवा जिसके रागादि दोष नष्ट हो गये है उसे आप्त कहते है वह सर्वज्ञ है उसके उपदेश किये हुए मार्गसे चलने वाले पुरुषको आप्त-गामी कहते है, इसप्रकार वह आप्तगामी मुनि झूठ यानी अयथार्थ न बोले और जिस सत्य वचन से प्राणियोका घात होना सम्भव है वहभी न बोले। यह झूठ बोलनेका त्यागही सम्पूर्ण भाव-समाधि और मोक्ष है यह विद्वान् कहते है। स्नान और भोजन आदि करनेसे तथा शब्दादि विषयोके सेवन करनेसे जो सांसारिक समाधि उत्पन्न होती है वह निश्चित तथा आत्यन्तिक नहीं है किन्तु दुःखके प्रतिकाररूप होनेके कारण असम्पूर्ण है। अतः साधु झूठ बोलना अथवा दूसरे

वर्तन्ते । तदेवं मृषावादमन्येषां वा व्रतानामतिचारं स्वयमात्मना न कुर्यान्नाप्यपरेण कारयेत्तथा कुर्वन्तमप्यपरं मनोवाक्कायकर्मभिर्नानुमन्येत इति ॥२२॥

व्रतोंके अतिचारको स्वयं सेवन न करे और दूसरेसे भी न सेवन करावे तथा सेवन करते हुए को मन, वचन, शरीर और कर्मसे अनुमोदन न करे । २२

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिए ण अज्झोववन्ने ।
धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा ॥२३॥

छाया—शुद्धे स्याज्जाते न दूषयेत्, अमूर्च्छितो न चाध्युपपन्नः ।
धृतिमान् विमुक्तो न च श्लोकगामी च परिव्रजेत् ॥

अन्वयार्थ-(सिया सुद्धे जाए न दूसएज्जा) उद्गमादि दोषरहित शुद्ध आहार मिलनेपर साधु राग द्वेष करके चारित्रको न दूपित करे । (अमूर्च्छिए णय अज्झोववन्ने) तथा उस आहारमें मूर्च्छित और वार वार उसका अभिलापी न बने । (धितिम विमुक्के) साधु धीरतावान् और परिग्रहसे मुक्त बने (णय पूयणट्ठी न सिलोयगामी) साधु अपनी पूजा प्रतिष्ठा और कीर्तिकी कामना न करे । (परिव्वएज्जा) इसप्रकार वह शुद्ध संयमका पालन करे ।

पौनःपुन्येनानभिलपमाण केवलं संयमयात्रापालनार्थमाहारमाहारयेत्, प्रायो विदितवेद्यस्यापि विशिष्टाहारसन्निधावभिलाषातिरेको जायत इत्यतोऽमूर्छितोऽनध्युपपन्न इति च प्रतिपेधद्वयमुक्तम्, उक्त च-[1]"भुत्तभोगो पुरा जोऽवि, गीयत्थोऽवि य भाविओ। संतेसाहारमाईसु, सोऽवि खिप्पं तु खुब्भइ ॥१॥" तथा संयमे धृतिर्यस्यासौ धृतिमान्, तथा सबाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन विमुक्तः, तथा पूजनं वस्त्रपात्रादिना तेनार्थः पूजनार्थः स विद्यते यस्यासौ पूजनार्थी तदेवंभूतो न भवेत्, तथा श्लोकः-श्लाघा कीर्तिस्तद्गामी न तदभिलापुकः परिव्रजेदिति, कीर्त्यर्थी न काञ्चन क्रियां कुर्यादित्यर्थः ॥२३॥

आहार मिलनेपर उसमें थोडाभी राग न करता हुआ भोजन करे तथा वार वार वही आहार पानेकी इच्छा न करे किन्तु केवल संयमका निर्वाहमात्रके लिये आहार खावे। अच्छा आहार मिलने पर प्राय. ज्ञानी पुरुषकाभी विशिष्ट अभिलाष हो जाता है इसलिये शास्त्रकारने "साधु मूर्च्छा न करे और वारवार उस आहारकी प्राप्तिकी इच्छा न करे" यह कह कर दोवार प्रतिपेध किया है। अतएव कहा है कि-"भुत्तभोगो" अर्थात् जिसने पहले अनेकों वार भोग भोग लिया है तथा शास्त्र पढकर गीतार्थ हो गया है एवं जो सदा आत्मभावनामें प्रवृत्त रहता है वह पुरुषभी उत्तम आहार प्राप्त होनेपर शीघ्र उसकी आकाङ्क्षा करने लगता है। एवं साधु संयम पालनेमें धृतिमान् यानी धैर्य्य रखे तथा वह बाह्य और अभ्यन्तर ग्रन्थ यानी परिग्रहसे मुक्त रहे एवं वह वस्त्र पात्र आदिके द्वारा अपनी पूजाका इच्छुक न वने एवं वह अपनी कीर्तिका अभिलाषी भी न बने अर्थात् वह कीर्तिके लिये कोई क्रिया न करे। २३

निक्खम्म गेहा उ निरावकंखी, कायं विउसेज्ज नियाणछिन्ने।
णो जीवियं णो मरणाभिकंखी, चरे भिक्खू वलया विमुक्के॥
॥२४॥ त्तिबेमि ॥

छाया-निष्क्रम्य गेहात्तु निरवकांक्षी, कायं व्युत्सृजेच्छिन्ननिदानः।
नो जीवितं नो मरणमवकांक्षी, चरेद्भिक्षुर्वलयाद् विमुक्तः।

अन्वयार्थ-(गेहा उ निक्खम्म) साधु घरसे निकल कर यानी प्रव्रज्या धारण करके। (निरावकखी) अपने जीवनमें निरपेक्ष होजाय (काय विउसेज्ज) तथा शरीरका व्युत्सर्ग करे (नियाणच्छिन्ने) तथा वह अपने तपके फलकी कामना न करे (वलया विमुक्के) एव ससारसे

---

१ भुक्तभोग पुरा योपि गीतार्थोऽपि च भावित सत्स्वाहारादिषु सोऽपि क्षिप्रमेव क्षुभ्यति ॥१॥

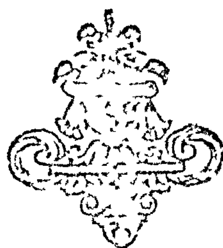
मुल होकर (नो जीवियं नो मरणावकखी चरेज्ज) वह जीवन और मरणकी इच्छा न र हुआ विचरे)

भावार्थ—प्रव्रज्या धारण किया हुआ पुरुष अपने जीवनसे निरपेक्ष होकर कायका व्युत्सर्ग करे एवं वह अपने तपके फलकीभी इच्छा न करे इसप्रकार जीवन और मरणकी इच्छा छोड़कर ससारी संकटोसे अलग रहता हुआ साधु विचरे।

अध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह—गेहान्निःसृत्य 'निष्क्रम्य च' प्रव्रजितोऽपि भूत्वा जीवितेऽपि निराकाङ्क्षी 'कायं' शरीरं व्युत्सृज्य निष्प्रतिकर्मतया चिकित्सादिक-मकुर्वन् छिन्ननिदानो भवेत्, तथा न जीवितं नापि मर भिकाङ्क्षेत् 'भिक्षुः' साधुः 'वलयात्' संसारवलयात्कर्मबन्धाद्वा विप्रमुक्तः संयमानुष्ठानं चरेत्, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२४॥

॥ इति समाध्याख्यं दशममध्ययनं समाप्तं ॥

टीकार्थ—अब शास्त्रकार इस अध्ययनमे कही हुई बातको समाप्त करते हुए कहते है—घरसे निकलकर साधु बनकर पुरुष जीवनमें आकांक्षा न करे तथा शरीरका मोह छोड़कर उसका शोधन और दवा आदि न करता हुआ निदानका छेदन करे। इसीतरह साधु जीवन और मरणकी इच्छा न करे। एव वलय अर्थात् ससारवलय अथवा कर्मबन्धनसे मुक्त होकर संयमका अनुष्ठान करे। इति समाप्त्यर्थकहै ब्रवीमि पूर्ववत् है। यह समाधिनामक दशम अध्ययन समाप्त हुआ।



अथ ए दशं ीमार्गाध्ययनं रभ्यते ।

उक्तं दशममध्ययनं, तदनन्तरमेकादशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तराध्ययने समाधिः प्रतिपादित, स च ज्ञानदर्शनतपश्चारित्ररूपो वर्तते, भावमार्गोऽप्येवमात्मक एवेत्यतो मार्गोऽनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते इत्यनेन संबन्धे-नायातस्यास्याध्ययनस्यचत्वार्युपक्रमादीन्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि, तत्राप्युप न्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽय, तद्यथा-प्रशस्तो ज्ञानादिको भावमार्गस्तदाचरणं च भिधेयमिति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे मार्ग इत्यस्याः स्य नाम, तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

णामं ठवणा दविए खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो खलु मग्गस्स य णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥१०७॥

फलगलयंदोलणवित्तरज्जुदवणविलपासमग्गे य ।
खीलगअयपक्खिपहे छत्तजलाकासदव्वंमि ॥१०८॥

खेत्तंमि जंमि खेत्ते काले कालो जहिं हवइ जो उ ।
भावंमि होति दुविहो पसत्थ तह अप्पसत्थो य ॥१०९॥

दुविहंमिवि तिगभेदो णेओ तस्स (उ) विणिच्छओ दुविहो ।
सुगतिफलदुग्गतिफलो पगयं सु ीफलेणित्थं ॥११०॥

दुग्गइफलवादीणं तिन्नि तिसट्ठा सताइ वादीणं ।
खेमे य खेमरूवे चउक्कगं मग्गमादीसु ॥१११॥

दशम अध्यन कहनेके पश्चात् एकादश अध्ययन कहा जाता है । इसका सम्बन्ध यह है—गत अध्ययनमें समाधि कही गई है वह, ज्ञान दर्शन चारित्र और तपरूप है । तथा भावमार्गभी यही है । वह इस अध्ययनमे बताया जाता है । इस सम्बन्धसे आये हुए इस अध्ययनके उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वार कहने चाहिये । उसमे, उपक्रममे अर्थाधिकार यह है—प्रशस्त ज्ञान आदि भावमार्ग है उनका आचरण इस अध्ययनमें कहा है । नामनिष्पन्न निक्षेपमें इस अध्ययनका 'मार्ग' नाम है उसका निक्षेप निर्युक्तिकार बताते है ।

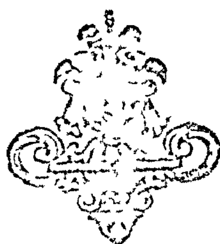
भुल होकर (नो जीवियं नो मरणावकंखी चरेज्ज) वह जीवन और मरणकी इच्छा न र हुआ विचरे ।)

भावार्थ—प्रव्रज्या धारण किया हुआ पुरुष अपने जीवनसे निरपेक्ष होकर कायका व्युत्सर्ग करे एवं वह अपने तपके फलकीभी इच्छा न करे इसप्रकार जीवन और मरणकी इच्छा छोड़कर ससारी संकटोसे अलग रहता हुआ साधु विचरे।

अध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह—गेहान्निःसृत्य 'निष्कम्य च' प्रव्रजितोऽपि भूत्वा जीवितेऽपि निराकाङ्क्षी 'कायं' शरीरं व्युत्सृज्य निष्प्रतिकर्मतया चिकित्सादिक-मकुर्वन् छिन्ननिदानो भवेत्, तथा न जीवितं नापि मर भिकाङ्क्षेत् 'भिक्षुः' साधुः 'वलयात्' संसारवलयात्कर्मबन्धनाद्वा विप्रमुक्तः संयमानुष्ठानं चरेत्, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२४॥

॥ इति समाध्याख्यं दशममध्ययनं समाप्तं ॥

टीकार्थ—अब शास्त्रकार इस अध्ययनमे कही हुई बातको समाप्त करते हुए कहते है— घरसे निकलकर साधु बनकर पुरुष जीवनमे आकांक्षा न करे तथा शरीरका मोह छोड़कर उसका शोधन और दवा आदि न करता हुआ निदानका छेदन करे। इसीतरह साधु जीवन और मरणकी इच्छा न करे। एवं वलय अर्थात् ससारवलय अथवा कर्मबन्धनसे मुक्त होकर संयमका अनुष्ठान करे। इति समाप्त्यर्थकहै ब्रवीमि पूर्ववत् है। यह समाधिनामक दशम अध्ययन समाप्त हुआ।



'क्षेत्रे' ग्रामनगरादौ प्रदेशे या शालिक्षेत्रादिके वा क्षेत्रे यो याति मार्गो यस्मिन्वा क्षेत्रे व्याख्यायते स क्षेत्रमार्गः, एवं कालेऽप्यायोज्यं। भावे त्वालोच्यमाने द्विविधो भवति मार्गः, तद्यथा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्चेति । प्रशस्ताप्रशस्तभेदप्रतिपादनायाह-'द्विविधेऽपि' प्रशस्ताप्रशस्तरूपे भावमार्गे प्रत्येकं त्रिविधो भेदो भवति, तत्राप्रशस्तो मिथ्यात्वमविरतिरज्ञानं चेति, प्रशस्तस्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप इति, 'तस्य' प्रशस्ताप्रशस्तरूपस्य भावमार्गस्य 'विनिश्चयो' निर्णयः फलं कार्यं निष्ठा द्वेधा, तद्यथा-प्रशस्तः सुगतिफलोऽप्रशस्तश्च दुर्गतिफल इति । इह तु पुनः 'प्रस्तावः' अधिकारः 'सुगतिफलेन' प्रशस्तमार्गेणेति ॥ तत्राप्रशस्तं दुर्गतिफलं मार्गं प्रतिपिपादयिषुस्तत्कर्तॄन्निर्दिदिक्षुराह-दुर्गतिः फलं यस्य स दुर्गतिफलस्तद्वदनशीला दुर्गतिफलवादिनस्तेषां प्रावादुकानां त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि शतानि भवन्ति, दुर्गतिफलमार्गोपदेष्टृत्वं च तेषां मिथ्यात्वोपहतदृष्टितया विपरीतजीवादितत्त्वाभ्युपगमात्, तत्संख्या चैवमवगन्तव्या, तद्यथा-[1]असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई। अण्णाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥१॥ तेषां

व्याख्या की जाती है वह क्षेत्रमार्ग है । इसीतरह कालमेभी जानना चाहिये। भावमार्गके विषयमे विचार करनेपर वह दो प्रकारका है एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त । अब प्रशस्त और अप्रशस्तका भेद निर्युक्तिकार बताते है–प्रशस्त और अप्रशस्त दोनोही भावमार्गोमे प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं। इनमें मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान ये अप्रशस्त भावमार्ग है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र प्रशस्त भावमार्ग है । इन अप्रशस्त और प्रशस्त मार्गोका फल विचारना चाहिये–वह दो प्रकारका है जैसेकि–प्रशस्त भावमार्गका फल सुगति है और अप्रशस्तका फल दुर्गति है । इस अध्ययनमे सुगतिरूप फल देनेवाले प्रशस्त भावमार्गका ही वर्णन है। अब निर्युक्तिकार दुर्गति फल देनेवाले अप्रशस्त भावमार्गको बतानेकेलिये उसके कर्ताओको बताते है–जिसका दुर्गति फल है ऐसे मार्गको बतानेवाले प्रावादुकोके तीन सौ तीरसठ ३६३ भेद है । वे दुर्गतिरूप फलवाले मार्गका उपदेशक इस कारण है कि उनकी दृष्टि मिथ्यात्वके कारण नष्ट हो गई है अतएव वे जीवादि तत्त्वोको विपरीत मानते हैं। इनकी सख्या इसप्रकार जाननी चाहिये । क्रियावादियोके १८० भेद है तथा अक्रियावादियोंके ८४ भेद हैं एवं अज्ञानियोंके ६७ भेद है और विनयवादियोके ३२ भेद हैं। इनका स्वरूप समवसणाध्ययनमे बताया जावेगा ।

अब भङ्गके द्वारा मार्ग बतानेके लिये कहते है–एक मार्ग क्षेम है क्योकि उसमे चोर, सिंह, और व्याघ्र आदिका उपद्रव नहीं है तथा वह क्षेमरूपभी है क्योंकि वह सम है तथा

---

1 अशीतिशत क्रियावादिनामक्रियावादिना भवति चतुरशीति अज्ञानिकाना सप्तषष्टिर्वैनयिकाना च द्वात्रिंशत् ॥१॥

च स्वरूपं समवसरणाध्ययने वक्ष्यत इति ॥ साम्प्रतं मार्गं भङ्गद्वारेण निरूपयितुमाह, तद्यथा-एकः क्षेमो मार्गस्तस्करसिंहव्याघ्राद्युपद्रवरहितत्वात् तथा क्षेमरूपश्च समत्वात्तथा छायापुष्पफलवद्वृक्षोपेतजलाश्रयाकुलत्वाच्च १, तथा परः क्षेमो निश्चौरः किंत्वक्षेमरूप उपलशकलाकुलगिरिनदीकण्टकगर्तशताकुलत्वेन विषमत्वात्, तथाऽपरोऽक्षेमस्तस्करादिभयोपेतत्वात्क्षेमरूपश्चोपलशकलाद्यभावतया समत्वात्, तथाऽन्यो न क्षेमो नापि क्षेमरूपः सिंहव्याघ्रतस्करादिदोषदुष्टत्वात्तथा गर्तपाषाणनिम्नोन्नतादिदोषत्वाच्चेति, एवं भावमार्गोऽप्यायोज्यः, तद्यथा-ज्ञानादिसमन्वितो द्रव्यलिङ्गोपेतश्च साधुः क्षेमः क्षेमरूपश्च, तथा क्षेमोऽक्षेमरूपस्तु स एव भावसाधुः कारणिकद्रव्यलिङ्गरहितः, तृतीयभङ्गकगता निह्नवाः, परतीर्थिका गृहस्थाश्चरमभङ्गकवर्तिनो द्रष्टव्याः । एवमनन्तरोक्तया प्रक्रियया 'चतुष्ककं' भङ्गकचतुष्टयं मार्गादिष्वायोज्य, आदिग्रहणादन्यत्रापि समाध्यादावायोज्यमिति ॥ सम्यग्मिथ्यात्वमार्गयोः स्वरूपनिरूपणायाह—

छाया, फूल, फल, वृक्ष और जलाशयोसे भरा हुआ है। एवं दूसरा मार्ग चोर आदि न होनेसे क्षेम तो अवश्य है परन्तु पत्थरोके टुकडे पर्वत, नदी, कण्टक और सैकडो गर्तासे युक्त होनेके कारण क्षेमरूप नहीं है। तीसरा मार्ग चोर आदिसे युक्त होनेके कारण क्षेमतो नहीं है परन्तु पत्थर के टुकडे आदि न होनेसे क्षेमरूप है। तथा चौथा मार्ग नतो क्षेम ही है और न क्षेमरूप ही है क्योकि उसमें चोर, सिंह और व्याघ्र आदिका भय है और, गर्त, पाषाण तथा नीचा ऊचा इत्यादि दोषों से भी युक्त है। इसीतरह भावमार्गके विषयमेभी समझना चाहिये। जो साधु ज्ञान आदिसे युक्त तथा द्रव्यलिङ्गसे भी युक्त है वह क्षेम तथा क्षेमरूप प्रथम भङ्गका स्वामी है (१) दूसरा वह है जिसमे ज्ञान आदि गुण तो विद्यमान हैं परन्तु कारणवश द्रव्यलिङ्गको छोड़ रखा है, वह क्षेम तथा अक्षेमरूप दूसरे भङ्गका धनी है। (२) तीसरे भङ्गमे निन्हव हैं (३) और गृहस्थ तथा परतीर्थी चौथे भङ्गमे हैं। (४) इसी रीतिसे ये चार भङ्ग मार्ग आदिमें भी जानने चाहिये तथा आदि शब्दसे दूसरी जगह समाधि आदिमें भी जानने चाहिये।

अब सम्यक् और मिथ्यामार्गका स्वरूप बतानेके लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

सम्मप्पणिओ मग्गो णाणे तह दसणे चरित्ते य ।
चरगपरिव्वायादीचिण्णो मिच्छत्तमग्गो उ ॥११२॥
इड्ढिरससायगुरुया छज्जीवनिकायघायनिरया (य) ।
जे उवदिसंति मग्ग कुमग्गमग्गस्सिता ते उ ॥११३॥
तवसंजमप्पहाणा गुणधारी जे वयंति सब्भावं ।
सव्वजगज्जीवहियं तमाहु सम्मप्पणीयमिणं ॥११४॥

पंथो मग्गो णाओ विही धिती सुगती हियं (तह) सुहं च ।
पत्थं सेयं णिव्वुइ णिव्वाणं सिवकरं चेव ॥११५॥

ज्ञानं दर्शनं [1]चारित्र चेत्ययं त्रिविधोऽपि भावमार्गः 'सम्यग्दृष्टिभिः' तीर्थंकरगणधरादिभिः सम्यग्वा-यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिरूपणया प्रणीतस्तैरेव (च) सम्यगाचीर्ण इति, चरकपरिव्राजकादिभिस्तु 'आचीर्णः' आसेवितो मार्गो मिथ्यात्वमार्गोऽप्रशस्तमार्गो भवतीति । तुशब्दोऽस्य दुर्गतिफलनिबन्धनत्वेन विशेषणार्थ इति ॥ स्वयूथ्यानामपि पार्श्वस्थादीनां षड्जीवनिकायोपमर्दकारिणां कुमार्गाश्रितत्वं दर्शयितुमाह-ये केचन अपुष्टधर्माणः शीतलविहारिणः ऋद्धिरससातगौरवेण 'गुरुकर्माण आधाकर्माद्युपभोगाभ्युपगमेन षड्जीवनिकायव्यापादनरताश्च अपरेभ्यो 'मार्गं' मोक्षमार्गमात्मानुचीर्णमुपदिशन्ति, तथाहि-शरीरमिदमाद्यं धर्मसाधनमिति मत्वा कालसंहननादिहानेश्चाधाकर्माद्युपभोगोऽपि न दोषायेत्येवं प्रतिपादयन्ति, ते चैवं प्रतिपादयन्तः कुत्सितमार्गास्तीर्थिकास्तन्मार्गाश्रिता भवन्ति । तुशब्दादेतेऽपि स्वयूथ्या एतदुपदिशन्तः कुमार्गाश्रिता भवन्तीति किंपुनस्तीर्थिका इति ॥ प्रशस्तशास्त्रप्रणयनेन सन्मार्गाविष्करणायाह-तपः-सबाह्याभ्यन्तर द्वादशप्रकार तथा संयमः-सप्तदशभेदः पञ्चाश्रवविरमणादिलक्षणस्ताभ्यां प्रधानास्तपःसंयमप्रधानाः,

---

टीकार्थ-सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप तीन प्रकारका भावमार्ग सम्यग्दृष्टि-तीर्थंकर और गणधर आदिने कहा है अथवा वस्तुका यथार्थ स्वरूप बतानेके कारण ये तीन भावमार्ग तीर्थङ्कर आदिने कहे हैं । तथा उन्होने इनका आचरणभी किया है । इससे विपरीत चरक और परिव्राजक आदि से सेवन किया जानेवाला मार्ग मिथ्यामार्ग एव अप्रशस्त मार्ग है । वह अप्रशस्तमार्ग दुर्गति फल देनेवाला है यह तु शब्द बताता है । छ. कायके जीवोका घात करनेवाले जो पार्श्वस्थ आदि स्वयूथिक है वेभी कुमार्गमे ही जाते है यह निर्युक्तिकार बताते हैं ।-

जो धर्ममें ढीले शीतलविहारी हैं तथा ऋद्धि रस सुख और मान बडाई में आसक्त गुरुकर्मी है तथा जो आधाकर्मी आहारका उपभोग करके छ कायके जीवोंका घात करते हैं और अपनेसे आचरण किये जाते हुए मार्गका उपदेश दूसरेको देते है, जैसेकि-"धर्मसाधनका मुख्य कारण यह शरीरही है, यह मानकर तथा काल और संहनन आदिकी हानि समझकर आधाकर्मी आहार खानेमे भी दोष नहीं है" ऐसे मार्गका उपदेश करनेवाला परतीर्थी कुमार्गका सेवन करते है तथा जैन साधुभी ऐसा करनेवाला कुमार्गी ही है । ऐसा आचरण करनेवाला जैनसाधुभी जबकि कुमार्गी है तब परतीर्थियोंकी तो बातही क्या है ? ।

अब प्रशस्तशास्त्रकी रचनाके द्वारा सच्चा साधु मार्ग बतानेके लिये निर्युक्तिकार कहते है-बाह्य और आभ्यन्तर बारह भेदवाला तप है तथा पॉच आश्रवोंसे विरमणरूप सत्रह भेदवाला

---

1 चारित्रा० प्र० ।

तथाऽष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि गुणास्तद्धारिणो गुणधारिणो ये सत्साधवस्त एवं-भूता यं 'सद्भावं' परमार्थं जीवाजीवादिलक्षणं 'वदन्ति' प्रतिपादयन्ति, किंभूत! -सर्वस्मिन् जगति ये जीवास्तेभ्यो हित-पथ्य तद्रक्षणतस्तेषां सदुपदेशदानतो वा त सन्मार्गं सम्यङ्मार्गज्ञाः 'सम्यग्' अविपरीतत्वेन प्रणीतम् 'आहुः' उक्तवन्त इति॥ साम्प्रतं सन्मार्गस्यैकार्थिकान् दर्शयितुमाह-देशाद्विवक्षितदेशान्तरप्राप्तिलक्षणः पन्थाः, स चेह भावमार्गाधिकारे सम्यक्त्वावाप्तिरूपोऽवगन्तव्यः १, तथा 'मार्ग' इति पूर्वस्माद्विशुद्धया विशिष्टतरो मार्गः, स चेह सम्यग्ज्ञानावाप्तिरूपोऽवगन्तव्यः २, तथा 'न्याय' इति निश्चयेनायनं-विशिष्टस्थानप्राप्तिलक्षणं यस्मिन् सति स न्यायः, स चेह सम्यक्चारित्रावाप्तिरूपोऽवगन्तव्यः, सत्पुरुषाणामयं न्याय एव यदुत अवाप्तयोः सम्यग्दर्शनज्ञानयोस्तत्फलभूतेन सम्यक्चारित्रेण योगो भवतीत्यतो न्यायशब्देनात्र चारित्रयोगोऽभिधीयत इति ३, तथा 'विधि'रिति विधानं विधिः सम्यग्ज्ञानदर्शनयोर्यौगपद्येनावाप्तिः ४, तथा 'धृति'रिति धरणं धृतिः सम्यग्दर्शने सति चारित्रावस्थानं माषतुषादाविव विशिष्टज्ञानाभावाद्विवक्षयैवमुच्यते ५, तथा 'सुगति'रिति शोभना गतिरस्मात् ज्ञानाच्चारित्राच्चेति सुगतिः, 'ज्ञानक्रियाभ्यां

संयम है, ये तप और संयम जिनमे प्रधान है तथा अढारह हजार शीलके भेदोंको पालन करनेवाले जो गुणवान् पुरुष हैं वे उत्तम साधु है। वे साधु जीव आदि नवतत्त्वोंका सच्चा स्वरूप बतलाते हैं। उनका बताया हुआ मार्ग समस्त प्राणियोंका रक्षक होनेके कारण अथवा सबको उत्तम उपदेश देनेके कारण हितकर है। वही मार्ग सच्चा मार्ग है। सच्चे मार्गके रहस्यको जाननेवाले पुरुष उसी मार्गको अविपरीत कहते हैं।

कयरे ग्गे अक्खाए, माहणेणं मईं ता ?।
जं मग्गं उज्जु पावित्ता, ओहं रति दु रं ॥१॥

छाया–कतरो मार्ग आख्यातो माहनेन मतिमता ।
यं मार्गमृजुं प्राप्य, ओघं तरति दुस्तरम् ॥

अन्वयार्थ–(मईमता माहणेग कयरे मग्गे अक्खाए) केवलज्ञानी, अहिंसाके उपदेशक भगवान् महावीर स्वामीने कौनसा मोक्षमार्ग कहा है ? । (ज उज्जु मग्गं पावित्ता दुत्तर मोह तरति) जिस सरल मार्गको पाकर जीव दुस्तर ससारको पार करता है ।

भावार्थ–अहिंसाके उपदेशक केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामीने कौनसा मोक्षका मार्ग बताया है, जिसको प्राप्तकर जीव ससारसागरसे पार होता है ।

विचित्रत्वात्त्रिकालविषयत्वाच्च सूत्रस्यागामुकं प्रच्छकमाश्रित्य सूत्रमिदं प्रवृत्तम्, अतो जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमिदमाह, तद्यथा–'कतरः' किंभूतो 'मार्गः' अपवर्गावाप्तिसमर्थोऽस्यां त्रिलोक्याम् 'आख्यातः' प्रतिपादितो भगवता त्रैलोक्योद्धरणसमर्थेनैकान्तहितैषिणा मा हनेत्येवमुपदेशप्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनः–तीर्थकृत्तेन, तमेव विशिनष्टि–मतिः–लोकालोकान्तर्गतसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतवर्तमानपदार्थाविर्भाविका केवलज्ञानाख्या यस्यास्त्यसौ मतिमांस्तेन, यं प्रशस्तं भावमार्गं मोक्षगमनं प्रति 'ऋजुं' प्रगुणं यथावस्थितपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेणावक्रं सामान्यविशेषनित्यानित्यादिस्याद्वादसमाश्रयणात्, तदेवंभूतं मार्गं ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रात्मकं 'प्राप्य' लब्ध्वा ससारोदरविवरवर्ती प्राणी समग्रसामग्रीक. 'ओघ'मिति भवौघं

संसारसमुद्रं तरत्यत्यन्तदुस्तरं, तदुत्तरणसामग्र्या एव दुष्प्रापत्वात्, तदुक्तम्-
[1]"माणुस्सखेत्तजाईकुलरूवारोगमाउयं बुद्धी । सवणोग्गहसद्धासंजमो य लोयंमि दुलहाइं ॥१॥" इत्यादि ॥

पार करनेकी सामग्री पानाही बहुत कठिन है । कहाभी है-(माणुस्स) मनुष्यजन्म, आर्य्यक्षेत्र, उत्तमजाति, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, सुननेका योग, उसपर श्रद्धा, निर्मलचारित्र ये सब वस्तु प्राप्त होना दुर्लभ है । १

तं मग्गं णुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।
जाणासि णं जहा भिक्खू !, तं णो बूहि महामुणी ॥२॥

छाया-तं मार्गमनुत्तरं शुद्धं सर्वदुःखविमोक्षणम् ।
जानासि वै यथा भिक्षो ! तं नो ब्रूहि महामुने ।

अन्वयार्थ-(भिक्खू महामुणी) हे साधो ! हे महामुने ! (सव्वदुक्खविमोक्खणं सुद्धं णुत्तरं तं मग्गं जहा जाणासि) सब दुःखोंको छुडानेवाले, सबसे श्रेष्ठ उस शुद्ध मार्गको आप जैसे जानते है (तं णो बूहि) सो हमें बताईये ।

भावार्थ-जम्बूस्वामी श्रीसुधर्मास्वामीसे पूछते है कि-हे माहमुने ! आप सब दुखोंको छुडानेवाले तथा सबसे श्रेष्ठ तीर्थङ्करके कहे हुए मार्गको जानते हैं इसलिये हमे वह सुनाइये ।

स एव प्रच्छकः पुनरप्याह-योऽसौ मार्गः सत्त्वहिताय सर्वज्ञेनोपदिष्टोऽशेषैकान्तकौटिल्यवक्र (ता) रहितस्तं मार्गं, नास्योत्तर'-प्रधानोऽस्तीत्यनुत्तरस्तं शुद्धः-अवदातो निर्दोषः पूर्वापरव्याहतिदोषापगमात्सावद्यानुष्ठानोपदेशाभावाद्वा तमिति, तथा सर्वाणि-अशेषाणि बहुभिर्भवैरुपचितानि दुःखकारणत्वाद्दुःखानि-कर्माणि तेभ्यो 'विमोक्षणं'-विमोचकं तमेवंभूतं मार्गमनुत्तरं निर्दोषं सर्वदुःखक्षयकारणं हे भिक्षो ! यथा त्वं जानीषे 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे तथा तं मार्गं ज्ञप्रणीतं 'नः' अस्माकं हे महा मुने ! 'ब्रूहि' कथयेति ॥२॥

टीकार्थ-जिसने पहले पूछा है वही फिर पूछता है-जीवोंके कल्याणके लिये जो मार्ग सर्वज्ञ प्रभुने कहा है, वह सम्पूर्ण तथा निश्चयरूपसे वक्रता रहित है तथा उस मार्गसे श्रेष्ठ दूसरा मार्ग नहीं है इसलिये वह अनुत्तर है एवं वह शुद्ध यानी निर्दोष है क्योंकि वह पहले और पीछे परस्पर विरुद्ध बात नही बतलाता है तथा वह सावद्य अनुष्ठानका उपदेश नहीं करता है। एवं बहुत जन्मोंके सञ्चित जो दुःखके कारण दुःखरूप कर्म हैं उनको छोडानेवाला वह मार्ग है । ऐसे प्रधानमार्गको हे भिक्षो ! हे महामुने ! आप जिस प्रकार जानते है उस तरह उस निर्दोष तथा सब दुःखोंको क्षय करनेवाले मार्गको हमें बताईये । २

[1] मानुष्य क्षेत्र जाति कुल रूपमारोग्यमायु बुद्धि श्रवणमवग्रह श्रद्धा संयमश्च लोके दुर्लभानि ॥१॥

कयरे मग्गे अक्खाए, माहणेणं मईमता ?।
जं मग्गं उज्जु पाविता, ओहं तरति दुत्तरं ॥१॥

छाया–कतरो मार्ग आख्यातो माहनेन मतिमता।
यं मार्गमृजुं प्राप्य, ओघं तरति दुस्तरम् ॥

अन्वयार्थ–(मईमता माहणेण कयरे मग्गे अक्खाए) केवलज्ञानी, अहिंसाके उपदेशक भगवान् महावीर स्वामीने कौनसा मोक्षमार्ग कहा है ?। (ज उज्जु मग्ग पावित्ता दुत्तरं मोह तरति) जिस सरल मार्गको पाकर जीव दुस्तर ससारको पार करता है।

भावार्थ–अहिंसाके उपदेशक केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामीने कौनसा मोक्षका मार्ग बताया है, जिसको प्राप्तकर जीव संसारसागरसे पार होता है।

विचित्रत्वात्त्रिकालविषयत्वाच्च सूत्रस्यागामुकं प्रच्छकमाश्रित्य सूत्रमिदं प्रवृत्तम्, अतो जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमिदमाह, तद्यथा–'कतरः' किंभूतो 'मार्गः' अपवर्गावाप्तिसमर्थोऽस्यां त्रिलोक्याम् 'आख्यातः' प्रतिपादितो भगवता त्रैलोक्योद्धरणसमर्थेनैकान्तहितैषिणा मा हनेत्येवमुपदेशप्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनः–तीर्थकृत्तेन, तमेव विशिनष्टि–मतिः–लोकालोकान्तर्गतसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतवर्तमानपदार्थाविर्भाविका केवलज्ञानाख्या यस्यास्त्यसौ मतिमांस्तेन, यं प्रशस्तं भावमार्गं मोक्षगमनं प्रति 'ऋजुं' प्रगुणं यथावस्थितपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेणावक्रं सामान्यविशेषनित्यानित्यादिस्याद्वादसमाश्रयणात्, तदेवंभूतं मार्गं ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रात्मकं 'प्राप्य' लब्ध्वा संसारोदरविवरवर्ती प्राणी समग्रसामग्रीकः 'ओघ'मिति भवौघं

संसारसमुद्रं तरत्यत्यन्तदुस्तरं, तदुत्तरणसामग्र्या एव दुष्प्रापत्वात्, तदुक्तम्-"[1]माणुस्सखेत्तजाईकुलरूवारोगमाउयं बुद्धी । सवणोग्गहसद्धासंजमो य लोयंमि दुलहाइं ॥१॥" इत्यादि ॥

पार करनेकी सामग्री पानाही बहुत कठिन है । कहाभी है-(माणुस्स) मनुष्यजन्म, आर्य्यक्षेत्र, उत्तमजाति, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, सुननेका योग, उसपर श्रद्धा, निर्मलचारित्र ये सब वस्तु प्राप्त होना दुर्लभ है । १

तं मग्गं णुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।
जाणासि णं जहा भिक्खू !, तं णो बूहि महामुणी ॥२॥

छाया-तं मार्गमनुत्तरं शुद्धं सर्वदुःखविमोक्षणम् ।
जानासि वै यथा भिक्षो ! तं नो ब्रूहि महामुने ।

अन्वयार्थ-(भिक्खू महामुणी) हे साधो ! हे महामुने ! (सव्वदुक्खविमोक्खणं सुद्धं णुत्तर तं मग्ग जहा जाणासि) सब दु.खोंको छुडानेवाले, सबसे श्रेष्ठ उस शुद्ध मार्गको आप जैसे जानते हैं (त णो बूहि) सो हमें बताईये ।

भावार्थ-जम्बूस्वामी श्री सुधर्मास्वामीसे पूछते हैं कि-हे माहमुने ! आप सब दुखोंको छुडानेवाले तथा सबसे श्रेष्ठ तीर्थङ्करके कहे हुए मार्गको जानते हैं इसलिये हमें वह सुनाइये ।

स एव प्रच्छकः पुनरप्याह-योऽसौ मार्गः सत्त्वहिताय सर्वज्ञेनोपदिष्टोऽशेषैकान्तकौटिल्यवक्र (ता) रहितस्तं मार्ग, नास्योत्तर'-प्रधानोऽस्तीत्यनुत्तरस्तं शुद्धः-अवदातो निर्दोषः पूर्वापरव्याहतिदोपापगमात्सावद्यानुष्ठानोपदेशाभावाद्वा तमिति, तथा सर्वाणि-अशेषाणि बहुभिर्भवैरुपचितानि दुःखकारणत्वादुःखानि-कर्माणि तेभ्यो 'विमोक्षण'-विमोचकं तमेवंभूतं मार्गमनुत्तरं निर्दोपं सर्वदुःखक्षयकारणं हे भिक्षो ! यथा त्वं जानीषे 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे तथा तं मार्ग सर्वज्ञप्रणीतं 'न.' अस्माकं हे महा मुने ! 'ब्रूहि' कथयेति ॥२॥

टीकार्थ-जिसने पहले पूछा है वही फिर पूछता है-जीवोंके कल्याणके लिये जो मार्ग सर्वज्ञ प्रभुने कहा है, वह सम्पूर्ण तथा निश्चयरूपसे वक्रता रहित है तथा उस मार्गसे श्रेष्ठ दूसरा मार्ग नहीं है इसलिये वह अनुत्तर है एवं वह शुद्ध यानी निर्दोष है क्योंकि वह पहले और पीछे परस्पर विरुद्ध बात नहीं बतलाता है तथा वह सावद्य अनुष्ठानका उपदेश नहीं करता है । एवं बहुत जन्मोंके सञ्चित जो दु खके कारग दु खरूप कर्म हैं उनको छोडानेवाला वह मार्ग है । ऐसे प्रधानमार्गको हे भिक्षो ! हे महामुने ! आप जिस प्रकार जानते हैं उस तरह उस निर्दोष तथा सब दु खोंको क्षय करनेवाले मार्गको हमें बताईये । २

१ मानुष्य क्षेत्र जाति कुल रूपमारोग्यमायु बुद्धि श्रवणमवग्रह श्रद्धा सयमश्च लोके दुर्लभानि ॥१॥

जइ णो केइ पुच्छि ा, देवा अदुव ाणु ा।
तेसिं कयरं मग्गं, आइक्खेज्ज? हाहि णो ॥३॥

छाया-यदि नः केऽपि पृच्छेयु देवा अथवा मनुष्याः।
तेषान्तु कतरं मार्गमाख्यास्ये कथय नः ॥

अन्वयार्थ-(जइ केइ देवा अदुव माणुसा, णो पुच्छिज्जा) यदि कोई देवता या मनुष्य हमसे पूछे तो (तेसि कयर मग्ग आइक्खेज्ज) उनको हम कौन मार्ग बतावें (णो कहाहि) सो हमें आप कहिये।

भावार्थ-जम्बूस्वामी श्री सुधर्मास्वामीसे कहते हैं कि-यदि कोई देवता या मनुष्य हमसे मोक्षका मार्ग पूछे तो हम उनको कौनसा मार्ग बतावे यह आप हमे बतलाईये।

यद्यप्यस्माकमसाधारणगुणोपलब्धेर्युष्मत्प्रत्ययेनैव प्रवृत्तिः स्यात् तथाप्यन्येषां मार्गः किंभूतो मयाऽऽख्येय इत्यभिप्रायवानाह-यदा कदाचित् 'नः' अस्मान् 'केचन' सुलभबोधयः संसारोद्विग्नाः सम्यग्मार्गं पृच्छेयुः, के ते?-'देवाः' चतुर्निकायाः तथा मनुष्याः-प्रतीताः, बाहुल्येन तयोरेव प्रश्नसद्भावात्तदुपादानं, तेषां पृच्छतां कतरं मार्गमहम् 'आख्यास्ये' कथयिष्ये, तदेतदस्माकं त्वं जानानः कथयेति ॥३॥

टीकार्थ-यद्यपि हमतो आपके असाधारण गुणोको जाननेके कारण आपके विश्वाससेही मान लेते हैं तथापि दूसरे लोगोको हम किस प्रकार समझावे इस अभिप्रायसे श्री जम्बूस्वामी पूछते हैं-हे भगवन्! संसारसे घबराये हुए सरल आत्मा कोई चार निकायवाला देवता या मनुष्य हमसे सम्यग् मार्ग पूछे तो हमे क्या बताना चाहिये? । आप यह जानते हैं इसलिये हमे कहिये। देवता और मनुष्यही प्रश्न कर सकते हैं इसलिये उन्हींका इस गाथामें ग्रहण है दूसरेका नहीं। ३

जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव ाणुसा।
तेसिमं पडिसाहिज्जा, मग्गसारं सुणेह मे ॥४॥

छाया-यदि वः केऽपि पृच्छेयु देवा अथवा मनुष्याः।
तेषामिमं प्रतिकथयेन्मार्गसारं शृणुत मे ॥

चरित्तलंभो" इत्यादि, तथा "चत्तारि परमंगाणी'त्यादि । किंभूतं मार्गं?, तमेव विशिनष्टि-कापुरुषैः संग्रामप्रवेशवत् दुरध्यवसेयत्वात् 'महाघोरं' महाभयानक 'काश्यपो' महावीरवर्धमानस्वामी तेन 'प्रवेदितं' प्रणीतं मार्गं कथयिष्यामीति, अनेन स्वमनीषिकापरिहारमाह; यं शुद्धं मार्गम् 'उपादाय' गृहीत्वा 'इत' इति [2]सन्मार्गोपादानात् 'पूर्वम्' आदावेवानुष्ठितत्वाद्दुस्तरं संसारं महापुरुषास्तरन्ति, अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह-व्यवहारः-पण्यक्रयविक्रयलक्षणो विद्यते येषां ते व्यवहारिणः-सांयात्रिका, यथा ते विशिष्टलाभार्थिनः किञ्चिन्नगरं यियासवो यानपात्रेण दुस्तरमपि समुद्रं तरन्ति एवं साधवोऽप्यात्यन्तिकैकान्तिकाबाधसुखैषिणः सम्यग्दर्शनादिना मार्गेण मोक्षं जिगमिषवो दुस्तरं भवौघं तरन्तीति ॥५॥

जीवको चारित्रकी प्राप्ति होती है । तथा मनुष्य जन्म, धर्मप्राप्तिका उपदेश, अनुकूल श्रद्धा और चारित्रपालनेकी शक्ति, ये चार बाते सम्पूर्ण रूपसे मिले तो मोक्षकी प्राप्ति हो । (प्रश्न) वह मार्ग कैसा है ? । (उत्तर) जैसे कायर पुरुषका युद्धमे प्रवेश करना भयदायक होता है इसीतरह अल्प शक्तिवाले पुरुषके लिये यह मार्ग महा भयदायक है । भगवान् महावीर स्वामीने यह मार्ग कहा है, इसे मैं आपको बताता हूं । इससे यह सूचना दी जाती है कि—यह भगवान् महावीर स्वामी ही कहते है मै अपनी कल्पनासे नहीं कहता हूं । जो मार्ग मैं बताऊंगा उस शुद्ध मार्गको स्वीकार कर सरल मार्ग मिलनेके कारण उस मार्गसे चलकर पहले दुस्तर संसार सागरको महापुरुषोने पार किया है । इस विषयमे दृष्टान्त देते हैं—खरीद विक्रीको व्यवहार कहते है और जो व्यवहार करते है उनको व्यवहारी कहते है । वे अधिक लाभ पानेके लिये किसी नगरको जाते हुए जैसे जहाजपर चढकर दुस्तर समुद्रको पार करते हैं इसीतरह अनन्त और बाधारहित सत्य सुखकी इच्छा करनेवाले साधु सम्यग्दर्शन आदि मार्गके द्वारा मोक्ष जाना चाहते हुए दुस्तर संसार सागरको पार करते हैं ।

अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ।
तं सोच्चा पडिवक्खामि, जंतवो तं सुणेह मे ॥६॥

छाया—अतार्षुस्तरन्त्येके तरिष्यन्त्यनागताः ।
तं श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि, जन्तवस्तं शृणुत मे ॥

भावार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य वर्गसे कहते है कि—तीर्थङ्करके बताये हुए मार्गसे चलकर पूर्वकालमें बहुत जीवोने संसार सागरको पार किया है तथा वर्तमानमें भी करते हैं और भविष्यमें भी करेगे। वह मार्ग मैंने तीर्थङ्करसे सुन रखा है और आप लोगोको सुननेकी इच्छा है इसलिये मै उस मार्गका वर्णन करता हूं आप उसे सुने।

मार्गविशेषणायाह—यं मार्गं पूर्वं महापुरुषाचीर्णमव्यभिचारिणमाश्रित्य पूर्वस्मिन् दिके काले बहवोऽनन्ताः सत्त्वा अशेषकर्मकचवरविप्रमुक्ता भवौघं-संसारम् "अतार्षुः" तीर्णवन्तः, साम्प्रतमप्येके समग्रसामग्रीकाः संख्येयाः सत्त्वास्तरन्ति, महाविदेहादौ सर्वदा सिद्धिसद्भावाद्वर्तमानत्वं न विरुध्यते, तथाऽनागते च काले अपर्यवसानात्मकेऽनन्ता जीवास्तरिष्यन्ति। तदेवं कालत्रयेऽपि संसारसमुद्रोत्तारकं मोक्षगमनैककारणं प्रशस्तं भावमार्गमुत्पन्नदिव्यज्ञानैस्तीर्थकृद्भिरुपदिष्टं, तं चाहं सम्यक् श्रुत्वाऽवधार्य च युष्माकं शुश्रूषूणां 'प्रतिवक्ष्यामि' प्रतिपादयिष्यामि, सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं निश्रीकृत्यान्येषामपि जन्तूनां कथयतीत्येतद्दर्शयितुमाह—हे जन्तवोऽभिमुखीभूय तं चारित्रमार्गं मम कथयतः शृणुत यूयं, परमार्थकथनेऽत्यन्तमादरोत्पादनार्थमेवमुपन्यास इति ॥६॥

छाया–पृथिवी जीवाः पृथक् सत्त्वाः, आपो जीवास्तथाऽग्निः।
वायुजीवाः पृथक् सत्त्वा स्तृणवृक्षसबीजगाः॥

अन्वयार्थ–(पुढवी जीवा पुढो सत्ता) पृथिवी या पृथिवी के आश्रित जीव भिन्न भिन्न जीव हैं। (आउ जीवा तहाऽगणी) तथा जल और अग्निके जीव भी भिन्न भिन्न हैं (वाउजीवा पुढो सत्ता) तथा वायुकायके जीव भी अलग अलग हैं (तणरुक्खसवीयगा) इसी तरह तृण, वृक्ष और वीजभी जीव हैं।

भावार्थ–पृथिवी जीव है तथा पृथिवीके आश्रित भी जीव है एवं जल और अग्नि भी जीव है तथा वायुकायके जीवभी भिन्न भिन्न है एवं तृण, वृक्ष, और वीजभी जीव है।

चारित्रमार्गस्य प्राणातिपातविरमणमूलत्वात्तस्य च तत्परिज्ञानपूर्वकत्वादतो जीवस्वरूपनिरूपणार्थमाह–पृथिव्येव पृथिव्याश्रिता वा जीवाः पृथ्वीजीवाः, ते च प्रत्येकशरीरत्वात् 'पृथक्' प्रत्येकं 'सत्त्वा' जन्तवोऽवगन्तव्याः, तथा आपश्च जीवाः, एवमग्निकायाश्च, तथाऽपरे वायुजीवाः, तदेवं चतुर्महाभूतसमाश्रिता पृथक् सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणोऽवगन्तव्याः, एत एव पृथिव्यप्तेजोवायुसमाश्रिताः सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिण., वक्ष्यमाणवनस्पतेस्तु साधारणशरीरत्वेनापृथक्त्वमप्यस्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनाय पुन. पृथक्सत्त्वग्रहणमिति। वनस्पतिकायस्तु यः सूक्ष्मः स सर्वोऽपि निगोदरूप. साधारणो वादरस्तु साधारणोऽसाधारणश्चेति, तत्र प्रत्येकशरीरिणोऽसाधारणस्य कतिचिद्भेदान्निर्दिदिक्षुराह–तत्र तृणानि-दर्भवीरणादीनि वृक्षाः-चूताशोकादयः सह वीजैः-शालिगोधूमादिभिर्वर्तन्त इति सवीजकाः, एते सर्वेऽपि वनस्पतिकायाः सत्त्वा अवगन्तव्या., अनेन च वौद्धादिमतनिरासः कृतोऽवगन्तव्य

इति । एतेषां च पृथिव्यादीनां जीवानां जीवत्वेन प्रसिद्धि रूपनिरूपणमाचारे प्रथमाध्ययने शास्त्रपरिज्ञाख्ये न्यक्षेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते ॥७॥

से बौद्ध आदि मतोका खण्डन जानना चाहिये । पृथिवी आदि जीवोका जीव होना आचाराङ्ग सूत्रके शास्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययनमें खुलासा करके कहा गया है इसलिये यहां विस्तारकी आवश्यकता नहीं है । ७

अहावरा [illegible] पाणा, एवं [illegible] आहिया ।
ए [illegible]वए[1] जीव [illegible]ए, णावरे [illegible]ोइ विज्जई[2] ॥८॥

छाया—अथाऽपरे त्रसाः प्राणाः, एवं षट्काया आख्याताः ।
एतावान् जीवकायः नापरः कश्चिद्विद्यते ॥

अन्वयार्थ—(अहावरा तसा पाणा) इनसे भिन्न त्रसकायवाले जीव होते हैं । (एव छक्काय आहिया) इस प्रकार तीर्थङ्करने जीवोंके छः भेद कहे हैं । (एतावए जीवकाए) इतनाही जीवों का भेद है । (अवरे कोई ण विज्जती) इनसे भिन्न दूसरा कोई जीव नहीं होता है ।

भावार्थ—पूर्वोक्त पाँच और छट्ठा त्रसकायवाले जीव होते है । तीर्थङ्करने जीवके छः भेद बताये है । अतः जीव इतने ही है इनसे भिन्न कोई दूसरा जीव नहीं होता है ।

षष्ठजीवनिकायप्रतिपादनायाह—तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं चतुर्विधाः, 'अथ' अनन्तरम् 'अपरे' अन्ये त्रस्यन्तीति त्रसाः-द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाः कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादयः, तत्र द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्षड्विधाः, पञ्चेन्द्रियास्तु संज्ञ्यसंज्ञि पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्विधाः। तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या चतुर्दशभूतग्राम[illegible] षड् जीवनिकाया व्याख्यातास्तीर्थकरगणधरादिभिः, 'एतावान्' एता[illegible] [illegible] संक्षेपतो 'जीवनिकायो' जीवराशिर्भवति, अण्डजोद्भिजसंस्वेदजादे[illegible]

टीकार्थ—अब शास्त्रकार छट्ठा जीव बतानेके लिये कहते है—पृथिवी, जल, तेज, [illegible] और वनस्पति, एकेन्द्रिय है और सूक्ष्म, बादर, पर्य्याप्त तथा अपर्य्याप्त भेदसे [illegible] चार चार प्रकारके हैं । जो त्रास पाते हैं वे त्रस कहेजाते है, वे दो, तीन, चार और पाँच [illegible] होते हैं, वे क्रमश कृमि, कीडी, भ्रमर और मनुष्य आदि है । इनमें दो, तीन, और चार इन्द्रियवाले प्रत्येक पर्य्याप्त और अपर्य्याप्त भेदसे छः प्रकार के हैं । [illegible], संज्ञी, असज्ञी पर्य्याप्त और अपर्य्याप्त भेदसे चार प्रकारके हैं । इसप्रकार तीर्थङ्कर और [illegible]

१ इत्ताव एव प्र० । २ दृश्यमानेषु बहुष्वादर्शेषु नावरे [illegible] प्राङ्मुद्रिते त्वेष ईदृश, क्वचित् नावरे विज्जती कएत्ति पाठ [illegible] चेन्नासुन्दर' स ।

न्नापरो जीवराशिर्विद्यते कश्चिदिति ॥८॥ तदेवं षड्जीवनिकायं प्रदर्श्य यत्तत्र विधेय तद्दर्शयितुमाह—

आदिने कुल चोदह प्रकारके छ जीवनिकायको बनाया है। संक्षेपसे इतनाही जीवराशि है क्योकि अण्डज, उद्भिज्ज, और संस्वेदज आदिका इन्हींमे अन्तर्भाव हो जाता है इसलिये इनसे भिन्न कोई दूसरी जीवराशि नहीं है। ८

सव्वाहिं अणुजुत्तीहि, मतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिं या ॥९॥

छाया—सर्वाभिरनुयुक्तिभि र्मतिमान् प्रतिलेख्य।
सर्वेऽकान्तदुःखाश्चातः सर्वान्न हिंस्यात् ॥

अन्वयार्थ—(मतिम) बुद्धिमान् पुरुष (सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं) सब युक्तियों से (पडिलेहिया) इन जीवोंकी सिद्धि करके (सव्वे अकातदुक्खा) सभी को दु ख अप्रिय है यह जाने (अतो सव्वे अहिंसिया) और अत एव किसीकी भी हिंसा न करे।

भावार्थ—बुद्धिमान् सब युक्तियोके द्वारा इन जीवोंका जीवपना सिद्ध करके ये सभी दु·खके द्वेषी है यह जाने तथा इसी कारण किसीकी भी हिंसा न करे।

सर्वा याः काश्चनानुरूपाः-पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेनानुकूला युक्तयः-साधनानि, यदिवा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्ष-व्यावृत्तिरूपतया युक्तिसंगता युक्तयः अनुयुक्तयस्ताभिरनुयुक्तिभिः 'मतिमान्' सद्विवेकी पृथिव्यादिजीवनिकायान् 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य तथा सर्वेऽपि प्राणिन 'अकान्तदु·खा' दुःखद्विपः सुखलिप्सवश्च मन्वानो मतिमान्

सर्वानपि प्राणिनो न हिंस्यादिति । युक्तयश्च तत्प्रसाधिकाः संक्षेपेणेमा इति-सात्मिका पृथिवी, तदात्मनां विद्रुमलवणोपलादीनां समानजातीयाङ्कुरसद्भावाद्, अर्शोविकाराङ्कुरवत् । तथा सचेतनमम्भः, [1]भूमिखननादविकृतस्वभावसंभवाद्, दर्दुरवत् । तथा सात्मकं तेजः, तद्योग्याहारवृद्ध्या वृद्ध्युपलब्धेः, बालकवत् । तथा सात्मको वायुः, अपराप्रेरितनियततिरश्चीनगतिमत्त्वात्, गोवत् । तथा सचेतना वनस्पतयः, जन्मजरामरणरोगादीनां समुदितानां सद्भावात्, स्त्रीवत्, तथा क्षतसंरोहणाहारोपादानदोहदसद्भावस्पर्शसंकोचसायाह्नस्वापप्रबोधाश्रयोपसर्पणादिभ्यो हेतुभ्यो वनस्पतेश्चैतन्यसिद्धिः । द्वीन्द्रियादीनां तु पुनः कृम्यादीनां स्पष्टमेव चैतन्यं, तद्वेदनाश्चौपक्रमिकाः स्वाभाविकाश्च समुपलभ्य मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेन तत्पीडाकारिण उपमर्दान्निवर्तितव्यमिति ॥९॥

है क्योंकि अनुकूल आहार मिलनेपर वह बढती है जैसे बालक आहार मिलनेपर बढता है । एवं वायु चेतन है क्योकि वह गायकी तरह किसीकी प्रेरणाके विनाही नियमसे तिरछा दौडता है । तथा वनस्पति सचेतन है क्योकि स्त्रीके समान जन्म, जरा, मरण और रोग आदि सभी उसमें देखे जाते है तथा कोई वनस्पति काटकर बोनेसे भी उगती है एवं वह हम लोगोंके समान आहार खाती है तथा उसको दोहद भी होता है एवं कोई वनस्पति स्पर्श करनेपर संकुचित होती है तथा वह रातमे सोती है और दिनमें जागती है तथा आश्रय पाकर बढती है । इन हेतुओसे वनस्पतिका जीव होना सिद्ध होता है । तथा दो इन्द्रियवाले कृमि आदि का चैतन्य तो साफ नजर आता है । इन प्राणियोमे होनेवाली स्वाभाविक और औपक्रमिक वेदनाको जानकर बुद्धिमान् पुरुष मन वचन और कायसे तथा करने कराने और अनुमति देनेरूप नव भेदोसे इनकी पीडासे निवृत्त हो जाय । ९

एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण ।
अहिं १ मयं चेव, एतावंतं विजाणिया ॥१०॥

छाया—एवं खलु ज्ञानिनः सारं यन्न हिनस्ति कञ्चन ।
अहिंसा समयं चैव, एतावन्तं विजानीयात् ॥

अन्वयार्थ—(नाणिणो एव खु सार) ज्ञानी पुरुष का यही उत्तम ज्ञान है (जन्न कचण हिंसइ) जो वह किसी जीवकी हिंसा नहीं करता है (अहिंसा समय चेव एतावत विजाणीया) अहिंसा के समर्थक शास्त्र का भी इतनाही सिद्धान्त जानना चाहिये ।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषका यही उत्तम ज्ञान है कि वे किसी जीवकी हिंसा नहीं करते हैं अहिंसाका सिद्धान्त भी इतनाही जानना चाहिये ।

१ ननाविकृन० । ननाविष्कृत० प्र० ।

एतदेव समर्थयन्नाह-खुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, 'एतदेव' अनन्तरोक्तं प्राणातिपातनिवर्तनं 'ज्ञानिनो' जीवस्वरूपतद्वधकर्मबन्धवेदिनः 'सारं' परमार्थतः प्रधानं, पुनरप्यादरख्यापनार्थमेतदेवाह-यत्कञ्चन प्राणिनमनिष्टदुःखं सुखैषिणं न हिनस्ति, प्रभूतवेदिनोऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतरं ज्ञानं यत्प्राणातिपातनिवर्तनमिति, ज्ञानमपि तदेव परमार्थतो यत्परपीडातो निवर्तनं, तथा चोक्तम्-"किं ताए पढियाए? पयकोडीए पलालभूयाए। जत्थित्तियं ण णायं परस्स पीडा न कायव्वा ॥१॥" तदेवमहिंसाप्रधानः समय-आगमः संकेतो वोपदेशरूपस्तमेवंभूतमहिंसासमयमेतावन्तमेव विज्ञाय किमन्येन बहुना परिज्ञानेन?, एतावतैव परिज्ञानेन मुमुक्षोर्विवक्षितकार्यपरिसमाप्तेरतो न हिंस्यात्कञ्चनेति ॥१०॥

टीकार्थ—इसी अहिंसाका ही समर्थन करते हुए शास्त्रकार कहते है—'खु' शब्द वाक्यकी शोभा अथवा अवधारण अर्थ में आया है। पूर्वोक्त जीवहिंसासे बँचनाही, जीवका स्वरूप और उसके वधसे होनेवाले कर्मबन्धको जाननेवाले ज्ञानीका प्रधान कर्त्तव्य है। फिर अहिंसामें आदर सूचित करनेके लिये यही बात कहते है जो दुःखको बुरा मानते हुए सुखकी इच्छा करते हैं ऐसे प्राणियोको न मारना ही वडे ज्ञानीके ज्ञानका सार है। जीवहिंसासे निवृत्त रहना ही ज्ञानीके ज्ञानका सार है। दूसरे जीवको पीडा देनेसे निवृत्त रहना ही सच्चा ज्ञान है, अतएव कहा है—(किंताए) अर्थात् उस पढनेसे क्या? । तथा पलालके समान करोडो पदोके पढनेसे क्या प्रयोजन है जिनसे यह भी ज्ञान नहीं होता है कि दूसरेको पीडा न देनी चाहिये। यही अहिंसाप्रधान शास्त्रका उपदेश है, इतना ही ज्ञान पर्य्याप्त है, दूसरे बहुत ज्ञानोंका क्या प्रयोजन है? क्योंकि मोक्ष जानेवाले पुरुषके इष्ट अर्थकी प्राप्ति इतनेसे ही हो जाती है अतः किसी जिवकी हिंसा न करनी चाहिये। १०

उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाण माहियं ॥११॥

छाया—ऊर्ध्व मध स्तिर्य्यक्, ये केचित त्रसस्थावराः।

साम्प्रतं क्षेत्रप्राणातिपातमधिकृत्याह-ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च ये केचन त्रसाः-तेजोवाय्वाद्वीन्द्रियादयः तथा स्थावराः-पृथिव्यादयः, किं बहुनोक्तेन ?, 'सर्वत्र' प्राणिनि त्रसस्थावरसूक्ष्मबादरभेदभिन्ने 'विरतिं' प्राणातिपातनिवृत्तिं 'विजानीयात्' कुर्यात्, परमार्थत एवमेवासौ ज्ञाता भवति यदि सम्यक् क्रियत इति, एषैव च प्राणातिपातनिवृत्तिः परेषामात्मनश्च शान्तिहेतुत्वाच्छान्तिर्वर्तते, यतो विरतिमतो नान्ये केचन बिभ्यति, नाप्यसौ भवान्तरेऽपि कुतश्चिद्बिभेति, अपिच-निर्वाणप्रधानैककारणत्वान्निर्वाणमपि प्राणातिपातनिवृत्तिरेव, यदिवा शान्तिः-उपशान्तता निर्वृतिः-निर्वाणं विरतिमांश्चार्तरौद्रध्यानाभावादुपशान्तिरूपो निर्वृतिभूतश्च भवति ॥११॥

टीकार्थ-अब शास्त्रकार क्षेत्र प्राणातिपातके विषयमें कहते है-ऊपर नीचे और तिरछा जो कोई अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि त्रस प्राणी रहते है तथा पृथिवी आदि जो स्थावर प्राणी हैं, बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन है ? उन त्रस स्थावर सूक्ष्म और बादर सभी प्राणियो की हिंसासे निवृत्त रहना चाहिये। जो पुरुष ऐसा करता है वस्तुत वही ज्ञानी है। जीव-हिंसासे निवृत्त रहना ही अपनी और दूसरेको शान्तिका कारण होनेके कारण शान्ति है। जो पुरुष जीवहिंसा नहीं करता है उससे कोई प्राणी डरते नहीं है और वहभी जन्मान्तरमेंभी किसीसे नहीं डरता है। तथा मोक्षका प्रधान कारण होनेसे जीवहिंसासे निवृत्त रहना ही मोक्ष है। अथवा क्रोध न करना शान्ति है और सुखको निर्वाण कहते हैं अत जो पुरुष जीव-हिंसासे निवृत्त है वह आर्त्त तथा रौद्र ध्यानके अभावसे शान्तिरूप और सुखरूप है। ११

पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणई ।
णसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ॥१२॥

छाया-प्रभुर्दोषं निराकृत्य, न विरुध्येत केनचित् ।
मनसा वचसा चैव, कायेन चैवान्तशः ॥

अन्वयार्थ-(पभू दोसे निराकिच्चा) जितेन्द्रिय पुरुष दोषोको हटाकर (केणइ मणसा वयसा कायसा अंतसो ण विरुज्झेज्ज) किसी से मन वचन और काय के द्वारा विरोध न करे।

भावार्थ-जितेन्द्रिय पुरुष दोषोको हटाकर मन वचन और कायसे जीवन पर्यन्त किसीके साथ विरोध न करे।

किञ्चान्यत्-इन्द्रियाणां प्रभवतीति प्रभुर्वश्येन्द्रिय इत्यर्थः, यदिवा संयमावारकाणि कर्माण्यभिभूय मोक्षमार्गे पालयितव्ये प्रभुः-समर्थः, स एवंभूतः प्रभुः दूष-

टीकार्थ-जिसने इन्द्रियोंका विजय किया है उसे 'प्रभु' कहते है अथवा संयमका रोकने वाले कर्मोको जीतकर जो मोक्षमार्गको पालन करनेमें समर्थ है उसे प्रभु कहते हैं। वह पुरुष,

यन्तीति दोषा-मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगास्तान् 'निराकृत्य' अपनीय केनापि प्राणिना सार्धं 'न विरुध्येत' न केनचित्सह विरोधं कुर्यात्, त्रिविधेनापि योगेनेति मनसा वाचा कायेन चैवान्तशो-यावज्जीवं, परापकारक्रियया न विरोधं कुर्यादिति ॥१२॥ उत्तरगुणानधिकृत्याह—

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योगरूप दोषोंको दूर कर किसी प्राणीके साथ विरोध न करे। वह तीनो योगोंसे तथा मन वचन और शरीरसे जीवनभर दूसरेका अपकार करके किसीके साथ विरोध न करे। १२ अब शास्त्रकार उत्तर गुणोंके विषयमें कहते हैं—

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे।
एसणा मिए णिच्चं, वज्जयंते अणे णं ॥१३॥

छाया—संवृतः स महाप्राज्ञो धीरो दत्तैषणाश्चरेत्।
एषणा समितो नित्यं वर्जयन्तोऽनेषणाम् ॥

अन्वयार्थ—(से संवुडे महापन्ने धीरे) वह साधु बडा बुद्धिमान् और धीर है (दत्तेसण चरे) जो दिया हुआ एषणीय आहार आदि लेता है। (णिच्च एसणासमिए) तथा जो सदा एषणा समिति से युक्त रहता हुआ (अणेसण वज्जयते) अनेषणीय आहारको वर्जित करता है।

भावार्थ—वह साधु बडा बुद्धिमान् और धीर है जो सदा दूसरेका दिया हुआ एषणीय ही आहार आदि ग्रहण करता है तथा जो एषणा समितिसे युक्त रहकर अनेषणीय आहारको वर्जित करता है।

आश्रवद्वाराणां रोधेनेन्द्रियनिरोधेन च संवृतः स भिक्षुर्महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञो-विपुलबुद्धिरित्यर्थः, तदनेन जीवाजीवादिपदार्थाभिज्ञतावेदिता भवति, 'धीर' अक्षोभ्यः क्षुत्पिपासाद्युपसर्गपरीषहैर्न क्षोभ्यते, तदेव दर्शयति-आहारोपधिशय्यादिके स्वस्वामिना तत्संदिष्टेन वा दत्ते सत्येषणां चरति एषणीयं गृह्णातीत्यर्थः, एषणायां एषणाया वा गवेषणग्रहणग्रासरूपाया त्रिविधायामपि सम्यगितः समितः,

स साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां 'वर्जयन्' परित्यजन्संयममनुपालयेत्, उपलक्षणार्थत्वादस्य शेषाभिरपीर्यासमित्यादिभिः समितो द्रष्टव्य इति ॥१३॥

समितियो से युक्त रहता हुआ साधु सयमको पालन करे यह अर्थ भी जानना चाहिये । १३

भूयाइं च समारंभ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥१४॥

छाया–भूतानि च समारभ्य, तमुद्दिश्यच यत्कृतम् ।
तादृशन्तु न गृह्णीयादन्नपानं सुसंयतः ॥

अन्वयार्थ–(भूयाइ च समारव्भ) जो आहार भूतो का आरम्भ करके बनाया गया है (तमुद्दिस्सा य ज कड) तथा जो साधु को देनेके लिये किया गया है (तारिस तु अन्नपान) ऐसे अन्न पानको (सुसजए) उत्तम साधु (न गिह्नेज्जा) न ग्रहण करे ।

भावार्थ–जो आहार भूतोंको पीडा देकर तथा साधुओंको देनेके लिये किया गया है उसे उत्तम साधु ग्रहण न करे ।

अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याह–अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि भूतानि प्राणिनः 'समारभ्य' संरम्भसमारम्भारम्भैरुपताप्य तं साधुम् 'उद्दिश्य' साध्वर्थं यत्कृतं तदुपकल्पितमाहारोपकरणादिकं 'तादृशम्' आधाकर्मदोषदुष्टं 'सुसंयतः' सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैवाभ्यवहरेत्, एवं तेन मार्गोऽनुपालितो भवति ॥१४॥

टीकार्थ–अब शास्त्रकार अनेषणीय वस्तुका त्यागके विषयमे कहते हैं–जो पहले थे, तथा वर्तमानमे रहते है और भविष्यमेंभी रहेंगे उन्हें भूत कहते हे वे प्राणी हैं उन प्राणियोंको सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के द्वारा पीडा देकर तथा साधुओं को दान देनेके लिये जो आहार और उपकरण आदि बनाया गया है वह आधाकर्मरूप दोषसे दूषित है अत· ऐसे अन्न या पानको उत्तम तपस्वी साधु न खावे । तु शब्द एवकारार्थक है इसलिये ऐसे आहारको साधु कदापि न खावे यह अर्थ है । ऐसा करनेसे ही उस साधुके द्वारा मोक्षमार्गका पालन होता है । १४

पूईकम्मं न सेविज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
जं किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं न कप्पए ॥१५॥

छाया–पूतिकर्म न सेवेत, एस धर्मः संयमवतः ।
यत्किञ्चिदभिकाङ्क्षेत, सर्वशस्तन्न कल्पते ॥

१ भूयाइ समारभ समुद्दिस्सा य ज कडं समग्रेष्वादर्शेषु दृश्यमानेषु पाठ, टीकाया तु न तथा ।

अन्वयार्थ-(पूईकम्म न सेवेज्जा) जो आहार आधाकर्मी आहार के एक कण से भी युक्त है उसे साधु न सेवे। (वुसीमओ एस धम्मे) शुद्ध संयम पालनेवाले साधु का यही धर्म है (जं किंचि अभिकखेज्जा) शुद्ध आहारमें भी यदि अशुद्धिकी शङ्का हो जाय तो (सव्वसो त न कप्पए) वह भी साधु को ग्रहण करने योग्य नहीं है।

भावार्थ—आधाकर्मी आहारके एक कणसेभी मिला हुआ आहार साधु न लेवे। शुद्ध संयम पालने वाले साधुका यही धर्म है। तथा शुद्ध आहार में यदि अशुद्धिकी शङ्का हो जाय तो उसेभी साधु ग्रहण न करे।

किञ्च-आधाकर्माद्यविशुद्धकोट्यवयवेनापि संपृक्तं पूतिकर्म, तदेवंभूतमाहारादिकं 'न सेवेत' नोपभुञ्जीत, एषः-अनन्तरोक्तो धर्मः 'कल्पः : 'वुसीमओ' त्ति सम्यक्संयमवतोऽयमेवानुष्टानकल्पो यदुताशुद्धमाहारादिकं परिहरतीति, किञ्च-यदप्यशुद्धत्वेनाभिकाङ्क्षेत्-शुद्धमप्यशुद्धत्वेनाभिशङ्केत किञ्चिदप्याहारादिकं तत् 'सर्वशः' सर्वप्रकारमप्याहारोपकरणपूतिकर्म भोक्तुं न कल्पत इति ॥१५॥

टीकार्थ—जो आहार, आधाकर्मी आदि अविशुद्धि कोटिके आहारके एक कणसेभी मिला हुआ है उसे पूतिकर्म कहते है ऐसे आहार आदिको साधु उपभोग न करे, शुद्ध संयम पालने वाले साधुका यही स्वभाव धर्म अथवा रीति है कि—वे अशुद्ध आहार आदि नहीं लेते है। जो आहार शुद्ध होकरभी अशुद्धिकी शङ्कासे युक्त है वहभी साधुके ग्रहण करने योग्य नहीं है। १५

हणंतं णाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइंदिए।
ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु नगरेसु वा ॥१६॥

छाया—घ्नन्तं नानुजानीयादात्मगुप्तो जितेन्द्रियः।
स्थानानि सन्ति श्रद्धावतां ग्रामेषु नगरेषुवा ॥

अन्वयार्थ-(सड्ढीण गामेसु नगरेसुवा) धर्ममें श्रद्धा रखनेवाले श्रावकों के ग्रामोंमें या नगरोंमें (ठाणाणि संति) साधुओं का निवास होता है। (आयगुत्ते जिइंदिए) अत आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु (हणंतं णाणुजाणेज्जा) जीवहिंसा करनेवाले को अनुमति न देवे।

भावार्थ—श्रावकोंके ग्रामोंमें या नगरोंमें साधुओंको रहनेके लिये स्थान प्राप्त होता है अत वहा यदि कोई धर्मबुद्धिसे जीवहिंसामय कार्य्य करे तो आत्माको पापसे दूर रखनेवाला जितेन्द्रिय साधु उसको अनुमति न देवे।

किञ्चान्यत्-धर्मश्रद्धावतां ग्रामेषु नगरेषु वा खेटकर्बटादिषु वा 'स्थानानि' आश्रया 'सन्ति' विद्यन्ते, तत्र तत्स्थानाश्रित कश्चिद्धर्मोपदेशेन किल धर्मश्रद्धा-

लुतया प्राण्युपमर्दकारिणीं धर्मबुद्ध्या कूपतडागखननप्रपासत्रादिकां क्रियां कुर्यात् तेन च तथाभूतक्रियायाः कर्त्रा किमत्र धर्मोऽस्ति नास्तीत्येवं पृष्टोऽपृष्टो वा तदुपरोधाद्भयाद्वा तं प्राणिनो घ्नन्तं नानुजानीयात्, किंभूतः सन् ?–'आत्मना' मनोवाक्कायरूपेण गुप्त आत्मगुप्तः तथा 'जितेन्द्रियो' वश्येन्द्रियः सावद्यानुष्ठानं नानुमन्येत ॥१६॥ सावद्यानुष्ठानानुमतिं परिहर्तुकाम आह—

धर्मोपदेश सुनकर जीवोंका घात करनेवाली क्रिया अर्थात् कूप खोदाना, पानीशाला बनाना या अन्नक्षेत्र करना आदि क्रियायें करना चाहता हो, और वह साधुके पास आकर पूछे कि इस कार्य्यमे धर्म है या नहीं है ? अथवा न पूछे तो साधु उसके शर्मसे अथवा भयसे प्राणियोंकी हिंसा करते हुए उस पुरुषको अनुज्ञा न देवे। (प्रश्न) कैसा होकर ? (उत्तर) मन वचन और कायसे गुप्त होकर तथा इन्द्रियोंको वश कर साधु सावद्य अनुष्ठानका अनुमोदन न करे। १६ सावद्य अनुष्ठानके अनुमोदनका त्याग करनेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—

तहा गिरं समारब्भ, अत्थि पुण्णंति णो वए।
अहवा णत्थि पुण्णंति, एवमेयं महब्भयं ॥१७॥

छाया–तथा गिरं समारभ्य, अस्ति पुण्यमिति नो वदेत्।
अथवा नास्ति पुण्य मित्येवमेतद् महाभयम् ॥

अन्वयार्थ–(तहा गिर समारब्भ) उस प्रकारकी वाणी सुनकर (अत्थि पुण्णति णो वए) पुण्य है यह न कहे (अथवा णत्थि पुण्णंति एव मेय महब्भय) अथवा पुण्य नहीं है यह कहना भी महान् भयदायक है।

भावार्थ–यदि कोई कूप आदि खोदाना चाहता हुआ साधुसे पूछे कि "मेरे इस कार्य्यमें पुण्य है या नहीं है ?" तो इस वाणीको सुनकर साधु, पुण्य है यह न कहे तथा पुण्य नहीं है यह कहनाभी महान् भयका कारण है इसलिये यह भी न कहे।

केनचिद्राजादिना कूपखननसत्रदानादिप्रवृत्तेन पृष्टः साधुः-किमस्मदनुष्ठाने अस्ति पुण्यमाहोस्विन्नास्तीति ?, एवंभूतां गिरं 'समारभ्य' निशम्याश्रित्य अस्ति पुण्यं नास्ति वेत्येवमुभयथापि महाभयमिति मत्वा दोषहेतुत्वेन नानुमन्येत ॥१७॥

टीकार्थ–कूप खोदाना या अन्नसत्र बनाना आदि कार्य्यमे प्रवृत्त कोई राजा आदि साधु से यदि पूछे कि मेरे इस कार्य्यमे पुण्य है या नहीं है तो साधु उसकी वाणी सुनकर 'पुण्य है या नहीं है' इन दोनो उत्तरोमे दोष देखकर तथा दोनोमें महान् भय जानकर किसीका भी अनुमोदन न करे। १७

दाणट्ठया य जे पाणा, हम्मंति तसथावरा ।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थित्ति णो वए ॥१८॥

छाया-दानार्थञ्च ये प्राणाः हन्यन्ते त्रसस्थावराः ।
तेषां संरक्षणार्थाय तस्मादस्तीति नो वदेत् ॥

अन्वयार्थ-(दाणट्ठया) अन्नदान या जलदान देनेके लिये (जे तसथावरा पाणा हम्मति) जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं (तेसिं सारक्खणट्ठाए) उनकी रक्षा करने के लिये (अत्थित्ति णो वए) पुण्य होता है यह नहीं कहे।

भावार्थ—अन्नदान और जलदान देनेके लिये जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं उनकी रक्षाके लिये साधु "पुण्य होता है" यह न कहे ।

किमर्थं नानुमन्येत इत्याह-अन्नपानदानार्थमाहारमुदकं च पचनपाचनादिकया क्रियया कूपखननादिकया चोपकल्पयेत्, तत्र यस्माद् 'हन्यन्ते' व्यापाद्यन्ते त्रसाः स्थावराश्च जन्तवः तस्मात्तेषां 'रक्षणार्थं' रक्षानिमित्तं साधुरात्मगुप्तो जितेन्द्रियोऽत्र भवदीयानुष्ठाने पुण्यमित्येवं नो वदेदिति ॥१८॥

टीकार्थ—कूप खोदाना अन्नशाला या जलशाला बनाना आदि कार्योंका साधु अनुमोदन क्यों नहीं करे ? इसका समाधान देनेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—अन्नदान देनेके लिये पचन पाचन आदि क्रियाके द्वारा आहार बनाया जाता है और जलदान देनेके लिये कूप आदि खोदना पड़ता है इन कार्योंमें त्रस और स्थावर प्राणियोंका नाश होता है अत इनकी रक्षा के लिये आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु "तुम्हारे अनुष्ठानमे पुण्य है" यह न कहे। १८

जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं ।
तेसिं लाभंतरायंति, तम्हा णत्थित्ति णो वए ॥१९॥

छाया-येषान्तदुपकल्पयन्त्यन्नपान तथाविधम् ।
तेषां लाभान्तराय इति, तस्मान्नास्तीति नो वदेत ॥

यद्येवं नास्ति पुण्यमिति ब्रूयात्, तदेतदपि न ब्रूयादित्याह-'येषां' जन्तूनां कृते 'तद्' अन्नपानादिकं किल धर्मबुद्ध्या 'उपकल्पयन्ति' तथाविधं प्राण्युपमर्ददोषदुष्टं निष्पादयन्ति, तन्निषेधे च यस्मात् 'तेषाम्' आहारपानार्थिनां तत् 'लाभान्तरायो' विघ्नो भवेत्, तदभावेन तु ते पीडयेरन्, तस्मात्कूपखननसत्रादिके कर्मणि नास्ति पुण्यमित्येतदपि नो वदेदिति ॥१९॥

टीकार्थ—अन्नदानके लिये पचन पाचन आदि क्रिया करनेमे तथा जलदानके लिये कूप खोदने आदि कार्य्यमे बहुत जीव मरते है अत इस कार्य्यमे पुण्य नहीं होता है यह साधु क्यों नहीं कह देता है ? कहते है कि साधु यहभी न कहे क्योंकि जिन प्राणियोंको दान देनेके लिये जीवोंका नाशरूप दोषसे दूषित वह अन्न और जल धर्म समझकर बनाया जाता है उस अन्न जलमे पुण्य नहीं है ऐसा कहनेपर उस अन्न और जलकी इच्छा करनेवाले प्राणियो के लाभमे अन्तराय होगा और वे विचारे उस अन्न और जलके अभावसे पीडा पावेंगे इसलिये कूप खोदना तथा अन्नशाला बनाना आदि कार्य्योमे पुण्य नही होता है यहभी साधु न कहे । १९

जे य दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥२०॥

छाया—ये च दानं प्रशंसन्ति वधमिच्छन्ति प्राणिनाम् ।
ये च तं प्रतिषेधन्ति, वृत्तिच्छेदं कुर्वन्ति ते ॥

अन्वयार्थ—(ये य दाण पससति) जो दानकी प्रशसा करते हैं (वह मिच्छति पाणिण) वे प्राणियों के वधकी इच्छा करते हैं । (जेयण पडिसेहंति) और जो दानका निषेध करते है (ते वित्तिछेय करति) वे जीविका का छेदन करते हैं ।

भावार्थ—जो दानकी प्रशंसा करते हैं वे प्राणियोंके वधकी इच्छा करते है और जो दानका निषेध करते हैं वे प्राणियोंकी वृत्तिका छेदन करते है ।

एनमेवार्थं पुनरपि समासतः स्पष्टतरं बिभणिषुराह-ये केचन प्रपासत्रादिकं दानं बहूनां जन्तूनामुपकारीतिकृत्वा 'प्रशंसन्ति' श्लाघन्ते 'ते' परमार्थानभिज्ञाः प्रभूततरप्राणिनां तत्प्रशंसाद्वारेण 'वधं' प्राणातिपातमिच्छन्ति, तद्दानस्य प्राणातिपातमन्तरेणानुपपत्तेः, येऽपि च किल सूक्ष्मधियो वयमित्येवं मन्यमाना आगम-

टीकार्थ—इसी वातको संक्षेपसे स्पष्ट वतानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—जलशाला बनाना अथवा अन्नशाला खोलना आदि दानोंको बहुत जीवोंका उपकारक मानकर जो इनकी प्रशसा करते है वे सच्ची वात नहीं जानते हैं, वे उक्त दानोंकी प्रशसाके द्वारा बहुत प्राणियोंका घात कराना चाहते हैं क्योंकि प्राणियोंके घातके विना जलदान या अन्नदान नहीं हो सकता है ।

सद्भावानभिज्ञाः 'प्रतिषेधन्ति' निषेधयन्ति तेऽप्यगीतार्था प्राणिनां 'वृत्तिच्छेदं' वर्तनोपायविघ्नं कुर्वन्तीति ॥२०॥ तदेवं राज्ञा अन्येन वेश्वरेण कूपतडागयागसत्र-दानाद्युद्यतेन पुण्यसद्भाव पृष्टैर्मुमुक्षुभिर्यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

तथा जो अपने को सूक्ष्म बुद्धिवाला मानता हुआ आगमके रहस्यका अज्ञाता पुरुष उक्त दानो का निषेध करता है वहभी गीतार्थ नही है क्योंकि वह प्राणियो की जीविका का विनाश करता है। २०

इसप्रकार राजा महाराजा आदि तथा दूसरा कोई धनवान् पुरुष, कूप खोदाना तालाव खोदाना यज्ञ करना अन्न दान देना आदि कर्म करनेके लिये उद्यत होकर साधुसे इन कर्मोंमें पुण्यका अस्तित्व पूछे तो मोक्षार्थी मुनिको जो करना चाहिये वह शास्त्रकार बतलाते हैं—

दुहओवि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आयं रयस्स हेच्चा णं, निव्वाणं पाउणंति ते ॥२१॥

छाया—द्विधाऽपि ते न भाषन्ते, अस्ति वा नास्ति वा पुनः।
आयं रजसो हित्वा, निर्वाणं प्राप्नुवन्ति ते ॥

विषये मुमुक्षुणामधिकार एव नास्तीति, उक्तं च-"सत्यं वप्रेपु शीतं शशिकरधवलं वारि पीत्वा प्रकामं, व्युच्छिन्नाशेषतृष्णाः प्रमुदितमनसः प्राणिसार्था भवन्ति । शोषं नीते जलौघे दिनकरकिरणैर्यान्त्यनन्ता विनाशं, तेनोदासीनभावं व्रजति मुनिगणः कूपवप्रादिकार्ये ॥१॥" तदेवमुभयथापि भाषिते 'रजसः' कर्मण 'आयो' लाभो भवतीत्यतस्तमायं रजसो मौनेनानवद्यभाषणेन वा 'हित्वा' त्यक्त्वा 'ते' वद्यभाषिणो 'निर्वाणं' मोक्षं प्राप्नुवन्तीति ॥२१॥

आहार लेते है अत ऐसे विषयमे मोक्षार्थी पुरुषोका अधिकार नहीं है" । अतएव कहा है कि (सत्यं) अर्थात् जलाशयोंमे ठढा और चन्द्रकिरणके समान सफेद जलको पीकर प्राणिवर्ग तृष्णारहित और प्रसन्नचित्त हो जाते हैं यह सत्य है तथापि सूर्यके किरणोंद्वारा जलाशयका जल सूख जानेपर अनन्तप्राणी नाशको प्राप्त होते है इसलिये मुनि महात्मा. कूप खोदने और तालाव वनाने आदि दानोंमे पुण्य या पाप दोनोही बातोके कहनेसे कर्मका बन्ध होना जानकर इस विषयमे मौन रहकर तथा निरवद्य भाषणके द्वारा कर्मके आयको त्याग कर मोक्षको प्राप्त करते हैं । २१

निव्वाणं परमं बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा ।
हा दा जए दंते, निव्वाणं संधए मुणी ॥२२॥

छाया-निर्वाणं परमं बुद्धाः नक्षत्राणामिव चन्द्रमाः ।
तस्मात् सदा यतो दान्तः निर्वाणं साधयेन्मुनिः ॥

अन्वयार्थ-(नक्खत्ताण चदिमाव) जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा पधान है एसी तरह (निव्वाण परम बुद्धा) निर्वाणको सबसे उत्तम माननेवाले पुरुष सबसे श्रेष्ठ हैं । (मुणी सया जए दते निव्वाण सधए) इस लिये मुनि, सदा प्रयत्नशील और जितेन्द्रिय होकर मोक्षका साधन करे ।

भावार्थ-जैसे चन्द्रमा सब नक्षत्रों मे प्रधान है इसीतरह मोक्षको सबसे उत्तम जाननेवाला पुरुष सबसे प्रधान है अतः मुनि सदा प्रयत्नशील और जितेन्द्रिय होकर मोक्षका साधन करे।

अपिच-निर्वृतिर्निर्वाणं तत्परमं-प्रधानं येषां परलोकार्थिनां बुद्धानां ते तथा तानेव बुद्धान् निर्वाणवादित्वेन प्रधानानित्येतद्दृष्टान्तेन दर्शयति-यथा 'नक्षत्राणाम्' अश्विन्यादीनां सौम्यत्वप्रमाणप्रकाशकत्वैरभिकश्चन्द्रमाः, एवं परलोकार्थिनां बुद्धानां मध्ये ये स्वर्गचक्रवर्तिसंपन्निदानपरित्यागेनाशेषकर्मक्षयरूपं निर्वाणमेवाभिसंधाय

टीकार्थ-सच्चे सुखको निर्वाण कहते हैं, उसको सबसे प्रधान माननेवाले परलोकार्थी तत्त्वज्ञ पुरुष, निर्वाणवादी होनेके कारण सबसे प्रधान हैं, यह शास्त्रकार दृष्टान्तके द्वारा बताते है-जैसे अश्विनी आदि नक्षत्रोंमे सुन्दरता, प्रमाण, और प्रकाश रूप गुणोंके द्वारा चन्द्रमा

१ वप्रप्राकाररोधसो ।

प्रवृत्तास्त एव प्रधाना नापर इति, यद्विवा यथा नक्षत्राणां चन्द्रमाः प्रधानभाव-मनुभवति एव लोकस्य निर्वाणं परमं प्रधानमित्येवं 'बुद्धा' अवगततत्त्वाः प्रति-पादयन्तीति, यस्माच्च निर्वाणं प्रधानं तस्मात्कारणात् 'सदा' सर्वकालं 'यतः' प्रयतः प्रयत्नवा (ग्रं० ६०००) न् इन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन दान्तो 'मुनि' साधुः 'निर्वाणम-भिसंधयेत्' निर्वाणार्थं सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः ॥२२॥

प्रधान है इसी तरह परलोकार्थी तत्त्वज्ञ पुरुषोमें जो पुरुष स्वर्ग, चक्रवर्ती और सम्पति मिलने की इच्छा को त्यागकर समस्त कर्मोके क्षयरूप मोक्षमें प्रवृत्त है वेही प्रधान हैं दूसरे नहीं। अथवा जैसे नक्षत्रोंमे चन्द्रमा प्रधान है इसीतरह मोक्ष सबसे श्रेष्ठ है यह तत्त्वज्ञ पुरुष कहते है। मोक्ष सबसे श्रेष्ठ है इसलिये साधु सदा प्रयत्नशील और इन्द्रिय तथा मनको वश करके मोक्षके लिये सब क्रियाये करे। २२

बुज्झमाणाण पाणाणं, किच्चंताण स म्मुणा।
आघाति साहु तं दीवं, पतिट्ठेसा पवुच्चई ॥२३॥

छाया—उह्यमानानां प्राणानां, कृत्यमानानां स्वकर्मणा।
आख्याति साधु तद् द्वीपं, प्रतिष्ठैषा प्रोच्यते ॥

रतिश्रान्तस्य विश्रामहेतुं द्वीपं कश्चित्साधुर्वत्सलतया समाख्याति, एवं तं तथाभूतं 'द्वीपं' सम्यग्दर्शनादिकं संसारभ्रमणविश्रामहेतुं परतीर्थिकैरनाख्यातपूर्वमाख्याति, एवं च कृत्वा प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा-संसारभ्रमणविरतिलक्षणैषा सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिसाध्या मोक्षप्राप्तिः प्रकर्षेण तत्त्वज्ञैः 'उच्यते' प्रोच्यत इति ॥२३॥

विश्राम देनेके लिये कोई दयालु साधु द्वीपका उपदेश करता है इसीतरह संसारमे भ्रमणकरनेसे थके हुए प्राणियोके विश्रामके लिये तीर्थकर आदि, परतीर्थियोके द्वारा उपदेश न किये हुए सम्यग्दर्शन आदिका उपदेश करते हैं। तत्त्वज्ञ पुरुष कहते है कि इस सम्यग्दर्शन आदिके द्वारा ही जीवको संसार भ्रमणसे विश्राम प्राप्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। २३

आयगुत्ते या दंते, छिन्नसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुन्नमणेलिसं ॥२४॥

छाया-आत्मगुप्तः सदा दान्त च्छिन्नस्रोता अनाश्रवः।
यो धर्मं शुद्ध माख्याति प्रतिपूर्ण मनीदृशम् ॥

अन्वयार्थ-(आयगुत्ते) अपने आत्माको पापसे गोपन करनेवाला (सयादते) तथा सदा जितेन्द्रिय होकर रहनेवाला (छिन्नसोए) ससारकी मिथ्यात्व आदि धाराको तोडा हुआ (अणासवे) तथा आश्रव रहित जो पुरुष है वही (पडिपुन्न) परिपूर्ण (अणेलिस) और उपमारहित (सुद्र धम्म अक्खाति) शुद्ध धर्मका उपदेश करता है।

भावार्थ-मन वचन और कायसे आत्माको पापसे बँचानेवाला, जितेन्द्रिय एव संसारकी मिथ्यात्व आदि धाराको काटा हुआ आश्रवरहित पुरुष परिपूर्ण उपमारहित शुद्ध धर्मका उपदेश करता है।

किंभूतोऽसावाश्वासद्वीपो भवति? कीदृग्विधेन वाऽसावाख्यायत इत्येतदाह-मनोवाक्कायैरात्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तः, तथा 'सदा' सर्वकालमिन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन दान्तो-वश्येन्द्रियो धर्मध्यानध्यायी वेत्यर्थः, तथा छिन्नानि-त्रोटितानि संसारस्रोतांसि येन स तथा, एतदेव स्पष्टतरमाह-निर्गत आश्रव.-प्राणातिपातादिक कर्मप्रवेशद्वाररूपो यस्मात्स निराश्रवो य एवंभूतः स 'शुद्धं' समस्तदोषापेतं धर्ममाख्याति, किंभूतं धर्म?-'प्रतिपूर्णं' निरवयवतया सर्वविरत्याख्यं मोक्षगमनैकहेतुम्

टीकार्थ-प्राणियोके विश्रामका कारणरूप वह द्वीप कैसा है? तथा कैसा पुरुष उस द्वीपका उपदेश करता है? यह बतानेके लिये शास्त्रकार कहते है-जिसका आत्मा, मन वचन, और कायसे गुप्त है तथा जो सदा इन्द्रिय और मनको दमन करके इन्द्रियोको वश करलिया है अथवा धर्मध्यानको ध्याता है तथा जिसने संसारकी धाराको छेदन करदिया है (वेही साफ साफ बताते है) अर्थात् कर्मके प्रवेशके द्वाररूप प्राणातिपात आदि आश्रव जिसके नष्ट हो गये है

'अनीदृशम्' अनन्यसदृशमद्वितीयमितियावत् ॥२४॥ एवंभूतधर्मव्यतिरेकिणां दोषाभिधित्सयाऽऽह—

वही पुरुष समस्त दोषोंसे रहित शुद्ध धर्मका उपदेश करता है। वह धर्म कैसा है? मोक्ष जानेका कारणरूप सर्वविरतिनामक वह धर्म अनुपम तथा अद्वितीय है। २४

तमेव अविजाणंता, अ द्धा बुद्ध ाणिणो ।
बुद्धा मोत्ति य ंता, अं एते माहिए ॥२५॥

छाया—तमेवाविजानाना अबुद्धाः बुद्धमानिनः ।
बुद्धाः स्मेति मन्यमाना अन्तएते समाधेः ॥

अन्वयार्थ-(तमेव अवियाणता) उसी प्रतिपूर्ण धर्मको न जानते हुए (अबुद्धा बुद्धमाणिणो) अज्ञानी होकर भी अपनेको ज्ञानी माननेवाले (बुद्धा मोत्तिय मन्नता) "मैं ज्ञानी हूं" ऐसा माननेवाले (एते समाहिए अते) पुरुष समाधि से दूर हैं।

भावार्थ—पूर्वोक्त शुद्ध धर्मको न जानते हुए, अविवेकी होकर भी अपनेको विवेकी माननेवाले अन्यदर्शनी समाधिसे दूर है।

तमेवंभूत शुद्धं परिपूर्णमनीदृशं धर्ममजानाना 'अप्रबुद्धा' अविवेकिनः 'पण्डितमानिनो' वयमेव प्रतिबुद्धा धर्मतत्त्वमित्येवं मन्यमाना भावसमाधेः-सम्यग्दर्शना-

किमिति ते तीर्थिका भावमार्गरूपात्समाधेर्दूरे वर्तन्त इत्याशङ्कयाह–'ते च' शाक्यादयो जावाजीवानभिज्ञतया 'वीजानि' शालिगोधूमादीनि, तथा 'शीतोदकम्' अप्रासुकोदकं, तांश्चोद्दिश्य तद्भक्तैर्यदाहारादिकं 'कृतं' निष्पादितं तत्सर्वमविवेकितया ते शाक्यादयो 'भुक्त्वा' अभ्यवहृत्य पुनः सातर्द्धिरसगौरवासक्तमनसः संघभक्तादिक्रियया तदवाप्तिकृते आर्तं ध्यानं ध्यायन्ति, न ह्यैहिकसुखैषिणां दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहवतां धर्मध्यानं भवतीति, तथा चोक्तम्–"ग्रामक्षेत्रगृहादीनां, गवां प्रेष्यजनस्य च । यस्मिन्परिग्रहो दृष्टो, ध्यानं तत्र कुतः शुभम् ? ॥१॥" इति, तथा–"मोहस्यायतनं धृतेरपचयः शान्तेः प्रतीपो विधिर्व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं पापस्य वासो निजः । दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः, प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ॥१॥" तदेवं पचनपाचनादिक्रियाप्रवृत्तानां तदेव चानुप्रेक्षमाणानां कुतः शुभध्यानस्य संभवः? इति । अपिच–ते तीर्थिका धर्माधर्मविवेके कर्तव्ये 'अखेदज्ञा' अनिपुणाः, तथाहि–शाक्या मनोज्ञाहारवसतिशय्यासनादिकं रागकारणमपि शुभध्याननिमित्तत्वेनाध्यवस्यन्ति, तथा चोक्तम्–'मणुण्णं भोयणं भुच्चे'त्यादि, तथा मांसं कल्किकमित्युपदिश्य संज्ञान्तर-

---

टीकार्थ–वे अन्यतीर्थी भावमार्गरूप समाधिसे क्यों दूर रहते हैं ? यह शङ्का करके शास्त्रकार समाधान देते हैं–वे शाक्य आदि परतीर्थी जीव और अजीव आदि तत्त्वोंको न जाननेके कारण शालि और गेहूं आदि वीज तथा अप्रासुक जल एवं उनको दान देनेकेलिये उनके भक्तोंके द्वारा वनाये हुए आहारको अज्ञानवश भोगते हैं और सुख, ऋद्धि, तथा मान बडाईमें आसक्त रहते हैं । तथा वे बुद्धसंघके लिये आहार बनवाने और उसकी प्राप्तिके लिये आर्त्तध्यान करते हैं । जो लोग इसलोकका सुख चाहते हैं तथा दासी, दास, धन और धान्य आदि परिग्रह रखते हैं उनको धर्मध्यान होना सम्भव नहीं है । अतएव कहा है कि–जो पुरुष, ग्राम, क्षेत्र, और गृह आदिका परिग्रह करता है उसको शुभ ध्यान कहांसे होगा ? । तथा परिग्रह, मोहका घर है, धीरताका ह्रास करता है, शान्तिका नाशक है, चित्तको चञ्चल करता है, मदका घर है, पापका निवासस्थान है, दुःखकी उत्पत्तिका कारण है, सुखका विनाशक है, ध्यानका कष्टदायक रिपु है, वह ग्रहकी तरह विद्वानोंकोभी क्लेश देता है और नाश कर डालता है । अतः पचन पाचन आदि क्रियामें प्रवृत्त रहनेवाले और उसी बातकी चिन्ता करनेवाले पुरुषोंको शुभध्यान कहांसे हो सकता है ? । तथा वे शाक्य आदि धर्म और अधर्मके विवेकमें निपुण नहीं हैं क्योंकि वे मनोज्ञ आहार, मनोज्ञ गृह, मनोज्ञ शय्या और मनोज्ञ आसन आदि जो वस्तुतः रागके कारण हैं उन्हें शुभध्यानका कारण मानते हैं । जैसा कि वे कहते हैं–"मणुन्नं भोयणं भोच्चा" इत्यादि । अर्थात मनोज्ञ भोजन खाने आदिमें शुभध्यान होता है । तथा वे मांसका कल्किक नाम रखकर नाम बदलजानेसे उसके खानेमें दोष नहीं मानते हैं । एवं बुद्धसंघके लिये किये जानेवाले आरम्भको वे निर्दोष कहते हैं । अतएव कहा है कि–"मंस" अर्थात अज्ञानी शाक्य

समाश्रयणान्निर्दोषं मन्यन्ते, बुद्धसङ्घादिनिमित्तं चारम्भं निर्दोषमिति, तदुक्तम्-
"[1]मंसनिवत्ति काउं सेवइ दंतिकगंति धणिभेया । इय चइऊणारंभं परववएसा कुणइ बालो ॥१॥" न चैतावता तन्निर्दोषता, न हि लूतादिकं शीतलिकाद्यभिधानान्तरमात्रेणान्यथात्वं भजते, विषं वा [2]मधुरकाभिधानेनेति, एवमन्येषामपि कापिलादीनामाविर्भावतिरोभावाभिधानाभ्यां विनाशोत्पादावभिदधतामनैपुण्यमाविष्करणीय । तदेवं ते वराकाः शाक्यादयो मनोज्ञोद्दिष्टभोजिनः सपरिग्रहतयाऽऽर्तध्यायिनोऽसमाहिता मोक्षमार्गाख्याद्भावसमाधेरसंवृततया दूरेण वर्तन्त इत्यर्थः ॥२६॥

आदि मांस खाना त्यागकर भी उसका कल्पित नाम रखकर खाते है । एव आरम्भको छोड़कर सघके नामसे पकवाकर स्वयं खाते है । परन्तु नाम बदलनेसे निर्दोषता नहीं हो सकती है, जैसे लूता यानी गर्मीके ऋतुमें जो अत्यन्त ताप होता है उसका शीतलिका (ठंढक) नाम रखनेसे उसके गुणमे फर्क नही होता है । अथवा कोई विषका अमृत नाम रखकर व्यवहार करे तो वह मृत्युसे बॅचता नहीं है । इसीतरह उत्पत्ति और विनाशको आविर्भाव और तिरोभाव शब्दसे कहने वाले कपिल मतवालोकी भी अनिपुणता कहनी चाहिये । इसप्रकार मनोज्ञ तथा उद्दिष्ट आहार खाने वाले और परिग्रह रखनेके कारण आर्त्तध्यान करनेवाले समाधिरहित विचारे शाक्य आदि समाधिमार्गसे दूर रहते है । २६

जहा ढंका य कंका य, कुलला ग्गुका सिही ।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥२७॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया ।
विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाह ।॥२८॥

छाया—यथा ढङ्काश्च कङ्काश्च, कुररा मद्गुकाः सिधाः ।
मत्स्यैषण ध्यायन्ति, ध्यानं तत् कलुषाधमम् ॥
एवं तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्याः ।
विषयैषणं ध्यायन्ति, ध्यानन्तत् कलुषाधमम् ॥

'शुद्धम्' अवदातं निर्दोषं 'मार्गं' सम्यग्दर्शनादिकं मोक्षमार्गं कुमार्गप्ररूपणया 'विराध्य' दूषयित्वा 'इह' अस्मिन्संसारे मोक्षमार्गप्ररूपणप्रस्तावे वा 'एके' शाक्यादयः स्वदर्शनानुरागेण महामोहाकुलितान्तरात्मानो दुष्टा पापोपादान । मतिर्येषां ते दुष्टमतयः सन्त उन्मार्गेण-संसारावतरणरूपेण गताः-प्रवृत्ता उन्मार्गगता दुःखयतीति दुःखम्-अष्टप्रकारं कर्मासातोदयरूपं वा तद्दुःखं घातं चान्तशस्ते तथा-सन्मार्गविराधनया उन्मार्गगमनं च 'एषन्ते, अन्वेषयन्ति, दुःखमरणे शतशः प्रार्थयन्तीत्यर्थः ॥२९॥

टीकार्थ—दोषरहित जो सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग है उसकी शाक्य आदि कुमार्गकी प्ररूपणा करके विराधना करते है । इस संसारमें अथवा मोक्षमार्गके प्रसङ्गमें शाक्य आदिकोंका हृदय अपने दर्शनके अनुरागके कारण महामोहसे दूषित हो गया है एवं उनकी बुद्धि पापका कारण हो गई है, वे संसारमें उतरनेवाले मार्गसे चलते है । अत अच्छे मार्गकी विराधना करनेके कारण वे अन्तमें आठ प्रकारके कर्मोका बन्ध अथवा असातावेदनीयको प्राप्त करते है । वे सैकडो वार दु ख और मरणकी प्रार्थना करते है यह भाव है । २९

जहा आसाविणि नावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयति ॥३०॥

छाया—यथाऽऽस्राविणीं नावं, जात्यन्धो दुरुह्य ।
इच्छति पार मागन्तु मन्तरा च विषीदति ॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया ।
सोयं कसिणमावन्ना, आगंतारो महब्भयं ॥३१॥

छाया–एवन्तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्याः ।
स्रोतः कृत्स्नमापन्ना आगन्तारो महाभयम् ॥

अन्वयार्थ–(एव तु मिच्छदिट्ठी अणारिया एगे समणा) इसीतरह मिथ्यादृष्टि कोई अनार्य्य श्रमण (कसिण सोय आवन्ना) पूर्णरूपसे आश्रवका सेवन करते है (महब्भय आगतारो) अत. वे महा भयको प्राप्त करेंगे ।

भावार्थ–इसीतरह मिथ्यादृष्टि अनार्य्य कोई श्रमण पूर्णरूपसे आश्रवका सेवन करते हैं, वे महान् भयको प्राप्त होगें ।

दार्ष्टान्तिकमाह–एवमेव श्रमणा 'एके' शाक्यादयो मिथ्यादृष्टयोऽनार्या भावस्रोत.–कर्माश्रवरूपं 'कृत्स्नं' संपूर्णमापन्नाः सन्तस्ते 'महाभयं' पौन.पुन्येन संसारपर्यटनया नारकादिस्वभावं दुःखम् 'आगन्तारः' आगमनशीला भवन्ति, न तेषां संसारोदधेरास्त्राविर्णीं नावं व्यवस्थितानामिवोत्तरणं भवतीति भावः ॥३१॥

टीकार्थ–दृष्टान्त बताकर अब शास्त्रकार दार्ष्टान्त बताते है–जैसे जन्मान्ध पुरुष छिद्रवाली नावपर चढकर बीचमेही डूब जाता है इसीतरह मिथ्यादृष्टि अनार्य्य शाक्य आदि श्रमण, कर्मोंके आस्रव रूप सम्पूर्ण भावस्रोतको प्रा त होते है तथा वे बारबार संसारमे पर्य्यटन करते हुए नरकादि दु खोंको प्राप्त करते है । जैसे छिद्रवाली नावपर बैठे हुए पुरुष बीच जलमे डूब जाते है इसी तरह वे शाक्य आदि संसार सागरमे डूबते है । ३१

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं ।
तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए ॥३२॥

छाया–इमञ्च धर्ममादाय, काश्यपेन प्रवेदितम् ।
तरेत्स्रोतो महाघोर मात्मत्राणाय परिव्रजेत् ॥

अन्वयार्थ–(कासवेण पवेदित) काश्यगोत्री भगवान् महावीर स्वामी से बताये हुए (इम च धम्म आदाय) इम धर्मको प्राप्त करके (महाघोर) महा घोर (सोय) ससार सागरको (तरे) साधु पार करे (आत्तत्ताए परिव्वए) तथा आत्मरक्षाके लिये सयमको पालन करे ।

भावार्थ–काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामीसे कहे हुए इस धर्मको प्राप्त करके बुद्धिमान पुरुष महाघोर संसार सागरको पार करे तथा आत्मकल्याणके लिये संयमका पालन करे ।

यतः शाक्यादयः श्रमणाः मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः कृत्स्न स्रोतः समापन्नाः महाभयमागन्तारो भवन्ति तत इदमुपदिश्यते-'इम'मिति प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमोऽनन्तरं वक्ष्यमाणलक्षणं सर्वलोकप्रकटं च दुर्गतिनिषेधेन शोभनगतिधारणात् 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, स च पूर्वस्माद्व्यतिरेकं दर्शयति, यस्माच्छौद्धोदनिप्रणीतधर्मस्यादातारो महाभयं गन्तारो भवन्ति, इमं पुनर्धर्मम् 'आदाय' गृहीत्वा 'काश्यपेन' श्रीवर्धमानस्वामिना 'प्रवेदितं' प्रणीतं 'तरेत्' लङ्घयेद्भावस्रोतः संसारपर्यटनस्वभावं, तदेव विशिनष्टि-'महाघोरं' दुरुत्तरत्वान्महाभयानकं, तथाहि-तदन्तर्वर्तिनो जन्तवो गर्भाद्गर्भं जन्मतो जन्म मरणान्मरणं दुःखाद्दुःखमित्येवमरघट्टघटीन्यायेनानुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते । तदेव काश्यपप्रणीतधर्मादानेन सता आत्मनस्त्राणं-नरकादिरक्षा तस्मै आत्मत्राणाय परिः-समन्ता (द्व्रजे) त्परिव्रजेत्संयमानुष्ठायी भवेदित्यर्थः, क्वचित्पश्चार्धस्यान्यथा पाठः-'कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए' 'भिक्षुः' साधुः ग्लानस्य वैयावृत्यम् 'अग्लानः' अपरिश्रान्तः कुर्यात्सम्यक्समाधिना ग्लानस्य वा समाधिमुत्पादयन्निति ॥३२॥ कथं संयमानुष्ठाने परिव्रजेदित्याह—

टीकार्थ—मिथ्यादृष्टि, अनार्य्य, शाक्य आदि पूर्णरूपसे संसार सागरको प्राप्त कर महान् दु ख प्राप्त करते है अत शास्त्रकार यह उपदेश देते हैं—इदम् शब्द प्रत्यक्ष और निकटवर्ती वस्तुका वाचक है इसलिये जिसका स्वरूप आगे चलकर कहा जावेगा तथा जो सब लोकमें प्रसिद्ध है एव जो जीवको दुर्गतिसे रोककर शुभ गतिमे लेजाता है वह श्रुत और चारित्ररूप धर्म (सब धर्मोंमे श्रेष्ट है) च शब्द पुन शब्दके अर्थमे आया है वह पूर्वोक्त शाक्यधर्मसे श्रुत और चारित्रधर्मकी विशिष्टता बताता है । बुद्धके कहे हुए धर्मको माननेवाले महाभयको प्राप्त होते हैं परन्तु काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामीके कहे हुए इस धर्मको स्वीकार करके भावस्रोतरूप संसार सागरसे जीव तरजाता है इसलिये यह धर्म सबसे श्रेष्ठ है । अब संसारका विशेषण बताते है—यह संसार महा भय देनेवाला है क्योंकि उसको पार करना कठिन है । संसारमे रहनेवाले प्राणी एक गर्भसे दूसरे गर्भमें तथा एक जन्मसे दूसरे जन्ममें एवं एक मरणसे दूसरे मरणमें तथा एक दु खसे दूसरे दु खमें जाते हुए अरहट यन्त्रकी तरह अनन्तकाल तक संसारमें ही फिरते रहते हैं अत इस संसार सागरसे अपनी रक्षा पानेके लिये जीवको वर्धमान स्वामीके उपदेश किये हुए धर्मको स्वीकार कर संयमका अनुष्ठान करना चाहिये । कहीं कहीं उत्तरार्धका पाठ इस प्रकार मिलता है कि- 'कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए' अर्थात् साधु रोगी साधुकी वैयावृत्य परिश्रम रहित तथा प्रसन्नचित्त होकर करे अथवा वह रोगी साधुको समाधि उत्पन्न करे । ३२ साधु संयमका पालन किस प्रकार करे सो शास्त्रकार दिखाते हैं—

विरए गामधम्मेहिं, जे केई जगई जगा ।
तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए ॥३३॥

तमेवंभूतं कषायव्रातं संयमपरिपन्थिनं 'पण्डितो' विवेकी परिज्ञाय सर्वमेनं संसार-कारणभूतं कषायसमूहं निराकृत्य निर्वाणमनुसंधयेत्, सति च कषायकदम्बके न सम्यक् संयमः सफलतां प्रतिपद्यते, तदुक्तम्-[1]"सामण्णमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति। मण्णामि उच्छुपुप्फं व, निष्फलं तस्स सामण्णं ॥१॥" तन्निष्फलत्वे च न मोक्षसंभवः, तथा चोक्तम्-"संसारादपलायनप्रतिभुवो रागादयो मे स्थिता-स्तृष्णाबन्धनबध्यमानमखिलं किं वेत्सि नेदं जगत्?। मृत्यो! मुञ्च जराकरेण परुषं केशेषु मा मा ग्रहीरेहीत्यादरमन्तरेण भवतः किं नागमिष्याम्यहम्? ॥१॥" इत्यादि। तदेवमेवंभूतकषायपरित्यागादच्छिन्नप्रशस्तभावानुसंधनया निर्वाणानु-संधानमेव श्रेय इति ॥३४॥

ये कषाय समूह संयमके शत्रु हैं अत विद्वान् मुनि संसारके कारण स्वरूप इन कषायोंको जानकर तथा इनको त्यागकर मोक्षका साधन करे। कषाय बने रहनेपर संयम अच्छी तरहसे नहीं पाला जा सकता है अतएव कहा है कि सयम पालन करते हुए जिस पुरुषके कषाय प्रबल हैं उसका साधुपन ईखके फूलकी तरह निष्फल है। अत. साधुपनके निष्फल होनेपर मोक्ष होना सभव नहीं है अतएव कहा है कि—हे मृत्यो! ससारसे भागकर अन्यत्र न जाने देनेवाले राग आदि मेरेमें विद्यमान हैं तथा समस्त जीव तृष्णारूपी बन्धनमें बँधे हुए हैं, क्या तुम यह नहीं जानता है ?। अत' वृद्धतारूपी हाथके द्वारा मेरे केशोंको मत पकडो, इसे छोड दो। तुम जो मुझको अपने पास बुलानेके लिये आदर कर रहे हो इसकीभी आवश्यकता नहीं है क्योंकि तुम्हारे इस आदरके विना क्या मै तुम्हारे पास न आऊंगा ?। अत साधुको कषाय छोडकर प्रशस्त भावके साथ मोक्षका अन्वेपण करना चाहिये। ३४

संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे।
उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं ण पत्थए ॥३५॥

छाया—सन्धयेत्साधुधर्मञ्च, पापधर्मं निराकुर्य्यात्।
उपधानवीर्य्यो भिक्षुः, क्रोधं मानञ्च वर्जयेत् ॥

किञ्च-साधूनां धर्मः क्षान्त्यादिको दशविधः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यो वा तम् 'अनुसंधयेत्' वृद्धिमापादयेत्, तद्यथा-प्रतिक्षणमपूर्वज्ञानग्रहणेन ज्ञानं तथा शङ्कादिदोषपरिहारेण सम्यग्जीवादिपदार्थाधिगमेन च सम्यग्दर्शनम् अस्खलित-मूलोत्तरगुणसंपूर्णपालनेन प्रत्यहमपूर्वाभिग्रहग्रहणेन (च) चारित्रं (च) वृद्धिमा-पादयेदिति, पाठान्तरं वा 'सद्दहे साधुधम्मं च' पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं साधुधर्मं मोक्षमार्गत्वेन श्रद्धीत-निःशङ्कतया गृह्णीयात्, चशब्दात्सम्यगनुपालयेच्च. तथा पापं-पापोपादानकारणं धर्मं प्राण्युपमर्देन प्रवृत्तं निराकुर्यात्, तथोपधानं-तपस्तत्र यथाशक्त्या वीर्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्यः, तदेवंभूतो भिक्षुः क्रोधं मानं च न प्रार्थयेत् न वर्धयेद्देति ॥३५॥

टीकार्थ—क्षान्ति आदि दशप्रकारका साधुओंका धर्म होता है अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र. साधुओंका धर्म है । इस धर्मकी बुद्धिमान् पुरुष वृद्धि करे । वह प्रतिक्षण नये नये ज्ञानोंको सीखकर ज्ञानकी वृद्धि करे तथा शङ्का आदि दोषोंको छोड़कर जीवादि पदार्थोंको अच्छी तरह स्वीकार करके सम्यग्दर्शनकी वृद्धि करे एवं अतिचाररहित मूलगुण और उत्तर गुणोंके पूर्णरूपसे पालन करके तथा प्रतिदिन नये नये अभिग्रहोंको ग्रहण करके चारित्रकी वृद्धि करे । कहीं कहीं "सद्दहे साधुधम्मं च" यह पाठ मिलता है । इसका अर्थ यह है कि—पूर्वोक्त विशे-षणवाले धर्मको साधु मोक्षमार्ग माने और शङ्का छोड़कर उसे ग्रहण करे । तथा च शब्दसे उस धर्मको अच्छीतरह पाले । जो धर्म प्राणियोंकी हिंसासे युक्त होनेके कारण पापका कारणरूप है उसे त्याग करे । तथा तप करनेमें पूरा जोर लगावे और क्रोध मानको न बढावे । ३५

जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया ।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा ॥३६॥

छाया—ये च बुद्धा अतिक्रान्ता ये च बुद्धा अनागताः ।
शान्तिस्तेषां प्रतिष्ठानं भूतानां जगती यथा ॥

ये बुद्धाः-तीर्थङ्कृतोऽतीतेऽनादिके कालेऽनन्ताः समतिक्रान्ताः ते सर्वेऽप्येवंभूतं भावमार्गमुपन्यस्तवन्तः, तथा ये चानागता भविष्यदनन्तकालभाविनोऽनन्ता एव तेऽप्येवमेवोपन्यसिष्यन्ति, चशब्दाद्वर्तमानकालभाविनश्च संख्येया इति। न केवलमुपन्यस्तवन्तोऽनुष्ठितवंतश्चेत्येतद्दर्शयति-शमनं शान्तिः-भावमार्गस्तेषामतीतानागतवर्तमानकालभाविनां बुद्धानां प्रतिष्ठानम्-आधारो बुद्धत्वस्यान्यथानुपपत्तेः, यदिवा शान्तिः-मोक्षः स तेषां प्रतिष्ठानम्-आधारः, ततस्तदवाप्तिश्च भावमार्गमन्तरेण न भवतीत्यतस्ते सर्वेऽप्येनं भावमार्गमुक्तवन्तोऽनुष्ठितवन्तश्च (इति) गम्यते। शान्तिप्रतिष्ठानत्वे दृष्टान्तमाह-'भूतानां' स्थावरजङ्गमानां यथा 'जगती' त्रिलोकी प्रतिष्ठानं एवं ते सर्वेऽपि बुद्धाः शान्तिप्रतिष्ठाना इति ॥३६॥ प्रतिपन्नभावमार्गेण च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

अनादिकालमे जो अनन्त तीर्थङ्कर हो चुके हैं उन सबोनेभी इसी भावमार्गका उपदेश किया है तथा आनेवाले अनन्त कालमें जो अनन्त तीर्थङ्कर होगे वेभी इसी भावमार्गका उपदेश करेगे। तथा च शब्दसे वर्तमान कालमे जो सख्यात तीर्थङ्कर है वेभी इसी मार्गका उपदेश करते हैं। उन लोगोने इस भावमार्गका उपदेश ही नही किया है किन्तु आचरण भी किया है यह शास्त्रकार दिखलाते है—कपायोके नाशको शान्ति कहते है वह भावमार्ग है। वह भावमार्ग ही अतीत अनागत तथा वर्तमान तीर्थङ्करोका आधार है क्योकि इसके विना बुद्धता होती ही नहीं! अथवा मोक्षको शान्ति कहते है, वह मोक्ष सभी तीर्थङ्करोका आधार है परन्तु भावमार्गके विना उसकी प्राप्ति नहा होती है इसलिये सभी तीर्थङ्करोने भावमार्गका उपदेश किया है और स्वयं आचरणभी किया है। तीर्थङ्करोका शान्ति ही आधार है इस विपयमें दृष्टान्त वताते है—जैसे जीवोका आधार तीन लोक है इसीतरह तीर्थङ्करोका आधार शान्ति है। ३६

अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी ॥३७॥

छाया—अथ वै व्रतमापन्नं स्पर्शा उच्चावचाः स्पृशेयुः।
न तेषु विनिहन्याद् वातेनेव महागिरिः॥

'अथ' भावमार्गप्रतिपत्त्यनन्तरं साधुं प्रतिपन्नव्रतं सन्तं स्पर्शाः-परीषहोपसर्गरूपाः 'उच्चावचा' गुरुलघवो नानारूपा वा 'स्पृशेयुः' अभिद्रवेयुः, स च साधुस्तैरभिद्रुतः संसारस्वभावमपेक्षमाणः कर्मनिर्जरां च न तैरनुकूलप्रतिकूलैर्विहन्यात्, नैव संयमानुष्ठानान्मनागपि विचलेत्, किमिव ?, महावातेनेव महागिरिः-मेरुरिति। परीषहोपसर्गजयश्चाभ्यासक्रमेण विधेयः, अभ्यासवशेन हि दुष्करमपि सुकरं भवति, अत्र च दृष्टान्तः, तद्यथा-कश्चिद्गोपस्तदहर्जातं तर्णकमुत्क्षिप्य गवान्ति नयत्यानयति च, गोऽसावनेनैव च क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि वत्समुत्क्षिपन्नभ्यासवशाद्द्विहायनं त्रिहायणमप्युत्क्षिपति, एवं साधुरप्यभ्यासात् शनैः शनैः परिषहोपसर्गजयं विधत्त इति ॥२७॥

टीकार्थ—भावमार्गको स्वीकार किये हुए साधुका कर्त्तव्य बतानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—भावमार्ग स्वीकार करनेके पश्चात् व्रतधारी साधुको ननाप्रकारके छोटे और बडे परीपह तथा उपसर्गोंकी बाधा हो तो वह संसारका स्वभाव और कर्मकी निर्जराको विचार कर सहन करे। वह अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोके द्वारा सयमके अनुष्ठानसे थोडाभी विचलित न हो, किसके समान ? जैसे महान् वायुसे मेरु पर्वत विचलित नहीं होता है। साधु क्रमश अभ्यास करके परीषह और उपसर्गोको जीते क्योंकि दुष्कर कार्य्यभी अभ्याससे सुकर हो जाता है। इस विषयमे यह दृष्टान्त है—कोई गोप (ग्वाला) उसी दिन जन्मे हुए गायके बच्चेको अपने हाथोंसे उठाकर गायके पास लेजाता है और फिर ले आता है। इसीतरह वह रोज रोज उस वछडे को यदि गायके पास हाथोसे ले जाने और ले आनेका अभ्यास बराबर जारी रखता है तो दो वर्ष तथा तीन वर्पका होनेपर भी उस वछडेको वह ऊपर उठा लेता है इसीतरह साधुभी अभ्यास करता हुआ धीरे धीरे परीषह और उपसर्गोंको जीत लेता है। २७

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे।
निव्वुडे कालमाकंखी, एवं (यं) केवलिणो मयं ॥
॥२८॥ तिबेमि ॥

छाया—संवृतः स महाप्राज्ञः, धीरो दत्तैषणां चरेत्।
निर्वृतः कालमाकाङ्क्षे देवं केवलिनो मतम् ॥

अन्वयार्थ—(सवुडे महापन्ने धीरे से) आश्रवद्वारोंको निरोध किया हुआ महाबुद्धिमान् धीर वह साधु (दत्तेसण चरे) दूसरेसे दिया हुआ एपणीय आहार ही ग्रहण करे (निव्वुडे कालमाकखी) तथा शान्त रहकर कालकी इच्छा करे। (एय केवलिणो मय) यही केवलीका मत है।

ये बुद्धाः-तीर्थङ्कतोऽतीतेऽनादिके कालेऽनन्ताः समतिक्रान्ताः ते सर्वेऽप्येवंभूत भावमार्गमुपन्यस्तवन्तः, तथा ये चानागता भविष्यदनन्तकालभाविनोऽनन्ता एव तेऽप्येवमेवोपन्यसिष्यन्ति, चशब्दाद्वर्तमानकालभाविनश्च संख्येया इति। न केवलमुपन्यस्तवन्तोऽनुष्ठितवंतश्चेत्येतद्दर्शयति-शमनं शान्तिः-भावमार्गस्तेषामतीतानागतवर्तमानकालभाविनां बुद्धानां प्रतिष्ठानम्-आधारो बुद्धत्वस्यान्यथानुपपत्तेः, यदिवा शान्तिः-मोक्षः स तेषां प्रतिष्ठानम्-आधारः, ततस्तदवाप्तिश्च भावमार्गमन्तरेण न भवतीत्यतस्ते सर्वेऽप्येनं भावमार्गमुक्तवन्तोऽनुष्ठितवन्तश्च (इति) गम्यते। शान्तिप्रतिष्ठानत्वे दृष्टान्तमाह-'भूतानां' स्थावरजङ्गमानां यथा 'जगती' त्रिलोकी प्रतिष्ठानं एवं ते सर्वेऽपि बुद्धाः शान्तिप्रतिष्ठाना इति ॥३६॥ प्रतिपन्नभावमार्गेण च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

अनादिकालमे जो अनन्त तीर्थङ्कर हो चुके हैं उन सबोनेभी इसी भावमार्गका उपदेश किया है तथा आनेवाले अनन्त कालमे जो अनन्त तीर्थङ्कर होगे वेभी इसी भावमार्गका उपदेश करेगे। तथा च शब्दसे वर्तमान कालमें जो संख्यात तीर्थङ्कर है वेभी इसी मार्गका उपदेश करते हैं। उन लोगोने इस भावमार्गका उपदेश ही नहीं किया है किन्तु आचरण भी किया है यह शास्त्रकार दिखलाते हैं--कषायोके नाशको शान्ति कहते है वह भावमार्ग है। वह भावमार्ग ही अतीत अनागत तथा वर्तमान तीर्थङ्करोका आधार है क्योकि इसके विना बुद्धता होती ही नहीं! अथवा मोक्षको शान्ति कहते है, वह मोक्ष सभी तीर्थङ्करोका आधार है परन्तु भावमार्गके विना उसकी प्राप्ति नहीं होती है इसलिये सभी तीर्थङ्करोने भावमार्गका उपदेश किया है और स्वय आचरणभी किया है। तीर्थङ्करोका शान्ति ही आधार है इस विषयमे दृष्टान्त बताते है—जैसे जीवोका आधार तीन लोक है इसीतरह तीर्थङ्करोका आधार शान्ति है। ३६

अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी ॥३७॥

छाया—अथ वै व्रतमापन्नं स्पर्शा उच्चावचाः स्पृशेयुः।
न तेषु विनिहन्याद् वातेनेव महागिरिः॥

'अथ' भावमार्गप्रतिपत्त्यनन्तरं साधुं प्रतिपन्नव्रतं सन्तं स्पर्शाः-परीषहोपसर्गरूपाः 'उच्चावचा' गुरुलघवो नानारूपा वा 'स्पृशेयुः' अभिद्रवेयुः, स च साधुस्तैरभिद्रुतः संसारस्वभावमपेक्षमाणः कर्मनिर्जरां च न तैरनुकूलप्रतिकूलैर्विहन्यात्, नैव संयमानुष्ठानान्मनागपि विचलेत्, किमिव ?, महावातेनेव महागिरिः-मेरुरिति। परीषहोपसर्गजयश्चाभ्यासक्रमेण विधेयः, अभ्यासवशेन हि दुष्करमपि सुकरं भवति, अत्र च दृष्टान्तः, तद्यथा-कश्चिद्गोपस्तदहर्जातं तर्णकमुत्क्षिप्य गवान्तिकं नयत्यानयति च, ततोऽसावनेनैव च क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि वत्समुत्क्षिपन्नभ्यासवशाद्द्विहायनं त्रिहायणमप्युत्क्षिपति, एवं साधुरप्यभ्यासात् शनैः शनैः परिषहोपसर्गजयं विधत्त इति ॥३७॥

भावार्थ—आश्रवद्वारोको निरोध किया हुआ महा बुद्धिमान् धीर वह साधु दूसरेसे दिया हुआ ही आहार आदि ग्रहण करे। तथा शान्त रहकर मरणकालकी इच्छा करे यही केवलीका मत है।

साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्पुरुक्तशेषमधिकृत्याह—स साधुः एवं संवृताश्रवद्वारतया संवरसंवृतो महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञः—सम्यग्दर्शनज्ञानवान्, तथा धी॰-बुद्धिस्तया राजत इति धीरः परीपहोपसर्गाक्षोभ्यो वा स एवंभूतः सन् परेण दत्ते सत्याहारादिके एषणां चरेत्त्रिविधयाप्येषणया युक्तः सन् संयममनुपालयेत्, तथा निर्वृत इव निर्वृतः कपायोपशमाच्छीतीभूतः 'कालं' मृत्युकालं यावदभिकाङ्क्षेत् 'एतत्' यत् मया प्राक् प्रतिपादितं तत् 'केवलिनः' सर्वज्ञस्य तीर्थकृतो मतं। एतच्च जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य सुधर्मस्वाम्याह। तदेतद्यत्त्वया मार्गस्वरूपं प्रश्नितं तन्मया न स्वमनीपिकया कथितं, किं तर्हि?, केवलिनो मतमेतदित्येवं भवता ग्राह्यं। इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३८॥

॥ इति मार्गाख्यमेकादशमध्ययनं समाप्तम् ॥

टीकार्थ—अब शास्त्रकार इस अध्ययनको समाप्त करनेके लिये शेप बात बताते हैं—इसप्रकार आश्रवद्वारोको रोककर संवरयुक्त, सम्यग्दर्शन और ज्ञानसे सम्पन्न, बुद्धिसे शोभा पानेवाला अथवा परीपह और उपसर्गोसे न घबरानेवाला वह साधु दूसरेके द्वारा दिया हुआ ही आहार ग्रहण करे। वह तीनो प्रकारकी एपणाओंसे युक्त होकर संयमका पालन करे। एवं कपायोके शान्त हो जानेसे मुक्त पुरुपकी तरह शान्त वह मुनि, मृत्युकालकी इच्छा करे। यह जो मैने पहले कहा है यही केवलीका मत है। यह श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते है कि—आपने जो मेरेसे मार्गका स्वरूप पूछा था उसका उत्तर मैंनें अपने मनसे नहीं दिया किन्तु केवलीका मत कहा है यह तुम जानना।

इति शब्द समाप्ति अर्थमें है ब्रवीमि पूर्ववत् है। ३८

यह मार्गनामक ग्यारहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।



समवसरणमिति 'सृ गतौ' वित्येतस्य धातोः समवोपसर्गपूर्वस्य ल्युडन्तस्य रूप, सम्यग् एकीभावेनावसरणम्-एकत्र गमनं मेलापकः समवसरणं तस्मिन्नपि, न केवलं समाधौ, षड्विधो नामादिको निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्य-विषयं पुनः समवसरणं नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्र-भेदात्त्रिविधं, सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात्त्रिविधमेव, तत्र द्विपदानां साधु-प्रभृतीना तीर्थकृज्जन्मनिष्क्रमणप्रदेशादौ मेलापकः, चतुष्पदानां गवादीनां निपान-प्रदेशादौ, अपदानां तु वृक्षादीना स्वतो नास्ति समवसरणं, विवक्षया तु काननादौ भवत्यपि, अचित्तानां तु द्व्यणुकाद्यभ्रादीनां तथा मिश्राणां सेनादीनां समवसरण-सद्भावोऽवगन्तव्य इति । क्षेत्रसमवसरणं तु परमार्थतो नास्ति, विवक्षया तु यत्र द्विपदादयः समवसरन्ति व्याख्यायते वा समवसरणं यत्र तत्क्षेत्रप्राधान्यादेवमुच्यते । एवं कालसमवसरणमपि द्रष्टव्यमिति । इदानीं भावसमवसरणमधिकृत्याह-भावानाम् -औदयिकादीनां समवसरणम्-एकत्र मेलापको भावसमवसरणं, तत्रौदयिको भाव एकविंशतिभेदः, तद्यथा-गतिश्चतुर्धा कषायाश्चतुर्विधाः एवं लिङ्गं त्रिविधं, मिथ्या त्वाज्ञानासंयतत्वासिद्धत्वानि प्रत्येकमेकैकविधानि, लेश्याः कृष्णादिभेदेन षड्विधा

भवन्ति । औपशमिको द्विविधः सम्यक्त्वचारित्रोपशमभेदात् । क्षायोपशमिकोऽप्यष्टादशभेदभिन्नः, तद्यथा-ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायभेदाच्चतुर्धा अज्ञानं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गभेदात्त्रिविधं, दर्शनं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदात्त्रिविधमेव, लब्धिर्दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात्पञ्चधा, सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाः प्रत्येकमेकप्रकारा इति । क्षायिको नवप्रकारः, तद्यथा-केवलज्ञानं केवलदर्शनं दानादिलब्धय पञ्च सम्यक्त्वं चारित्रं चेति । जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वादिभेदात्पारिणामिकस्त्रिविधः । सान्निपातिकस्तु द्वित्रिचतुष्पञ्चकसंयोगैर्भवति, तत्र द्विकसंयोगः सिद्धस्य क्षायिकपारिणामिकभावद्वयसद्भावादवगन्तव्यः, त्रिकसंयोगस्तु मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्ट्यविरतविरतानामौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावादवगन्तव्य., तथा भवस्थकेवलिनोऽप्यौदयिकक्षायिकपारिणामिकभावसद्भावाद्विज्ञेय इति, चतुष्कसंयोगोऽपि क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावात्, तथौपशमिकसम्यग्दृष्टीनामौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावाच्चेति, पञ्चकसंयोगस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुपशमश्रेण्यां समस्तोपशान्तचारित्रमोहानां भावपञ्चकसद्भावाद्विज्ञेय इति, तदेव भावानां द्विकत्रिकचतुष्कपञ्च-

---

मन. पर्य्याय भेदसे चार प्रकारका ज्ञान और मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभङ्ग भेदसे तीन प्रकारका अज्ञान तथा चक्षु, अचक्षु, और अवधि भेदसे तीन प्रकारका दर्शन, एवं दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य्यभेदसे पॉच प्रकारकी लब्धि, तथा एक प्रकारका सम्यक्त्व चारित्र और संयमासंयम, ये कुल १८ क्षायोपशमिक भाव है । तथा क्षायिकभाव नव प्रकारका है जैसेकि—केवलज्ञान, केवलदर्शन, पॉच दान आदि लब्धियॉ और सम्यक्त्व तथा चारित्र । ये कुल नव है । तथा जीवत्व, भव्यत्व, और अभव्यत्व आदि भेदसे पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है । सान्निपातिक भाव, दो, तीन, चार और पांचके संयोगसे होता है । इनमे सिद्ध पुरुषोंमे क्षायिक और पारिणामिक दो भावोके होनेसे दोका सयोग जानना चाहिये । तथा तीनका संयोग, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और विरताविरत गुणस्थानवालोंमे, औदयिक, क्षायोपशमिक, और पारिणामिक भावोंके संयोगसे है तथा भवस्थ केवलीमें भी औदयिक, क्षायिक, और पारिणामिक भेदसे तीनका सयोग है । एवं क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंमे औदायिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावोंके संयोग होनेसे चारका सयोग है । तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमे औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव होनेसे चार भावोंका सयोग है । एवं उपशम श्रेणिमें जिनका समस्त चारित्रमोह शान्त हो गया है ऐसे क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमे पांच भावोंके सद्भाव होनेसे पॉच भावोका सयोग समझना चाहिये । इसप्रकार भावोंके दो, तीन, चार या पॉचके सयोगसे होनेवाले सान्निपातिक भेद छ प्रकारके होते है । ये ही त्रिकसयोग और चतुष्कसंयोगसे दूसरे स्थलमे पन्द्रह प्रकारके कहे गये हैं । इसप्रकार छ प्रकारके भावों में भावका समवसरण कहा गया है । अथवा निर्युक्तिकार दूसरी तरहसे भावसमवसरण दिखाते हैं—“जीवादि पदार्थ है”

कसंयोगात्संभविनः सान्निपातिकभेदाः षड् भवन्ति, एत एव त्रिकसंयोगचतुष्कसंयोगगतिभेदात्पञ्चदशधा प्रदेशान्तरेऽभिहिता इति । तदेवं षड्विधे भावे भावसमवसरणं-भावमीलनमभिहितम्, अथवा अन्यथा भावसमवसरणं निर्युक्तिकृदेव दर्शयति-क्रियां-जीवादिपदार्थोऽस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, एतद्विपर्यस्ता अक्रियावादिनः, तथा अज्ञानिनो-ज्ञाननिह्नववादिनः तथा 'वैनयिका' विनयेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा वैनयिकाः, एषां चतुर्णामपि सप्रभेदानामाक्षेपं कृत्वा यत्र विक्षेपः क्रियते तद्भावसमवसरणमिति, एतच्च स्वयमेव निर्युक्तिकारोऽन्त्यगाथया कथयिष्यति । साम्प्रतमेतेषामेवाभिधानान्वर्थतादर्शनद्वारेण स्वरूपमाविष्कुर्वन्नाह-जीवादिपदार्थसद्भावोऽस्त्येवेत्येवं सावधारणक्रियाभ्युपगमो येषां ते अस्तीति क्रियावादिनः, ते चैववादित्वान्मिथ्यादृष्टयः, तथाहि-यदि जीवोऽस्त्येवे [वेऽस्तित्वमेवे] त्येवमभ्युपगम्यते, ततः सावधारणत्वान्न कथञ्चिन्नास्तीत्यतः स्वरूपसत्तावत्पररूपापत्तिरपि स्याद्, एवं च नानेकं जगत् स्यात्, नचैतद्दृष्टमिष्टं वा । तथा नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवंवादिनोऽक्रियावादिनः, तेऽप्यसद्-

---

यह जो कहते हैं वे क्रियावादी है तथा जो इनसे विपरीत है वे अक्रियावादी हैं। जो ज्ञानको नहीं मानते है वे अज्ञानवादी है तथा जो विनय से मोक्ष मानते है वे विनयवादी हैं। भेदसहित इन चारो मतोंका भूल बताकर जिस सुमार्गमें इन्हें स्थापन किया जाता है वह भावसमवसरण है।

भूतार्थप्रतिपादनान्मिथ्यादृष्टय एव, तथाहि-एकान्तेन जीवास्तित्वप्रतिषेधे कर्तुर-भावान्नास्तीत्येतस्यापि प्रतिषेधस्याभाव., तदभावाच्च सर्वास्तित्वमनिवारितमिति। तथा न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः, ते ह्यज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदन्ति. एतेऽपि मिथ्यादृष्टय एव, तथाहि-अज्ञानमेव श्रेय इत्येतदपि न ज्ञानमृते भणितुं पार्यते. तदभिधानाच्चावश्यं ज्ञानमभ्युपगतं तैरिति। तथा वैनयिका विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिमभिलषन्तो मिथ्यादृष्टयो, यतो न ज्ञानक्रियाभ्यामन्तरेण मोक्षावाप्तिरिति। एषां च क्रियावाद्यादीनां स्वरूपं तन्निराकरणं चाचाराटीकायां विस्तरेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते। साम्प्रतमेतेषां भेदसंख्यानिरूपणार्थमाह—

कालतः, तथाऽस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालत एव, एवं परतोऽपि भङ्गकद्वयं, सर्वेऽपि च चत्वारः कालेन लब्धाः, एवं स्वभावनियतीश्वरात्मपदान्यपि प्रत्येकं चतुर एव लभन्ते, ततश्च पञ्चापि चतुष्कका विंशतिर्भवन्ति, साऽपि जीवपदार्थेन लब्धा, एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिं लभन्ते, ततश्च विंशतयो मीलिताः क्रियावादिनामशीत्युत्तर शतं भवतीति। इदानीमक्रियावादिनां न सन्त्येव जीवादयः पदार्था इत्येवमभ्युपगमवतामनेनोपायेन चतुरशीतिरवगन्तव्या, तद्यथा-जीवादीन् पदार्थान् सप्ताभिलिख्य तदधः स्वपरभेदद्वयं व्यवस्थाप्यं, ततोऽप्यधः कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मपदानि षड् व्यवस्थाप्यानि, भङ्गकानयनोपायस्त्वयं-नास्ति जीवः स्वतः कालतः, तथा नास्ति जीवः परतः कालतः, एवं यदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गकौ लभ्येते, सर्वेऽपि द्वादश, तेऽपि च जीवादिपदार्थसप्तकेन गुणिताश्चतुरशीतिरिति, तथा-

चोक्तम्-"कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मतश्चतुरशीतिः। नास्तिकवादिगणमते न सन्ति भावाः स्वपरसंस्थाः ॥१॥" साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विवक्षितकार्यसिद्धिमिच्छतां ज्ञानं तु सदपि निष्फलं बहुदोषवच्चेत्येवमभ्युपगमवतां सप्तषष्टिरनेनोपायेनावगन्तव्या-जीवाजीवादीन् नव पदार्थान् परिपाट्या व्यवस्थाप्य तदधोऽमी

भङ्गकाः संस्थाप्याः-सत् असत् सदसत् अवक्तव्यं सदवक्तव्यं असदवक्तव्यं सदसदवक्तव्यमिति, अभिलापस्त्वयं-सन् जीवः को वेत्ति? किं वा तेन ज्ञातेन! १, असन् जीवः को वेत्ति? किं वा तेन ज्ञातेन? २, सदसन् जीवः को वेत्ति? किं वा तेन ज्ञातेन! ३, अवक्तव्यो जीवः को वेत्ति? कि वा तेन ज्ञातेन? ४, सदवक्तव्यो जीवः को वेत्ति? किं वा तेन ज्ञातेन? ५, असदवक्तव्यो जीवः को वेत्ति? कि वा तेन ज्ञातेन? ६, सदसदवक्तव्यो जीवः को वेत्ति? कि वा ज्ञातेन? ७ एवमजीवादिष्वपि भङ्गकाः, सर्वेऽपि मिलितास्त्रिषष्टिः, तथाऽपरेऽमी चत्वारो भङ्गकाः, तद्यथा-सती भावोत्पत्तिः को वेत्ति? किं वाऽनया ज्ञातया? १, असती

"जीव आदि पदार्थ किसीतरहभी नहो है" यह माननेवाले अक्रियावादियोके ८४ भेद अब वताये जाते है। वह इसप्रकार समझना चाहिये। जीव आदि सात पदार्थोंको लिखकर उनके नीचे स्व और पर दो भेद रखने चाहिये और उनके नीचे काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा ये छ पद रखने चाहिये। इनके भेदोको लानेका उपाय यह है- (१) जीव स्वय कालसे नहीं है (२) जीव दूसरेसे कालसे नहीं है। (३) जीव यदृच्छासे स्वयं नहीं है। (४) जीव, यदृच्छासे परसे होता नहीं है। इसीतरह नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्माके साथ जोड़नेसे प्रत्येकके दोदो भेद होकर कुल १२ भेद होते है इसप्रकार जीव आदि सात पदार्थोंके प्रत्येकके १२ भेद होनेसे कुल ८४ भेद होते हैं। अतएव कहा है कि-"काल" इत्यादि, अर्थात् काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा इन छः के साथ मिलानेसे ८४ संख्या होती है। नास्तिकोके मतमें स्वतः या परतः जीवादि पदार्थ नहीं हैं।

अब अज्ञानवादियोका भेद बताया जाता है-अज्ञानवादी अज्ञानसे ही इष्ट अर्थकी सिद्धि

(स्वभाव) वस्तुके गुणको स्वभाव कहते हैं जैसे मिर्च तीखी, गुड मीठा और नीम कडवी होती है (नियति) भवितव्यता-अर्थात् जो वात वननेवाली होती है वही वनती है हजारों उपाय करने पर भी अन्त में मृत्यु आती ही है, उस समय वैद्य आदि सभी वेकार हो जावे है। (ईश्वर) लोकमें ऐसी मान्यता है कि यह सृष्टि स्वय नहीं होती है किन्तु लोकमें एक ऐसा समर्थ पुरुष है कि जव उसकी इच्छा होती है तव वह सृष्टि उत्पन्न करता है और वह जवतक इच्छा होती है तवतक इस सृष्टिका पालन करता है और पीछे प्रलय करता है। जैसे मदारी खेल करता है इसी तरह ईश्वरका यह खेल है। (आत्मा) कितने लोग ईश्वरकी सत्ता न मानकर आत्मा स्वय समर्थ होकर इस सृष्टिको रचता है यह कहते हैं। इसमें समझनेकी वात यही है कि-इन सभी मतवालोंकी वात किसी अशमें ठीक है परन्तु एकान्त रूपसे आग्रह करनेके कारण ये मिथ्यादृष्टि और झूठे हैं। यदि अपेक्षासे कहा जाय तो सव मिलाकर सत्य हो सकता है। इति।

भावोत्पत्तिः को वेत्ति किं वाऽनया ज्ञातया ? २, सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति किं वाऽनया ज्ञातया ? ३, अवक्तव्या भावोत्पत्तिः को वेत्ति किं वाऽनया ज्ञातया ? ४, सर्वैऽपि सप्तषष्टिरिति, उत्तरं भङ्गकत्रयमुत्पन्न ावयवापेक्षमिह भावोत्पत्तौ न संभवतीति नोपन्यस्तम्, उक्तं च-"अज्ञानिकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्त-विधान्। भावोत्पत्तिः सदसद्द्वेधाऽवाच्या च को वेत्ति ? ॥१॥" इदानीं वैनयिकानां विनयादेव केवलात्परलोकमपीच्छतां द्वात्रिंशदनेन प्रक्रमेण योज्याः, तद्यथा-सुर-नृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु मनसा वाचा कायेन दानेन (च) चतुर्विधो विनयो विधेयः, सर्वेऽप्यष्टौ चतुष्कका मिलिता द्वात्रिंशदिति, उक्तं च-"वैनयिकमतं विनयश्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः। सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु सदा ॥१॥" सर्वेऽप्येते क्रियाऽक्रियाऽज्ञानिवैनयिकवादिभेदा एकीकृतास्त्रीणि त्रिषष्ट्यधि-कानि प्रावादुकमतशतानि भवन्ति। तदेवं वादिनां मतभेदसंख्यां प्रदर्श्याधुना तेषामध्ययनोपयोगित्वं दर्शयितुमाह-'तेषां' पूर्वोक्तवादिनां मतम्-अभिप्रायस्तेन

यदनुमतं-पक्षीकृतं तेन पक्षीकृतेन पक्षोकृताश्रयणेन 'प्रज्ञापना' प्ररूपणा 'वर्णिता' प्रतिपादिता 'इह' अरि ध्ययने गणधरैः, किमर्थमिति दर्शयति-तेषां यः सद्भावः-परमार्थस्तस्य निश्चयो-निर्णयस्तदर्थं, तेनैव कारणेनेदमध्ययनं समवसरणाख्यमाहु-र्गणधराः, तथाहि-वादिनां यगवसरणं-मेलापकस्तन्मतनिश्चयार्थमस्मिन्नध्ययने क्रियत इत्यतः समवसरणाख्यमिदमध्ययनं कृतमिति॥ इदानीमेतेषां सम्यग्मिथ्या-त्ववादित्वं विभागेन यथा ति तथा दर्शयितुमाह-सम्यग्-अविपरीता दृष्टिः-दर्शनं पदार्थपरिच्छित्तिर्यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, कोऽसावित्याह-क्रियाम्-अस्तीत्येवं-भूतां वदितुं शीलमस्येति क्रियावादी, अत्र च क्रियावादीत्येतद् 'अत्थित्ति किरि-यवादी' त्यनेन प्राक् प्रसाधितं समनूद्य [निरवधारणतया] सम्यग्दृष्टित्वं विधीयते, तस्यासिद्धत्वादिति, तथाहि-अस्ति लोकालोकविभागः अस्त्यात्मा अस्ति पुण्य-पापविभागः अस्ति तत्फलं स्वर्गनरकावाप्तिलक्षणं अस्ति कालः कारणत्वेनाशेषस्य जगतः प्रभववृद्धिस्थितिविनाशेषु साध्येषु तथा शीतोष्णवर्ष स्पतिपुष्पफलादिषु

कहा है कि-"अज्ञानिक" अज्ञानवादियोके मतमें जीव आदि नव पदार्थोंके सात सात भङ्ग होते है और भावकी उत्पत्तिके सत्, असत्, सदसत् और अवक्तव्य ये चार भेद होते है।

अब केवल विनयसे परलोककी प्राप्ति माननेवाले विनयवादियोका भेद बताया जाता है-इनके ३२ भेद होते है वे इसप्रकार जानने चाहिये। देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता, पिता, इन आठ व्यक्तियोंका मन, वचन, काय और दानके द्वारा चार प्रकारका विनय करना चाहिये। इस प्रकार ये आठ, चार चार प्रकारके होते है अतः ये कुल मिलकर ३२ बत्तीस प्रकारके है। अतएव कहा है कि "वैनयिकं" अर्थात् विनयवादियोका मत है कि-देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम और माता पिताका मन, वचन, काय और दानसे विनय करना चाहिये। पूर्वोक्त क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियोके भेदोंको जोडनेसे सब तीनसौ तीरसठ ३६३ भेद होते है।

इसप्रकार निर्युक्तिकार इन प्रावादुकोंके मतभेदकी संख्या बताकर अब उनके मतोको अध्ययन करनेसे क्या लाभ होता है? यह बताते है-पूर्वोक्त मतवादियोने अपनी इच्छानुसार जो सिद्धान्त माना है उसे इस अध्ययनमें गणधरोने बताया है। किस लिये बताया है सो दिखाते हैं-उक्तमतवादियोंके मतमें जो परमार्थ है उसका निर्णय करनेके लिये गणधरोने यह समवसरण अध्ययन बनाया है। समस्त वादियोके मनका निश्चय करनेके लिये उनवादियोंका इस अध्ययनमे सम्मेलन किया गया है इसलिये इस अध्ययनका नाम समवसरण रखा है।

अब इन मतवादियोका सम्यग् और मिथ्यात्वका विभाग जिसप्रकार हो. सो निर्युक्तिकार बताते हैं-जिसकी दृष्टि-दर्शन यानी पदार्थका ज्ञान सम्यक् है उसे सम्यग्दृष्टि कहते है। वह सम्यग्दृष्टि कौन है सो बताते है-जो क्रियाको बताते है अर्थात् जीव आदिका अस्तित्व कहते है वे क्रियावादी है। ये क्रियावादी संसारका स्वरूप आदि मानते है यह " अत्थित्ति किरि-

चेति, तथा चोक्तम्-"कालः पचति भूतानी"-त्यादि, तथाऽस्ति स्वभावोऽपि कारणत्वेनाशेषस्य जगतः, स्वो भावः स्वभाव इतिकृत्वा, तेन हि जीवाजीवभव्यत्वाभव्यत्वमूर्तत्वामूर्तत्वाना स्वस्वरूपानुविधानात् तथा धर्माधर्माकाशकालादीनां च गतिस्थित्यवगाहपरत्वादिस्वरूपापादनादिति, तथा चोक्तम्-"कः कण्टकाना"मित्यादि। तथा नियतिरपि कारणत्वेनाश्रीयते, तथा तथा पदार्थानां नियतत्वात्, तथा चोक्तम्-"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेणे" त्यादि। तथा पुराकृतं, तच्च शुभाशुभमिष्टानिष्टफलं कारणं, तथा चोक्तम्-"यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिहोपतिष्ठते। तथा तथा पूर्वकृतानुसारिणी, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते ॥१॥" तथा "स्वकर्मणा युक्त एव, सर्वो ह्युत्पद्यते जनः। स तथाऽऽकृष्यते तेन, न यथा स्वयमिच्छति ॥१॥" इत्यादि। तथा पुरुषकारोऽपि कारणं, यस्मान्न पुरुषकारमन्तरेण किञ्चित्सिध्यति, तथा चोक्तम्-"न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्यममात्मनः। अनुद्यमेन कस्तैलं, तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति! ॥१॥" तथा-"उद्यमा-

एवेत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाश्रयणान्मिथ्यात्वं, तथाहि-अस्त्येव जीव इत्येवमस्तिना सह जीवस्य सामानाधिकरण्यात् यद्यदस्ति तत्तज्जीव इति प्राप्तम्, अतो निरवधारणपक्षसमाश्रयणादिह सम्यक्त्वमभिहित, तथा कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्यपेक्षाणां कारणत्वेनेहाश्रयणात्सम्यक्त्वमिति। ननु च कथं कालादीनां प्रत्येक निरपेक्षाणां मिथ्यात्वस्वभावत्वे सति समुदितानां सम्यक्त्वसद्भावः ?, न हि यत्प्रत्येकं नास्ति तत्समुदायेऽपि भवितुमर्हति, सिकतातैलवत्, नैतदस्ति, प्रत्येकं पद्मरागादिमणिष्वविद्यमानापि रत्नावली समुदाये भवन्ती दृष्टा, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति यत्किञ्चिदेतत्, तथा चोक्तम्-"कालो सहाव णियई

को ही समस्त जगत्का कारण वताता है एवं स्वभाववादी एकमात्र स्वभावको तथा नियतिवादी केवल नियतिको और प्रारब्धवादी केवल पूर्वकृत कर्मको और उद्योगवादी एकमात्र उद्योग को सबका कारण मानते हैं। ये लोग दूसरेकी अपेक्षा न करके एक मात्र काल आदि एक एकको ही कारण मानते है इसलिये मिथ्यादृष्टि हैं। यदि "अस्त्येव जीव" जीवही है यह माना जाय तो इसका अर्थ यह है कि जो जो है वह सव जीव है परन्तु ऐसा माननेसे अजीव पदार्थ सर्वथा न रहेगा अत अवधारण पक्षको छोड़कर (एकान्तवादको छोड़कर) निरवधारण पक्ष माननेसे (अनेकान्त माननेसे) यहां क्रियावादी मतको सम्यक् कहा है। तथा परस्पर मिलकर एक दूसरेकी अपेक्षासे काल आदिको कारण माननेसे इस मतको सम्यक् कहा है।

(शङ्का) काल आदि एक दूसरेसे निरपेक्ष रहें तो वे प्रत्येक यदि मिथ्यास्वभाव वाले हैं तो वे एकट्ठा जोड़नेपर सम्यक् कैसे हो सकते हैं? क्योंकि—जो धर्म प्रत्येकमें नहीं होता है वह उन वस्तुओंके मिलनेपरभी नहीं होता है जैसे रेतीके एक कणमें तेल नहीं होता है इस लिये हजारों रेतीके कणोंके मिलनेपरभी तेल नहीं होता है।

(समाधान) यह दृष्टान्त ठीक नहीं हैं क्योंकि—एक माणिक है दूसरा हीरा है और तीसरा पन्ना है इन अनेक जूदा जूदा रत्नोको रत्नावली (रत्नकाहार) नहीं कहते हैं परन्तु इन रत्नोंको एक सूत्रमें गूंथ देनेपर इनके समूहको रत्नावली (रत्नका हार) कहते हैं यह प्रत्यक्ष

पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता । मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति संमत्तं ॥१॥ सव्वेवि य कालाई इह समुदायेण साहगा भणिया । जुज्जंति य एमेव य सम्म सव्वस्स कज्जस्स ॥२॥ न हि कालादीहितो केवलएहिं तु जायए किंचि । इह मुग्गरंधणादिवि ता सव्वे समुदिता हेऊ ॥३॥ जह णेगलक्खणगुणा वेरुलियादी मणी विसंजुत्ता। रयणावलिववएसं ण लहंति महग्घमुल्लावि ॥४॥ तह णिययवाद-सुविणिच्छियावि अण्णोऽण्णपक्खनिरवेक्खा । सम्मद्दसणसद्दं सव्वेऽवि णया ण पाविंति ॥५॥ जह पुण ते चेव मणी जहा गुणविसेसभागपडिवद्धा। रयणावलित्ति भण्णइ चयंति पाडिक्कसण्णाओ ॥६॥ तह सव्वे णयवाया जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा। सम्मद्दंसणसद्दं लभंति ण विसेससण्णाओ ॥७॥ तम्हा मिच्छद्दिट्ठी सव्वेवि णया सपक्खपडिवद्धा । अण्णाण्णनिस्सिया पुण हवंति सम्मत्त सब्भावा ॥८॥' यत एवं तस्मात्त्यक्त्वा मिथ्यात्ववादं-कालादिप्रत्येकैकान्तकारणरूप 'सेवध्वम्' अङ्गी-कुरुध्वं 'सम्यग्वादं' परस्परसव्यपेक्षकालादिकारणरूपम् 'इम' मिति मयोक्तं प्रत्य-क्षासन्नं 'सत्यम्' अवितथमिति ॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमे-ऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

च ारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति ।
किरियं अकिरियं विणियंति तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव ॥१॥

छाया–चत्वारि समवसरणानीमानि, प्रावादुकाः यानि पृथग्वदन्ति ।
क्रिया मक्रियां विनयमिति तृतीय मज्ञानमाहुश्चतुर्थमेव ॥

अन्वयार्थ–(पावादुया) परतीर्थी (जाइ) जिन्हें (पुढो वयति) जूदा जूदा वतलाते हैं (चत्तारि इमाइ समोसरणाइ) वे चार सिद्धान्त ये हैं (किरिय अकिरिय विनय अन्नाण चउत्थ) क्रियावाद अक्रियावाद विनयवाद और चौथा अज्ञानवाद ।

भावार्थ–अन्यदर्शनियोंने जिन सिद्धान्तोको एकान्तरूपसे मान रखा है वे सिद्धान्त ये है–क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, और चौथा अज्ञानवाद ।

अस्य च प्राक्तनाध्ययनेन सहायं संवन्धः, तद्यथा–साधुना प्रतिपन्नभावमार्गेण कुमार्गाश्रिता· परवादिनः सम्यक् परिज्ञाय परिहर्तव्याः, तत्स्वरूपाविष्करणं चानेनाध्ययनेनोपदिश्यते इति, अनन्तरसूत्रस्यानेन सूत्रेण सह संवन्धोऽयं, तद्यथा–संवृतो महाप्रज्ञो 'वीरो दत्तैपणां चरन्नभिनिर्वृतः सन् मृत्युकालमभिकाङ्क्षेद् एतत्केवलिनो भाषितं, तथा परतीर्थिकपरिहारं च कुर्यात् एतच्च केवलिनो मतम्, अतस्तत्परिहार्थं तत्स्वरूपणनिरूपणमनेन क्रियते । 'चत्वारी'ति संख्यापदमपरसंख्यानिवृत्त्यर्थं 'समवसरणानि' परतीर्थिकाभ्युपगमसमूहरूपाणि यानि प्रावादुकाः पृथक् पृथग्वदन्ति, तानि चामूनि अन्वर्थाभिधायिभि· संज्ञापदैर्निर्दिश्यन्ते, तद्यथा–क्रियाम्–अस्तीत्या-

दिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, तथाऽक्रियां-नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां तेऽक्रियावादिनः, तथा तृतीया वैनयिकाश्चतुर्थास्त्वज्ञानिका इति ॥१॥

कहनेवाले क्रियावादी कहलाते है (२) तथा पदार्थ नही है ऐसा कहनेवाले अक्रियावादी हैं एवं तीसरे विनयवादी और चथे अज्ञानवादी है। १

अण्णाणिया ता कुसलावि संता, असंथुया णो वितिगिच्छतिन्ना।
अकोविया आहु अकोवियेहिं, अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति ॥२॥

छाया–आज्ञानिकास्ते कुशला अपि सन्तोऽसंस्तुताः नो विचिकित्सातीर्णाः।
अकोविदा आहुरकोविदेभ्योऽननुविचिन्त्य तु मृषा वदन्ति।

अन्वयार्थ–(ता अण्णाणिया) वे अज्ञानवादी (कुसलावि संता) अपनेको कुशल मानते हुएभी (णो वितिगिच्छतिन्ना) संशयसे रहित नहीं हैं (असंथुया) अतः वे मिथ्यावादी हैं। (अकोविया अकोविएहिं) वे स्वयं अज्ञानी हैं और अज्ञानी शिष्यों को उपदेश करते हैं। (अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति) वे विचार न करके मिथ्याभाषण करते हैं।

भावार्थ–अज्ञानवादी अपनेको निपुण मानते हुएभी विपरीतभाषी हैं तथा वे भ्रमरहित नहीं किन्तु भ्रममें पडे हुए हैं। वे स्वयं अज्ञानी हैं और अज्ञानी शिष्योंको उपदेश करते हैं। वे वस्तुतत्त्वका विचार न करके मिथ्या भाषण करते हैं।

तदेवं क्रियाऽक्रियावैनयिकाज्ञानवादिनः सामान्येन प्रदर्श्याधुना [1]तद्दूषणार्थं तन्मतोपन्यासं [2]पश्चानुपूर्व्यप्यस्तीत्यतः पश्चानुपूर्व्या कर्तुमाह, यदिवैतेषामज्ञानिका एव [3]सर्वापलापितयाऽत्यन्तमसंबद्धा अतस्तानेवादावाह–अज्ञानं विद्यते येषामज्ञानेन वा चरन्तीत्यज्ञानिकाः आज्ञानिका वा तावत्प्रदर्श्यन्ते, ते चाज्ञानिकाः किल एवं

कुशला इत्येवंवादिनोऽपि सन्तः 'असंस्तुता' अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंवादितया असंबद्धाः, असंस्तुतत्वादेव विचिकित्सा-चित्तविप्लुतिश्चित्तभ्रान्तिः संशीतिस्तां न तीर्णा-नातिक्रान्ताः, तथाहि ते ऊचुः-य एते ज्ञानिनस्ते परस्परविरुद्धवादितया न यथार्थवादिनो भवन्ति, तथाहि-एके सर्वगतमात्मानं वदन्ति तथाऽन्ये असर्वगतम् अपरे अंगुष्ठपर्वमात्रं केचन श्यामाकतण्डुलमात्रमन्ये मूर्तममूर्तं हृदयमध्यवर्तिनं ललाटव्यवस्थितमित्याद्यात्मपदार्थ एव सर्वपदार्थपुरःसरे तेषां नैकवाक्यता, न चातिशयज्ञानी कश्चिदस्ति यद्वाक्यं प्रमाणीक्रियेत, न चासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शिना, 'नासर्वज्ञः सर्वज्ञं जानाती'ति वचनात्, तथा चोक्तम्-"सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानशून्यैर्विज्ञायते कथम्? ॥१॥" न च तस्य सम्यक् तदुपायपरिज्ञानाभावात्संभवः, संभवाभावश्चेतरेतराश्रयत्वात्, तथाहि-न विशिष्टपरिज्ञानमृते तदवाप्त्युपायपरिज्ञानमुपायमन्तरेण च नोपेयस्य विशिष्टपरिज्ञानस्यावाप्तिरिति, न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलं,

तथाहि–यत्किमप्युपलभ्यते तस्यार्वाग्मध्यपरभागैर्भाव्यं, तत्रार्वाग्भागस्यैवोपलब्धिर्नेतरयोः, तेनैव व्यवहितत्वात्, अर्वाग्भागस्यापि भागत्रयकल्पनात्तत्सर्वारातीयभागपरिकल्पनया परमाणुपर्यवसानता, परमाणोश्च स्वभावविप्रकृष्टत्वादर्वाग्दर्शिनां नोपलब्धिरिति, तदेवं सर्वज्ञस्याभावादसर्वज्ञस्य च यथावस्थितवस्तुस्वरूपापरिच्छेदात्सर्ववादिनां च परस्परविरोधेन पदार्थस्वरूपाभ्युपगमात् यथोत्तरपरिज्ञानिनां प्रमादवतां बहुतरदोषसंभवादज्ञानमेव श्रेयः, तथाहि–यद्यज्ञानवान् कथञ्चित्पादेन शिरसि हन्यात् तथापि चित्तशुद्धेर्न तथाविधदोषानुषङ्गी स्यादित्येवमज्ञानिन एवंवादिनः सन्तोऽसंबद्धाः, न चैवंविधां चित्तविप्लुतिं वितीर्णा इति। तत्रैवंवादिनस्ते अज्ञानिका 'अकोविदा' अनिपुणाः सम्यक्परिज्ञानविकला इत्यवगन्तव्याः, तथाहि–यत्तैरभिहितं 'ज्ञानवादिनः परस्परविरुद्धार्थवादितया न यथार्थवादिन' इति, तद्भवत्वसर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामयथार्थवादित्वं, न चाभ्युपगमवादा एव बाधायै प्रकल्प्यन्ते, सर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनां तु न क्वचित्परस्परतो विरोधः, सर्वज्ञ-

---

परमाणु स्वभावत दूर है इसलिये अर्वाग्दर्शी पुरुपको उसका ज्ञान सभव नहीं है और उसके ज्ञानके विना पदार्थका यथार्थ ज्ञान भी सम्भव नही है। इसप्रकार सर्वज्ञ पुरुपके अभावसे, तथा जो सर्वज्ञ नहीं है उसको वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान न होनेसे, तथा सभी ज्ञानवादियोके मतमें पदार्थोका परस्पर विरुद्ध स्वरूप स्वीकार किये जाने से, तथा ज्यों ज्यो अधिक ज्ञान होता है त्यो त्यों भूल करनेपर अधिक अपराध समझे जानेसे अज्ञानही कल्याणका साधन है। यदि कोई अज्ञानवश किसीके शिरमे पैरका प्रहार करता है तो वह उतना बडा दोपी नही माना जाता है क्योकि उसका भाव शुद्ध है, इसप्रकार कहनेवाले अज्ञानवादी मिथ्यादृष्टि है तथा वे सम्यग्ज्ञानसे रहित है, वे भ्रममे पडे हुए है। वे जो यह आक्षेप करते है कि "परस्पर विरुद्ध अर्थ बतानेके कारण ज्ञानवादी सच्चे नहीं है" सो ठीक है, कारण यह है कि परस्पर विरुद्ध अर्थ बतानेवाले लोग असर्वज्ञके आगमोको मानते है इसलिये वे परस्पर विरुद्ध अर्थ वताते है परन्तु इससे समस्त सिद्धान्तो पर वाधा नहीं आती है क्योंकि सर्वज्ञप्रणीत आगमको माननेवाले वादियोके वाक्यमें कही भी परस्पर विरोध नहीं आता है, कारण यह है कि इसके विना सर्वज्ञता होती ही नहीं है। यही वताया जाता है–ज्ञानके ऊपर आया हुआ परदा सम्पूर्णरूसे क्षय हो जानेसे, तथा झूठ वोलनेके कारण जो राग द्वेष और मोह है उनके अभाव हो जानेसे सर्वज्ञका वाक्य सत्य है अतः तुम उसे अयथार्थ नहीं कह सकते इसलिये सर्वज्ञके वनाये हुए आगमको माननेवाले पुरुप परस्पर विरुद्ध अर्थ नही वताते है यह स्पष्ट है। (शङ्का) अव अज्ञानवादी शङ्का करता है कि–"यदि कोई सर्वज्ञ हो तो यह वात हो सकती है परन्तु कोई सर्वज्ञ है यह जानना संभव नहीं है यह पहले कहा जा चुका है" (उत्तर) इसका समाधान यह है–यद्यपि तुमने यह वात कही है परन्तु अयुक्त कही है, देखो–तुमने जो कहा है कि "सर्वज्ञ विद्यमान हो तो भी वह अल्पज्ञ जीवके द्वारा जाना

त्वान्यथानुपपत्तेरिति, तथाहि-प्रक्षीणाशेषावरणतया रागद्वेषमोहानामनृतकारणानामभावान्न तद्वाक्यमयथार्थमित्येवं तत्प्रणीतागमवतां न विरोधवादित्वमिति। ननु च स्यादेतद् यदि सर्वज्ञः कश्चित्स्यात्, न चासौ संभवतीत्युक्तं प्राक्, सत्यमुक्तमयुक्तं तूक्तं, तथाहि-यत्तावदुक्तं 'न चासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शिनेति' तदयुक्तं, यतो यद्यपि परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात्सरागा वीतरागा इव चेष्टन्ते वीतरागाः सरागा इवेत्यतः प्रत्यक्षेणानुपलब्धिः, तथापि संभवानुमानस्य सद्भावात्तद्बाधकप्रमाणाभावाच्च तदस्तित्वमनिवार्य, संभवानुमानं त्विदं-'व्याकरणादिना शास्त्राभ्यासेन संस्क्रियमाणायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयो ज्ञेयावगमं प्रत्युपलब्धः, तदत्र 'कश्चित्तथाभूताभ्यासवशात्सर्वज्ञोऽपि स्यादिति, न च तदभावसाधकं प्रमाणमस्ति, तथाहि-न तावदर्वाग्दर्शिप्रत्यक्षेण सर्वज्ञाभावः साधयितु शक्यः, तस्य हि तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानशून्यत्वाद्, अशून्यत्वाभ्युपगमे च सर्वज्ञत्वापत्तिरिति । नाप्यनुमानेन, तदव्यभिचारिलिङ्गाभावादिति। नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः साध्यते, तस्य सादृश्यबलेन

प्रवृत्तेः, न च सर्वज्ञाभावे साध्ये तादृग्विधं सादृश्यमस्ति येनासौ सिध्यतीति। नाप्यर्थापत्त्या, तस्याः प्रत्यक्षादिप्रमाणपूर्वकत्वेन प्रवृत्तेः, प्रत्यक्षादीनां च तत्साधकत्वेनाप्रवर्तनात् तस्या अप्यप्रवृत्तिः। नाप्यागमेन, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि दर्शनात्, नापि प्रमाणपञ्चकाभावरूपेणाभावेन सर्वज्ञाभावः सिध्यति, तथाहि-सर्वत्र सर्वदा न संभवति तद्ग्राहकं प्रमाणमित्येतदर्वाग्दर्शिनो वक्तुं न युज्यते, तेन हि देशकालविप्रकृष्टानां पुरुषाणां यद्विज्ञानं तस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्, तद्ग्रहणे वा तस्यैव सर्वज्ञत्वापत्तेः, न चार्वाग्दर्शिनां ज्ञान निवर्तमानं सर्वज्ञाभावं [1]साधयति, तस्याव्यापकत्वात्, न चाव्यापकव्यावृत्त्या पदार्थव्यावृत्तिर्युक्तेति, न च [2]वस्त्वन्तरविज्ञानरूपोऽभावः सर्वज्ञाभावसाधनायाल, [3]वस्त्वन्तरसर्वज्ञयोरेकज्ञानसंसर्गप्रतिबन्धाभावात्। तदेवं बाधकप्रमाणाभावात्सं ।नुमानस्य च प्रतिपादितत्वादस्ति सर्वज्ञः, तत्प्रणीतागमाभ्युपगमाच्च मतभेददोपो दूरापास्त इति, तथाहि-तत्प्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामेकवाक्यतया शरीरमात्रव्यापी संसार्यात्माऽस्ति, तत्रैव तद्गुणोपल-

भी सर्वज्ञका अभाव नहीं सिद्ध हो सकता है। तथा आगम प्रमाणसेभी सर्वज्ञका अभाव नहीं सिद्ध हो सकता है क्योंकि आगम सर्वज्ञका अस्तित्व बतलानेवाला भी है। यदि कहो कि "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापित्ति और सम्भव इन पॉच प्रमाणोके द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि नही होती है इस लिये यह निश्चित होता है कि कोई सर्वज्ञ नहीं है" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि-सब देश और सब कालमें सर्वज्ञ का बोधक कोई प्रमाण नहीं मिलता है यह अल्पज्ञ पुरुप नही कह सकता है क्योंकि देश और कालकी अपेक्षासे जो पुरुष अत्यन्त दूर है उनका विज्ञान अल्पज्ञ पुरुष नही जान सकता है। यदि वह जाने तव तो वह स्वयं सर्वज्ञ ठहरता है फिर कोई सर्वज्ञ नहीं है यह नहीं कह सकते। स्थूलदर्शी पुरुष का विज्ञान सर्वज्ञ तक नहीं पहॅुचता है इस कारण भी सर्वज्ञका अभाव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि स्थूलदर्शी पुरुषका ज्ञान व्यापक नहीं है। यदि कोई अव्यापक पदार्थ किसी पदार्थके पास न पहॅुचे तो उस पदार्थका अभाव नहीं होता। (अल्पज्ञ पुरुपका ज्ञान सब जगह नहीं पहॅुच पाता इस लिये उसके द्वारा सर्वज्ञके ज्ञान न होनेसे सर्वज्ञका अस्तित्व नहीं मिट सकता है) यदि कहो कि जिस ज्ञानसे दूसरे पदार्थ जाने जाते है उससे सर्वज्ञ नही जाना जाता है इस लिये सर्वज्ञ नहीं है यह सिद्ध होता है तो यह ठीक नही है क्योंकि जिस ज्ञानसे दूसरे पदार्थ जाने जाते है उसी ज्ञानसे सर्वज्ञ भी जाना जाना चाहिये यह कोई नियम नही है। अतः सर्वज्ञके अस्तित्व का बाधक कोई प्रमाण नहीं मिलता है और उसके साधक सम्भव और अनुमान प्रमाण मिलते है इस लिये सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। उस सर्वज्ञके कहे हुए आगमको स्वीकार करनेसे मत-भेदरूप दोप भी नहीं आता है। सर्वज्ञके कहे हुए आगमको माननेवाले सभी लोग [illegible]

१ भावयति प्र०। २ घटज्ञाने हि पटाभावप्रतीतिर्यथा। ३ विपश्चितानियमाभावात्।

ध्येरिति, इतरेतराश्रयदोषश्चात्र नावतरत्येव, यतोऽभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयः स्वात्मन्यपि दृष्टो, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति। यदप्यभिहितं तद्यथा 'न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलं, सर्वत्रार्वाग्भागेन व्यवधानात्, सर्वारातीयभागस्य च परमाणुरूपतयाऽतीन्द्रियत्वा'दिति, एतदपि वाङ्मात्रमेव, यतः सर्वज्ञज्ञानस्य देशकालस्वभावव्यवहितानामपि ग्रहणान्नास्ति व्यवधानसंभवः, अर्वाग्दर्शिज्ञानस्याप्यवयवद्वारेणावयविनि प्रवृत्तेर्नास्ति व्यवधानं, न ह्यवयवी स्वावयवैर्व्यवधीयत इति युक्तिसंगतम्, अपिच-अज्ञानमेव श्रेय इत्यत्राज्ञानमिति किमयं पर्युदास आहोस्वित्प्रसज्यप्रतिषेधः?, तत्र यदि 'ज्ञानादन्यदज्ञानमिति ततः पर्युदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव समाश्रितं स्यात् नाज्ञानवाद इति, अथ ज्ञानं न भवतीत्यज्ञानं तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः स च सर्वसामर्थ्यरहित इति कथं श्रेयानिति?। अपिच -अज्ञानं श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधेन ज्ञानं श्रेयो न भवतीति क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्याद्, एतच्चाध्यक्षबाधितं, यतः सम्यग्ज्ञानादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थ-

क्रियार्थी न विसंवाद्यत इति । किंच-अज्ञानप्रमादवद्भिः पादेन शिरःस्पर्शनेऽपि स्वल्पदोषतां परिज्ञायैवाज्ञानं श्रेय इत्यभ्युपगम्यते, एवं च सति प्रत्यक्ष एव स्याद्भ्युपगमविरोधो, नानुमानं प्रमाणमिति । तथा तदेवं सर्वथा ते अज्ञानवादिनः 'अकोविदा' धर्मोपदेशं प्रत्यनिपुणाः स्वतोऽकोविदेभ्य एव स्वशिष्येभ्य 'आहुः' कथितवन्तः, छान्दसत्वाच्चैकवचनं सूत्रे [1]कृतमिति । शाक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः, अविज्ञोपचितं कर्म बन्धं न यातीत्येवं यतस्तेऽभ्युपगमयन्ति, तथा ये च बालमत्तसुप्तादयोऽस्पष्टविज्ञाना अबन्धका इत्येवमभ्युपगमं कुर्वन्ति, ते सर्वेऽप्यकोविदा द्रष्टव्या इति । तथाऽज्ञानपक्षसमाश्रयणाच्चाननुविचिन्त्य भाषणान्मृषा ते सदा वदन्ति । अनुविचिन्त्य भाषणं यतो ज्ञाने सति भवति, [2]तत्पूर्वकत्वाच्च सत्यवादस्य. अतो ज्ञानानभ्युपगमादनुविचिन्त्य भाषणाभावः, तदभावाच्च तेषां मृषावादित्वमिति ॥२॥

ज्ञानसे कल्याण प्राप्तिका निषेध किया जाता है) परन्तु यह प्रत्यक्षसे विरुद्ध है क्योंकि सम्यग्ज्ञानके द्वारा पदार्थके स्वरूपको जानकर प्रवृत्ति करनेवाला कार्य्यार्थी पुरुष अपने कार्य्यकी सिद्धि करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है अतः ज्ञानको झूठा नहीं कहा जा सकता । तथा अज्ञानवादी अज्ञान तथा प्रमादके कारण पैरसे शिरके स्पर्श होनेपर भी अल्पदोषको जानकर ही अज्ञानको श्रेय कहते है, इस प्रकार प्रत्यक्षही सिद्धान्तका विरोध होता है, इसमे अनुमानकी आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार वे अज्ञानवादी धर्मोपदेशमें सर्वथा निपुण नहीं है परन्तु अपने अनिपुण शिष्योंको धर्मका उपदेश करते है । यहाँ सूत्रमे बहुवचनके स्थानमें छान्दसत्वात् एकवचन किया है । शाक्यभी प्रायः अज्ञानीही है क्योंकि "अविज्ञोपचित कर्म बन्धन नही होता है" ऐसा वे मानते है तथा वे कहते है कि—बालक, मतवाला और सोये हुए पुरुष स्पष्ट ज्ञानवाले नहीं होते हे इसलिये उनको कर्मबन्ध नहीं होता है । इन सब वादियोंको अज्ञानी जानना चाहिये । ये लोग अज्ञानपक्षका आश्रय लेकर विना विचारे बोलनेके कारण सदा झूठ बोलते है । क्योंकि—ज्ञान होनेपर ही विचार कर बोला जाता है और सत्य भाषण विचारपरही निर्भर रहता है, अतः ज्ञानको स्वीकार न करनेसे ये लोग विचार कर नही बोलते है और विचार कर न बोलनेके कारण ये मिथ्यावादी है यह सिद्ध होता हे । २

सच्चं असच्चं इति चिंतयंता, असाहु साहुत्ति उदाहरंता ।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठावि भावं विणइंसु णाम ॥३॥

छाया—सत्यमसत्यमिति चिन्तयित्वा, असाधु साध्वित्युदाहरन्तः ।
य इमे जनाः वैनयिका अनेके पृष्टा अपि भावं व्यनैषुर्नाम ॥

---

1 किरिय अकिरियमित्याद्यगाथायामेकवचनस्य समाधानमिदमाभाति । २ समुच्चयार्थत्वात्तच्छब्देनानुविचिन्त्य भाषणपरामर्शः ।

अन्वयार्थ-(सच्चं असच्चं इति चिंतयंता) जो सत्य है उसे असत्य मानते हुए (असाहु साहुत्ति उदाहरंता) तथा जो असाधु यानी अच्छा नहीं है उसे अच्छा बताते हुए (अणेगे जे इमे वेणइया जणा) अनेक जो ये विनयवादी है (पुट्ठावि विणयसु भाव णाम) वे पूछनेपर विनयको ही मोक्षका साधन बताते हैं।

भावार्थ-सत्यको असत्य तथा असाधुको साधु बतानेवाले विनयवादी पूछनेपर केवल विनयकोही मोक्षका मार्ग कहते है।

साम्प्रतं वैनयिकवाद निराचिकीर्षुः प्रक्रमते-सद्भ्यो हित 'सत्य' परमार्थो यथावस्थितपदार्थनिरूपणं वा मोक्षो वा संयमः सत्यं तदसत्यम् 'इति' एव 'विचिन्तयन्तो' मन्यमाना', एवमसत्यमपि सत्यमिति मन्यमानाः, तथाहि-सम्यग्दर्शनचारित्राख्यो मोक्षमार्गः सत्यस्तमसत्यत्वेन चिन्तयन्तो विनयादेव मोक्ष इत्येतदसत्यमपि सत्यत्वेन मन्यमानाः, तथा असाधुमप्यविशिष्टकर्मकारिणं वन्दनादिक्रया विनयप्रतिपत्त्या साधुम् 'इति' एवम् 'उदाहरन्तः' प्रतिपादयन्तो न सम्यग्यथावस्थितधर्मस्य परीक्षका', युक्तिविकलं विनयादेव धर्म इत्येवमभ्युपगमात्, क एते इत्येतदाह—ये 'इमे' बुद्ध्या प्रत्यक्षासन्नीकृता 'जना इव' प्राकृतपुरुषा इव जना विनयेन चरन्ति वैनयिका—विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्येवंवादिनः 'अनेके' बहवो द्वात्रिंशद्भेदभिन्नत्वात्तेषां, ते च 'विनयचारिणः केनचिद्धर्मार्थिना पृष्टाः सन्तोऽपिशब्दादपृष्टा वा 'भावं' परमार्थं यथार्थोपलब्धं स्वाभिप्रायं वा विनयादेव स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्येवं 'व्यनैपुः' विनीतवन्तः-सर्वदा सर्वस्य सर्व-

सिद्धये विनयं ग्राहितवन्तः, नामशब्दः संभावनायां, संभाव्यत एव विनयात्स्वकार्यसिद्धिरिति, तदुक्तम्—"तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनय" इति ॥३॥

"केवल विनय करनेसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है" इस प्रकार विनयवादी सब कार्य्य की सिद्धिके लिये सभीको विनयकी शिक्षा देते है। नाम शब्द सम्भावना अर्थमें आया है इस लिये वे विनयसे अपने कार्य्यकी सिद्धिकी आशा करते है। वे कहते है कि—"सभी कल्याणों का भाजन विनय है" ३

अणोवसंखा इति ते उदाहू, अट्ठे स ओभासइ अम्ह एवं।
लवावसंकी य अणागएहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियवादी ॥४॥

छाया—अनुपसंख्ययेति ते उदाहृतवन्तः अर्थः स्वोऽवभासतेऽस्माक मेवम्।
लवावशङ्किनश्चानागतैर्नो क्रियामाहुरक्रियावादिनः।

अन्वयार्थ—(ते अणोवसखा) वे विनयवादी वस्तुतत्त्व को न समझकर (इति उदाहु) ऐसा कहते हैं। (स अट्ठे अम्ह एव ओभासइ) वे कहते हैं कि—अपने प्रयोजनकी सिद्धि हमको विनयसे ही दीखती है। (लवावसकी) तथा कर्मबन्धकी शङ्का करनेवाले (अकिरियवादी) अक्रियावादी (अणागएहिं) भूत और भविष्यके द्वारा वर्तमान की असिद्धि मानकर (णो, किरिय आहसु) क्रियाका निषेध करते हैं।

भावार्थ—विनयवादी कहते हैं कि—हमको अपने प्रयोजनकी सिद्धि विनयसे ही दीखती है परन्तु वे वस्तुतत्त्वको न समझकर ऐसा कहते है। इसी तरह कर्मबन्धकी आशङ्का करनेवाले अक्रियावादी भूत और भविष्यकालके द्वारा वर्तमानको उडाकर क्रियाका निषेध करते है।

किंचान्यत्-संख्यानं संख्या—परिच्छेदः उप-सामीप्येन संख्या उपसंख्या—सम्यग्यथावस्थितार्थपरिज्ञानं नोपसंख्याऽनुपसंख्या तयाऽनुपसंख्यया—अपरिज्ञानेन व्यामूढमतयस्ते वैनयिकाः स्वाग्रहग्रस्ता इति एतद्-यथा विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्युदाहृतवन्तः, एतच्च ते महामोहाच्छादिता 'उदाहुः' उदाहृतवन्तः-यथैवं सर्वस्य विनयप्रतिपत्त्या स्वोऽर्थः-स्वर्गमोक्षादिक अस्माकम्

टीकार्थ—वस्तुके ज्ञानको संख्या कहते है और सम्यक् प्रकारसे अर्थात् वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाननेका नाम उपसख्या है उसके विनाही अर्थात् पदार्थके यथार्थ स्वरूपको जाने विनाही आग्रहमे पडे हुए मूर्ख विनयवादी केवल विनयसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति वताते हैं। वे महामोहसे आच्छादित होकर यह कहते है कि "सबके प्रति विनय करनेसे ही हमको स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होगी" परन्तु यह वे विना विचारे कहते है. इस विषयमे उदाहरण यह है कि ज्ञान और क्रिया इन दोनोके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है परन्तु इसे छोड़कर वे केवल

'अवभासते' आविर्भवति प्राप्यते इतियावत्, अनुपसंख्योदाहृतिश्च तेषामेवमवगन्तव्या, तद्यथा-ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षसद्भावे सति तदपास्य विनयादेवैकस्मात्तदवाप्त्यभ्युपगमादिति, यदप्युक्तं 'सर्वकल्याणभाजनं' तदपि सम्यग्दर्शनादिसंभवे सति विनयस्य कल्याणभाक्त्वं भवति नैककस्येति, तद्रहितो हि विनयोपेतः सर्वस्य प्रह्वतया न्यत्कारमेवापादयति, ततश्च विवक्षितार्थावभासनाभावात्तेषामेवंवादिनामज्ञानावृतत्वमेवावशिष्यते, नाभिप्रेतार्थावाप्तिरित्युक्ताः वैनयिकाः ॥ साम्प्रतमक्रियावादिदर्शनं निराचिकीर्षुः पश्चार्धमाह-लवं-कर्म तस्मादपशङ्कितुम्—अपसर्तुं शीलं येषां ते 'लवापशङ्किनो-लोकायतिकाः शाक्यादयश्च, तेषामात्मैव नास्ति कुतस्तत्क्रिया तज्जनितो वा कर्मबन्ध इति, उपचारमात्रेण त्वस्ति बन्धः, तद्यथा-'बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः । न चान्ये द्रव्यत सन्ति, मुष्टि·

ग्रन्थिकपोतको: ॥१॥ तथाहि—बौद्धानामयमभ्युपगमो, यथा—'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा' इति 'अस्थितानां [च] कुतः क्रिये' त्यक्रियावादित्वं, योऽपि स्कन्धपञ्चकाभ्युपगमस्तेषां सोऽपि संवृतिमात्रेण न परमार्थेन यतस्तेषामयमभ्युपगमः, तद्यथा—विचार्यमाणाः पदार्था न कथञ्चिदप्यात्मानं निजानेन समर्पयितुमलं, तथाहि—अवयवी 'तत्त्वान्यत्त्वाभ्या' विचार्यमाणो न घटां प्राञ्चति. नाप्यवयवा. परमाणुपर्यवसानतयाऽतिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञानगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, विज्ञानमपि ज्ञेयाभावेनामूर्तस्य निराकारतया न स्वरूप विभर्त्ति, तथा चोक्तम्—"यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा। यद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम्? ॥१॥" इति, प्रच्छन्नलोकायतिका हि बौद्धाः, तत्रानागतैः क्षणैः चशब्दादतीतैश्च वर्तमाक्षणस्यासङ्गतेर्न क्रिया, नापि च तज्जनितः कर्मबन्ध इति । तदेवमक्रियावादिनो

नास्तिकवादिनः सर्वापलापितया लवावशङ्किनः सन्तो न क्रियामाहुः, तथा अक्रिय आत्मा येषां सर्वव्यापितया तेऽप्यक्रियावादिनः सांख्याः तदेवं ते 'लोकायतिक-बौद्धसांख्या अनुपसंख्यया-अपरिज्ञानेनेति-एतत् पूर्वोक्तमुदाहृतवन्तः, तथैतत्त्वज्ञानेनैवोदाहृतवन्तः, तद्यथा—अस्माकमेवमभ्युपगमेऽर्थोऽवभासते—युज्यमानको भवतीति, तदेव श्लोकपूर्वार्द्धं काकाक्षिगोलकन्यायेनाक्रियावादिमतेऽप्यायोज्यमिति ॥४॥ साम्प्रतमक्रियावादिनामज्ञानविजृम्भितं दर्शयितुमाह—

क्रियाका निषेध करते हैं। तथा आत्माको सर्वव्यापक होनेके कारण क्रियारहित माननेवाले साख्यदर्शनवाले भी अक्रियावादी है। अत लोकायतिक बौद्ध और सांख्यवादी विना विचारे यह पूर्वोक्त सिद्धान्त मानते हैं। तथा वे जो यह कहते है कि मेरे मतके अनुसारही पदार्थोंका स्वरूप ठीक ठीक घटता है यह वे अज्ञानसे कहते है। इस प्रकार इस श्लोकके पूर्वार्धको काकाक्षिगोलक न्यायसे अक्रियावादीके मतमे भी लेना चाहिये। ४ अब शास्त्रकार अक्रियावादियोंका अज्ञान बतानेके लिये कहते हैं—

सम्मिस्सभावं च गिरा गहीए, से मुम्मुई होइ अणाणुवाई।
इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥५॥

छाया—सम्मिश्रभावश्च गिरा गृहीते, स मूकमूको भवत्यननुवादी।

अस्तित्वनास्तित्वाभ्युपगमं ते लोकायतिकादयः कुर्वन्ति, वाशब्दात्प्रतिषेधे प्रतिपाद्येऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति, तथाहि – लोकायतिकास्तावत्स्वशिष्येभ्यो जीवाद्यभावप्रतिपादकं शास्त्रं प्रतिपादयन्तो नान्तरीयकतयाऽऽत्मानं कर्तारं कारणं च शास्त्रं कर्मतापन्नांश्च शिष्यानवश्यमभ्युपगच्छेयुः, सर्वशून्यत्वे त्वस्य त्रितयस्याभावान्मिश्रीभावो व्यत्ययो वा। बौद्धा अपि मिश्रीभावमेवमुपगताः, तद्यथा— "गन्ता च नास्ति कश्चिद्गतयः षड् बौद्धशासने प्रोक्ताः। गम्यत इति च गतिः स्याच्छ्रुतिः कथं शोभना बौद्धी? ॥१॥" तथा—'कर्म [च] नास्ति फलं चास्ती' त्यसतिचात्मनि कारके कथं षड्गतयः?, ज्ञानसन्तानस्यापि संतानिव्यतिरेकेण संवृतिमत्त्वात् क्षणस्य चास्थितत्वेन क्रियाऽभावान्न नानागतिसंभवः, सर्वाण्यपि कर्माण्यबन्धनानि प्ररूपयन्ति स्वागमे, तथा पञ्च जातकशतानि च बुद्धस्योपदिशन्ति, तथा— 'मातापितरौ हत्वा बुद्धशरीरे च रुधिरमुत्पाद्य। अर्हद्वधं च कृत्वा स्तूपं भित्त्वा च पञ्चैते ॥१॥ आवीचिनरकं यान्ति।' एवमादिकस्यागमस्य सर्वशून्यत्वे प्रणयन-

होनेके कारण वह पदार्थ सिद्ध हो जाता है तब केवल वचनसे उस पदार्थका निषेध करते हुए वे नास्तिक इन दोनोंसे मिश्रित परस्पर विरुद्ध पक्षको स्वीकार करते है। वा शब्दसे यह समझना चाहिये कि—पदार्थका प्रतिषेध करते हुए नास्तिक उसका अस्तित्व ही प्रतिपादन कर बैठते है। यह इस प्रकार समझना चाहिये—लोकायतिक मतवाले जीवादि पदार्थोंका अभाव बतानेवाले शास्त्रोंको अपने शिष्यके प्रति उपदेश करते हुए शास्त्रके कर्ता आत्माको तथा उपदेशके साधनरूप शास्त्रको और जिसको उपदेश किया जाता है उस शिष्यको तो अवश्य ही स्वीकार करते है क्योंकि इनको स्वीकार किये विना उपदेश आदि नही हो सकता है। परन्तु सर्वशून्यतावादमें ये तीनो पदार्थ भी नहीं हैं अतः ये मिश्र पक्षका आश्रय करते है अर्थात् पदार्थ नहीं है यहभी कहते है और उसकी सत्ताभी स्वीकार करते है अथवा पदार्थका प्रतिषेध करते हुए वे उसका अस्तित्व स्वीकार कर बैठते है। इसी तरह बौद्धभी परस्पर विरुद्ध मिश्र पक्षका ही आश्रय लेते हैं अतएव विद्वानोंने कहाहै कि "गन्ताच" अर्थात् जिसमे जानेवाला कोई नहीं माना गया है ऐसे बौद्धशासनमें छः गतियाँ किस प्रकार कही गई हैं। गमन करनेको गति कहते है यह श्रुति (कहावत) बौद्धमतमे किस प्रकार घट सकती है?। कर्म तो है नही परन्तु उसका फल होता है यह कैसे? जब कि गति करनेवाला आत्माही नहीं है तब उसकी छः गतियाँ कैसी? बौद्धोंका माना हुआ ज्ञानसन्तानभी प्रत्येक ज्ञानोंसे भिन्न नहीं किन्तु वह आरोपित है तथा प्रत्येक ज्ञानक्षण क्षणविनाशी होनेके कारण स्थिर नहीं है इसलिये क्रिया न होनेके कारण नाना गति होना इस मतमे कदापि सम्भव नहीं है। तथा बौद्ध अपने आगममे सभी कर्मोंको अबन्धन कहते हैं परन्तु पाँचसौ वार बुद्धका जन्म लेना भी वे बताते है। तथा वे यहभी कहते हैं कि—माता और पिताको मारकर एवं बुद्धके शरीरसे रक्त निकालकर अरिहन्तका वध करके तथा धर्मस्तूपको तोड़कर मनुष्य आवीचि नरकको जाता है। जबकि कर्म, बन्धन नहीं देना

मयुक्तिसंगतं स्यात्, तथा जातिजरामरणरोगशोकोत्तममध्यमाधमत्वानि च न स्यु, एष एव च नानाविधकर्मविपाको जीवास्तित्वं कर्तृत्वं कर्मवत्त्वं चावेदयति, तथा 'गान्धर्वनगरतुल्या मायास्वप्नोपपातघनसदृशाः। मृगतृष्णानीहाराम्बुचन्द्रिकालातचक्रसमा' ॥१॥' इति भाषणाच्च स्पष्टमेव मिश्रीभावोपगमनं बौद्धानामिति। यदिवा —नानाविधकर्मविपाकाभ्युपगमात्तेषां व्यत्यय एवेति, तथा चोक्तम्–"यदि शून्यस्तव पक्षो मत्पक्षनिवारक कथ भवति?। अथ मन्यसे न शून्यस्तथापि मत्पक्ष एवासौ॥१॥" इत्यादि, तदेवं बौद्धाः पूर्वोक्तया नीत्या मिश्रीभावमुपगता नास्तित्वं प्रतिपादयन्तोऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति॥ तथा सांख्या अपि सर्वव्यापितया अक्रियमात्मानमभ्युपगम्य प्रकृतिवियोगान्मोक्षसद्भावं प्रतिपादयन्तस्तेऽप्यात्मनो बन्धं मोक्षं च स्ववाचा प्रतिपादयन्ति, ततश्च बन्धमोक्षसद्भावे सति स्वकीयया गिरा सक्रियत्वे गृहीते सत्यात्मनः सम्मिश्रीभावं व्रजन्ति. यतो न क्रियामन्तरेण बन्धमोक्षौ घटेते,

वाशब्दादक्रियत्वे प्रतिपाद्ये व्यत्यय एव-सक्रियत्वं तेषां स्ववाचा प्रतिपद्यते। तदेवं लोकायतिकाः सर्वाभावाभ्युपगमेन क्रियाऽभावं प्रतिपादयन्ति बौद्धाश्च क्षणिकत्वात्सर्वशून्यत्वाच्चाक्रियामेवाभ्युपगमयन्तः स्वकीयागमप्रणयनेन चोदिताः सन्तः सम्मिश्रीभावं स्ववाचैव प्रतिपद्यन्ते, तथा सांख्याश्चाक्रियमात्मानमभ्युपगच्छन्तो बन्धमोक्षसद्भावं च स्वाभ्युपगमेनैव सम्मिश्रीभाव व्रजन्ति व्यत्ययं च एतत्प्रतिपादितं। यदिवा बौद्धादिः कश्चित्स्याद्वादिना सम्यग्घेतुदृष्टान्तैर्व्याकुलीक्रियमाणः सन् सम्यगुत्तर दातुमसमर्थो यत्किञ्चनभाषितया 'मुम्मुई होइ'त्ति गद्गदभाषित्वेनाव्यक्तभाषी भवति, यदिवा प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमर्थो द्रष्टव्यः, तद्यथा-मूकादपि मूको मूकमूको भवति, एतदेव दर्शयति-स्याद्वादिनोक्त साधनमनुवदितुं शीलमस्येत्यनुवादी तत्प्रतिषेधादननुवादी, सद्धेतुभिर्व्याकुलितमना मौनमेव प्रतिपद्यत इति भावः, अननुभाष्य च प्रतिपक्षसाधनं तथाऽदूषयित्वा च स्वपक्षं प्रतिपादयन्ति तद्यथा-'इदम्' अस्मदभ्युपगतं दर्शनमेकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थः, इदं चैवंभूतमपि

और बौद्ध सब पदार्थोंको क्षणिक तथा शून्य मानकर क्रियाका अभाव स्वीकार करते है परन्तु जब उनसे पूछा जाता है कि–" यदि सब पदार्थ हैं ही नहीं तो तुम शास्त्रकी रचना क्यों और कैसे करते हो " तब वे वचनसे ही मिश्रवास्यको स्वीकार करते है। इसी तरह सांख्यवादी आत्माको क्रियारहित स्वीकार करके भी फिर उसका बन्ध मोक्ष मानकर क्रियावान् स्वीकार करते हुए मिश्रभावका आश्रय लेते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त सभी अक्रियावादी अपने पक्षका साधन करते हुए उससे विपरीत क्रियावाद पक्षका साधन कर बैठते है। यह हमने पहले बता दिया है इसलिये पुनरुक्तिकी आवश्यकता नही। अथवा स्याद्वादी सम्यग्हेतु और दृष्टान्तो को आगे रखकर जब बौद्ध आदिके मतोंका निराकरण करने लगते हैं तब वे घबराकर उचित उत्तर देनेमें समर्थ नहीं होते हैं किन्तु असम्बद्ध प्रलाप करते हुए अव्यक्त बड़बडा हट करने लगते हैं। अथवा प्राकृतकी शैलीके अनुसार छान्दस होनेके कारण इसका अर्थ यह जानना चाहिये–स्याद्वादियोंके द्वारा सम्यक् हेतु और दृष्टान्त बताये जानेपर वे बौद्ध आदि मूकसेभी मूक हो जाते है, यही शास्त्रकार बताते हैं कि स्याद्वादियोके द्वारा कहे हुए सम्यक् हेतुको वे बौद्ध आदि अनुवादभी नहा करते है फिर उत्तर देनेकी तो बातही क्या है? । वे, स्याद्वादियोंके द्वारा कहे हुए सम्यक् हेतु और दृष्टान्तोंसे घबराकर मौनका अवलम्बन करते है। स्याद्वादियोने बौद्ध आदिके विरुद्ध जो हेतु और दृष्टान्त बताये है उनका अनुवाद किये विनाही तथा उनका उत्तर दिये विनाही वे अपने पक्षका प्रतिपादन करते है। वे कहते हैं कि हमारा दर्शन विरुद्ध पक्षसे रहित होनेके कारण एक पक्षवाला है तथा परस्पर विरुद्ध अर्थ न बतानेके कारण यह पूर्वापर विरोध रहित निर्बाध है परन्तु यह बात मिथ्या है क्योंकि इनका दर्शन पूर्वापर विरुद्ध अर्थको जिस प्रकार बताता है सो हम पहले कह चुके है। अथवा जैनाचार्य्य

सदि(त्कमि)त्याह–द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं–सप्रतिपक्षमनैकान्तिकं पूर्वापरविरुद्धार्थाभिधायितया विरोधिवचनमित्यर्थः, यथा च विरोधिवचनत्वं तेषां तथा प्राग्दर्शितमेव, यदिवेदमस्मदीयं दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं-कर्मबन्धनिर्जरणं प्रति पक्षद्वयसमाश्रयणात्, तत्समाश्रयणं चेहामुत्र च वेदनां चौरपारदारिकादीनामिव, ते हि करचरणनासिकादिच्छेदादिकामिहैव पुष्पकल्पां स्वकर्मणो विडम्बनामनुभवन्ति अमुत्र च नरकादौ तत्फलभूतां वेदनां समनुभवन्तीति, एवमन्यदपि कर्मोभयवेद्यमभ्युपगम्यते, तच्चेदं 'प्राणी प्राणिज्ञान' मित्यादि पूर्ववत्, तथेदमेकः पक्षो-स्येत्येकपक्षं इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात्, तच्चेदम्-अविज्ञोपचित परिज्ञोपचितमीर्यापथं स्वप्नान्तिकं चेति। तदेवं स्याद्वादिनाऽभियुक्ताः स्वदर्शनमेवमनन्तरोक्तया नीत्या प्रतिपादयन्ति, तथा स्वाद्वादिसाधनोक्तौ छलायतनं-छलं नवकम्बलो देवदत्त इत्यादिकं 'आहुः' उक्तवन्तः, चशब्दादन्यच्च दूषणाभासादिकं, तथा कर्म च एक पक्षद्विपक्षादिकं प्रतिपादितवन्त इति, यदिवा षडायतनानि-उपादानकारणानि आश्रवद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत्षडायतन कर्मेत्येवमाहुरिति ॥५॥

ते एवमक्खंति अबुज्झ माणा, विरूवरूवाणि अकिरियवाई।
जे मायइ ा बहवे णूसा, भमंति संसार णोवदग्गं ॥६॥

छाया–तएवमाचक्षतेऽबुध्यमानाः, विरूपरूपाण्यक्रियावादिनः।
यमादाय बहवो मनुष्याः भ्रमन्ति संसारमनवदग्रम् ॥

अन्वयार्थ–(अबुज्झमाणा ते अकिरियवाई) वस्तुस्वरूपको न समझनेवाले वे अक्रियावादी (विरूवरूवाणि एवमाइक्खति) नाना प्रकारके शास्त्रों का कथन करते है (जे मायइत्ता बहवे मणुस्सा) जिन शास्त्रों का आश्रय लेकर बहुत मनुष्य (अणोदग्ग संसार भमति) अनन्तकाल तक ससार भ्रमण करते हैं।

भावार्थ–वस्तु स्वरूपको न जाननेवाले वे अक्रियावादी नाना प्रकारके शास्त्रोंका कथन करते हैं, जिन शास्त्रोंका आश्रय लेकर बहुत मनुष्य अनन्त कालतक ससारमें भ्रमण करते हैं।

साम्प्रतमेतद्दूषणायाह–'ते' चार्वाकबौद्धादयोऽक्रियावादिन एवमाचक्षते' सद्भावमबुध्यमाना मिथ्यामलपटलावृतात्मानः परमात्मानं च व्युद्ग्राहयन्तो 'विरूप रूपाणि' नानाप्रकाराणि शास्त्राणि प्ररूपयन्ति, तद्यथा–'दानेन महाभोगाश्च देहिनां सुरगतिश्च शीलेन। भावनया च विमुक्तिस्तपसा सर्वाणि सिध्यन्ति ॥१॥' तथा पृथिव्यापस्तेजो वायुरित्येतान्येव चत्वारि भूतानि विद्यन्ते, नापरः कश्चित्सुख दुःखभागात्मा विद्यते, यदि चैतान्यप्यविचारितरमणीयानि न परमार्थतः सन्तीति,

टीकार्थ–अब इस मतको दूषित करनेके लिये शास्त्रकार कहते हैं–अक्रियावादी चार्वाक और बौद्ध आदि पूर्वोक्त रीतिसे अक्रियावादका वर्णन करते है वस्तुत. वे वस्तुतत्त्वको नहीं समझते हैं। उनका हृदय मिथ्यात्वरूपी मलसमूहसे ढँका हुआ है। वे अपना सिद्धान्त दूसरेको तथा अपनेको ग्रहण कराते हुए नाना प्रकारके शास्त्रोको प्ररूपणा करते हैं। जैसेकि वे कहते हैं–"दानेन" अर्थात् दान देनेसे महान भोग प्राप्त होता है और शील पालन करनेसे देवगति प्राप्त होती है एव शुभ भावना करनेसे मुक्ति होती है और तप करनेसे सब कुछ सिद्ध होता है तथा वे कहते हैं कि–"पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार ही भूत है इनसे भिन्न सुख दुःखको भोगनेवाला कोई आत्मा नहीं है, तथा ये पदार्थ भी विचार न करनेसे सत्य प्रतीत होते हैं परन्तु परमार्थ दशामें मिथ्या हैं क्योकि सभी पदार्थ, स्वप्न, इन्द्रजाल, मरुमरीचिका वा चन्द्रमा आदिके समान प्रतिभासरूप है एवं सभी पदार्थ क्षणिक और आत्मासे रहित हैं तथा सर्वशून्यता दृष्टिसे मुक्ति प्राप्त होती है और उसी मुक्तिकी प्राप्तिके लिये सब भावनायें की जाती है" इस प्रकार आत्माको क्रियारहित माननेवाले

स्वप्नेन्द्रजालमरुमरीचिकानिचयद्विचन्द्रादिप्रतिभासरूपत्वात्सर्वस्येति । तथा 'सर्वं क्षणिकं निरात्मकं' 'मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थाः शेषभावना' इत्यादीनि नानाविधानि शास्त्राणि व्युद्ग्राहयन्त्यक्रियात्मानोऽक्रियावादिन इति । ते च परमार्थमबुध्यमाना यद्दर्शनम् 'आदाय' गृहीत्वा बहवो मनुष्याः संसारम् 'अनवदग्रम्' अपर्यवसानमरहट्टघटीन्यायेन 'भ्रमन्ति' पर्यटन्ति, तथाहि–लोकायतिकानां सर्वशून्यत्वे प्रतिपाद्ये न प्रमाणमस्ति, तथा चोक्तम्–"तत्त्वान्युपप्लुतानोति, युक्त्यभावे न सिध्यति । 'साऽस्ति चेत्सैव नस्तत्त्वं, तत्सिद्धौ सर्वमस्तु सत् ॥१॥" न च प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्, अतीतानागतभावतया पितृनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेः, ततः सर्वसंव्यवहारोच्छेदः स्यादिति । बौद्धानामप्यत्यन्तक्षणिकत्वेन वस्तुत्वाभावः प्रसजति, तथाहि–यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सत्, न च क्षणः क्रमेणार्थक्रियां करोति, क्षणिकत्वहानेः, नापि यौगपद्येन, [तत्कार्याणां] एकस्मिन्नेव क्षणे सर्वकार्यापत्तेः, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा, न च ज्ञानाधारमात्मानं गुणिनमन्तरेण गुण

नाप्यपरपक्षे प्रतिदिनमपहीयते, तथा 'न सलिलानि' उदकानि 'स्यन्दन्ते' पर्वतनिर्झरेभ्यो न स्रवन्ति। तथा वाताः सततगतयो न वान्ति। किं बहुनोक्तेन ?, कृत्स्नोऽप्ययं लोको 'वन्ध्यः' अर्थशून्यो 'नियतो' निश्चितः अभावरूप इतियावत्, सर्वमिदं यदुपलभ्यते तन्मायास्वप्नेन्द्रजालकल्पमिति ॥७॥

पुरुषो को दिखाई देता हुआ दो चन्द्र आदि तथा मृगतृष्णाके समान मिथ्या है। एवं चन्द्रमा शुक्लपक्षमें बढता नहीं है और कृष्णपक्षमे प्रतिदिन घटताभी नही है। तथा जल, पर्वतोंके झरनोसे गिरता नहीं है एव निरन्तर गति करनेवाला वायुभी नहीं चलता है। बहुत कहनेकी आवश्यकता नहीं है, यह समस्त विश्व अर्थशून्य और निश्चय अभावरूप है। इस जगत्मे जो वस्तु उपलब्ध होती है वह सब माया, स्वप्न और इन्द्रजालके समान मिथ्या है। (यह सर्व शून्यतावादी कहते हैं) ७

जहाहि अंधे सह जोतिणावि, रूवाइ णो पस्सति हीणणेत्ते।
संतंपि ते एवमकिरियवाई, किरियं ण पस्संति निरुद्धपन्ना ॥८॥

छाया—यथा ह्यन्धः सह ज्योतिषाऽपि रूपाणि न पश्यति हीननेत्रः।
सतीमपि ते एवमक्रियावादिनः क्रियां न पश्यन्ति निरुद्धप्रज्ञाः॥

आच्छादिता ज्ञानावरणादिना कर्मणा प्रज्ञा-ज्ञानं येषां ते तथा, तथाहि-आगोपालाङ्गनादिप्रतीतः समस्तान्धकारक्षयकारी कमलाकरोद्घाटनपटीयानादित्योद्गमः प्रत्यहं भवन्नुपलक्ष्यते, तत्क्रिया च देशाद्देशान्तरावाप्त्याऽन्यत्र देवदत्तादौ प्रतीताऽनुमीयते। चन्द्रमाश्च प्रत्यहं क्षीयमाणः समस्तक्षयं यावत्पुनः कलाभिवृद्धया प्रवर्धमानः संपूर्णावस्था(स्थां)यां यावदध्यक्षेणैवोपलक्ष्यते। तथा सरितश्च प्रावृषि जलकल्लोलाविलाः स्यन्दमाना दृश्यन्ते। वायवश्च वान्तो वृक्षभङ्गकम्पादिभिरनुमीयन्ते। यच्चोक्तं भवता-सर्वमिदं मायास्वप्नेन्द्रजालकल्पमिति, तदसत्, यतः सर्वाभावे कस्यचिदमायारूपस्य सत्यस्याभावान्मायाया एवाभावः स्यात्, यश्च मायां प्रतिपादयेत् यस्य च प्रतिपाद्यते सर्वशून्यत्वे तयोरेवाभावात्कुतस्तद्व्यवस्थितिरिति ?, तथा स्वप्नोऽपि जाग्रदवस्थायां सत्यां व्यवस्थाप्यते तस्या अभावे तस्याप्यभावः स्यात्ततः स्वप्नमभ्युपगच्छता भवता तन्नान्तरीयकतया जाग्रदवस्थाऽवश्यमभ्युपगता भवति, तदभ्युपगमे च सर्वशून्यत्वहानिः न च स्वप्नोऽप्यभावरूप एव, स्वप्नेऽप्यनुभूतादेः सद्भावात्, तथा चोक्तम्-"अणुहूयदिट्ठचिंतिय छरपयइवियारदेवयाऽणूया। सुमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं

दूर करता है तथा कमलसमूहको विकसित करता है। वह प्रतिदिन होता हुआ दिखाई देता है। तथा एक देशसे दूसरे देशमें सूर्य्यकी प्राप्ति देखकर उसकी गतिभी अनुमित होती है। जैसे देवदत्त गति करके ही एक देशसे दूसरे देशमें जाता है इसीतरह सूर्य्यभी गति करके ही एक देशसे दूसरे देशमें जाता है। तथा चन्द्रमा भी कृष्णपक्षमें प्रतिदिन क्षीण होता हुआ तथा समस्त क्षीण होकर फिर शुक्लपक्षमें एक एक कला बढता हुआ पूर्णिमाके दिन सम्पूर्ण अवस्थामें प्रत्यक्ष ही देखाजाता है। तथा नदियाँ वर्षाऋतुमें जलके तरङ्गोसे भरी और बहती हुई प्रत्यक्ष देखी जाती है। एवं वृक्षके कम्पन-आदिके द्वारा वायुके बहनेका भी अनुमान होता है। नास्तिक इन समस्त वस्तुओंको जो माया और इन्द्रजालके समान मिथ्या बताते है वह ठीक नहीं है क्योंकि-समस्त वस्तुके अभाव माननेपर अमायारूप किसी भी सत्य वस्तुके न होने से मायाका भी अभाव होगा। तथा जो मायाका कथन करता है और जिसके प्रति मायाका कथन किया जाता है इन दोनोंके अभाव होने से किस प्रकार मायाकी व्यवस्था की जासकती है?। तथा स्वप्न भी जाग्रत् अवस्था होनेपर ही होता है अत जग्रत् अवस्थाके अभाव होनेपर स्वप्नका भी अभाव होगा अत स्वप्न माननेवाले चार्वाकके द्वारा जाग्रत्के विना स्वप्नके न होने से जाग्रत् भी स्वीकृत हो ही जाता है। इस प्रकार जाग्रत् अवस्थाको स्वीकार करनेपर सर्वशून्यताकी हानि होती है। तथा स्वप्न भी अभावरूप नहीं है क्योंकि स्वप्नमे देखे हुए पदार्थ भी बाहर पाये जाते हैं अतएव कहा है कि "अणुहूय" इत्यादि। अर्थात अनुभव किया हुआ, देखा हुआ, चिन्ता किया हुआ, सुना हुआ, प्रकृतिका विकार, देवताका प्रभाव, और पुण्य तथा पाप

१ अनुभूतदृष्टचिन्तितश्रुतप्रकृतिविकारदैवतानूपाः। स्वप्नस्य निमित्तानि पुण्यं पापं च नाभावः ॥१॥

पावं च णाभावो ॥१॥" इन्द्रजालव्यवस्थाऽप्यपरसत्यत्वे सति भवति, तदभावे तु केन कस्य चेन्द्रजालं व्यवस्थाप्येत ?, द्विचन्द्रप्रतिभासोऽपि रात्रौ सत्यामेकस्मिश्च चन्द्रमस्युपलंभकसद्भावे च घटते न सर्वशून्यत्वे, न चाभावः कस्यचिदप्यत्यन्ततुच्छरूपोऽस्ति, शशविषाणकूर्मरोमगगनारविन्दादीनामत्यन्ताभावप्रसिद्धानां समासप्रतिपाद्यस्यैवार्थस्याभावो न प्रत्येकपदवाच्यार्थस्येति, तथाहि-शशोऽप्यस्ति विषाणमप्यस्ति किं त्वत्र शशमस्तकसमवायि विषाणं नास्तीत्येतत्प्रतिपाद्यते, तदेवं संबन्धमात्रमत्र निषिध्यते नात्यन्तिको वस्त्वभाव इति, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति । तदेवं विद्यमानायामप्यस्तीत्यादिकायां क्रियायां निरुद्धप्रज्ञास्तीर्थिका अक्रियावादमाश्रिता इति ॥८॥ अनिरुद्धप्रज्ञास्तु यथावस्थितार्थवेदिनो भवन्ति, तथाहि-अवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानिनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिनः पदार्थान् करतलामलकन्यायेन पश्यन्ति, समस्तश्रुतज्ञानिनोऽपि आगमबलेनातीतानागतानर्थान् विदन्ति, येऽप्यन्येऽष्टाङ्गनिमित्तपारगास्तेऽपि निमित्तबलेन जीवादिपदार्थपरिच्छेदं विदधति, तदाह-

छाया-संवत्सरं स्वप्नं लक्षणञ्च, निमित्तं देहञ्चौत्पातिकञ्च ।
अष्टाङ्गमेतद् बहवोऽधीत्य लोके जानन्त्यनागतानि ॥

अन्वयार्थ-(संवच्छर सुविणं लक्खण च) ज्योतिष, स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र (निमित्त देह च उप्पाइयं च) निमित्त शास्त्र तथा शरीरके तिल आदिका फल बतानेवाला शास्त्र एव उल्कापात और दिग्दाह आदिका फल बतानेवाला शास्त्र (एय अट्ठगं अहित्ता) इन आठ अङ्गवाले शास्त्रोंको पढकर (लोगंसि बहवे) लोकमें बहुत से पुरुष (अणागताइं जाणति) भविष्यकी बातोको जानते हैं।

भावार्थ-जगत्में बहुत से पुरुष ज्योतिष शास्त्र स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र, निमित्तशास्त्र, शरीरके तिल आदिका फल बतानेवाला शास्त्र और उल्कापात तथा दिग्दाह आदिका फल बतानेवाला शास्त्र, इन आठ अङ्गोवाले शास्त्रोको पढकर भविष्यमें होनेवाली बातोंको जानते हैं।

'सांवत्सर' मिति ज्योतिषं स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थः स्वप्नस्तमधीत्य 'लक्षणं' श्रीवत्सादिकं, चशब्दादान्तरबाह्यभेदभिन्नं, 'निमित्तं' वाक्प्रशस्तशकुनादिकं देहे भव दैहं-मषकतिलकादि, उत्पाते भवमौत्पातिकम्-उल्कापातदिग्दाहनिर्घातभूमिकम्पादिकं; तथा अष्टाङ्गं च निमित्तमधीत्य, तद्यथा-भौममुत्पातं स्वप्नमान्तरिक्षमाङ्गं स्वरं लक्षणं व्यञ्जनमित्येवंरूपं नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुविनिर्गतं सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभादिसंसूचकं निमित्तमधीत्य लोकेऽस्मिन्नतीतानि वस्तूनि अनागतानि च 'जानन्ति' परिच्छिन्दन्ति, न च शून्यादिवादेष्वेतद् घटते; तस्मादप्रमाणकमेव नैरभिधीयत इति ॥९॥

छाया-कानिचिन्निमित्तानि सत्यानि भवन्ति, केषाञ्चित्तत् विपर्य्येति ज्ञानम्।
ते विद्याभावमनधीयाना आहुर्विद्यापरिमोक्षमेव ॥

अन्वयार्थ-(केई निमित्ता तहिया भवति) कोई निमित्त सत्य होता है (केसिंचि त णाण विप्पडिएति) और किसी किसी निमित्तवादीका वह ज्ञान विपरीत होता है। (ते विज्जभाव अणहिज्जमाणा) यह देखकर विद्याका अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी (विज्जापरिमोक्खमेव आहसु) विद्याके त्यागको ही कल्याणकारक कहते हैं।

भावार्थ- कोई निमित्त सत्य होता है और किसी किसी निमित्तवादीका वह ज्ञान विपरीत होता है। यह देखकर विद्याका अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी विद्याके त्यागको ही कल्याणकारक कहते है।

एवं व्याख्याते सति आह परः ननु व्यभिचार्यपि श्रुतमुपलभ्यते, तथाहि-चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपतितत्वमागम उद्घुष्यते किं पुनरष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रविदाम्?, अत्र चाङ्गवर्जितानां निमित्तशास्त्राणामानुष्टुभेन छन्दसाऽर्धत्रयोदश शतानि सूत्रं तावन्त्येव सहस्राणि वृत्तिस्तावत्प्रमाणलक्षा परिभाषेति, अङ्गस्य त्वर्धत्रयोदशसहस्राणि सूत्रं, तत्परिमाणलक्षा वृत्तिरपरिमितं वार्तिकमिति, तदेवमष्टाङ्गनिमित्तवेदिनामपि परस्परतः षट्स्थानपतितत्वेन व्यभिचारित्वमत इदमाह-'केई' त्यादि, छान्दसत्वात्प्राकृतशैल्या वा लिङ्गव्यत्ययः, कानिचिन्निमित्तानि 'तथ्यानि' सत्यानि भवन्ति, केषाञ्चित्तु निमित्तानां निमित्तवेदिनां वा 'बुद्धिवैकल्यात्तथाविधक्षयोपशमाभावेन तन निमित्तज्ञानं 'विपर्यासं' व्यत्ययमेति. आर्हतानामपि निमित्त-

अन्वयार्थ–(ते समणा माहणा य) वे श्रमण यानी शाक्यभिक्षु और माहन अर्थात् ब्राह्मण (लोग समिच्च) अपने अभिप्रायके अनुसार लोकको जानकर (तहा तहा एउमक्खन्ति) कर्मानुसार फल प्राप्त होना बताते हैं। (सयं कडं णन्नकडं च दुक्खं) तथा वे यह भी कहते हैं कि दुःख अपने करने से होता है दूसरेके करने से नहीं होता है (विज्जाचरणं पमोक्खं आहंसु) परन्तु तीर्थङ्करोंने ज्ञान और क्रिया से मोक्ष कहा है।

भावार्थ–शाक्य भिक्षु और ब्राह्मण आदि अपने अभिप्रायके अनुसार लोकको जानकर क्रियाके अनुसार फल होना बताते हैं और वे यह भी कहते हैं कि दुःख अपने करनेसे होता है दूसरेके करनेसे नहीं होता है परन्तु तीर्थंकरोंने ज्ञान और क्रियासे मोक्ष कहा है।

साम्प्रतं क्रियावादिमतं दुदूषयिषुस्तन्मतमाविष्कुर्वन्नाह–ये क्रियात एव ज्ञाननिरपेक्षायाः दीक्षादिलक्षणाया मोक्षमिच्छन्ति ते एवमाख्यान्ति, तद्यथा–'अस्ति माता पिता अस्ति सुचीर्णस्य कर्मणः फल'मिति, किं कृत्वा त एवं कथयन्ति?–क्रियात एव सर्वं सिध्यतीति स्वाभिप्रायेण 'लोकं' स्थावरजङ्गमात्मकं 'समेत्य' ज्ञात्वा, किल वयं यथावस्थितवस्तुनो ज्ञातार इत्येवमभ्युपगम्य सर्वं मस्त्येवेत्येवं सावधारणं प्रतिपादयन्ति, न कथञ्चिन्नास्तीति, कथमाख्यान्ति?–'तथा तथा' तेन (तेन) प्रकारेण, यथा यथा क्रिया तथा तथा स्वर्गनरकादिकं फलमिति, ते च श्रमणास्तीर्थिका ब्राह्मणा वा क्रियात एव सिद्धिमिच्छन्ति, किञ्च–यत् किमपि संसारे दुःखं तथा सुखं च तत्सर्वं स्वयमेवात्मना कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना, न चैतदक्रियावादे घटते, तत्र ह्यक्रियत्वादात्मनोऽकृतयोरेव सुखदुःखयोः संभवः स्यात्, एवं च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम्, अत्रोच्यते, सत्यमस्त्यात्मसुख-

---

टीकार्थ–अब शास्त्रकार क्रियावादीके मतको दूषित करनेके लिये उनका मत बताते हैं–जो लोग ज्ञानरहित केवल दीक्षा आदि क्रियासे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं वे यह कहते हैं–"माता पिता है और शुभ कर्मका फलभी होता है।" वे क्या करके ऐसा कहते हैं? वे क्रियासे ही सब कार्य्य सिद्ध होता है इस प्रकार अपने अभिप्रायके अनुसार स्थावर जंगमरूप लोकको जानकर "हम ही वस्तुका सच्चा स्वरूप जानते हैं" ऐसा मानते हुए सब पदार्थ है ही इस प्रकार अवधारणके साथ वस्तुका स्वरूप बताते हैं परन्तु वस्तु कथंचित् नहीं भी है ऐसा वे नहीं कहते हैं। तथा वे कहते हैं कि जीव जैसी जैसी क्रियायें करता है उसके अनुसार ही वह स्वर्ग और नरक आदि फलको प्राप्त करता है। वे श्रमण और ब्राह्मण क्रियामात्रसे मोक्षकी प्राप्ति बताते हैं। वे कहते हैं कि–संसारमें सुख दुःख आदि जो कुछ होता है वह सब अपना किया हुआ होता है काल तथा ईश्वर आदिका किया हुआ नहीं होता है। जो क्रिया नहीं मानते हैं उनके मतमें ये बातें घटित नहीं होती हैं क्योंकि आत्माके अक्रिय होनेपर बिना किये ही सुख दुःखकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। यदि बिना कियेही सुख दुःखकी प्राप्ति हो तो कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष होंगे। अब यहां जैनाचार्य कहते हैं कि–तुम्हारा कहना

दुःखादिकं, न त्वस्त्येव; तथाहि-यद्यस्त्येव इत्येवं सावधारणमुच्यते ततश्च न कथञ्चिन्नास्तीत्यापन्नम्, एवं च सति सर्वं सर्वात्मकमापद्येत, तथा च सर्वलोकस्य व्यवहारोच्छेदः स्यात्, न च ज्ञानरहितायाः क्रियायाः सिद्धिः, तदुपायपरिज्ञानाभावात्, न चोपायमन्तरेणोपेयमवाप्यत इति प्रतीतं, सर्वा हि क्रिया ज्ञानवत्येव फलवत्युपलक्ष्यते, [1]उक्तञ्च-"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठति सव्वसंजए। अन्नाणी किं काही, किं वा नाही छेयपावयं ॥१॥" इत्यतो ज्ञानस्यापि प्राधान्यं, नापि ज्ञानादेव सिद्धिः, क्रियारहितस्य ज्ञानस्य पङ्गोरिव कार्यसिद्धेरनुपपत्तेरित्यालोच्याह-'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं'ति, न ज्ञाननिरपेक्षायाः क्रियायाः सिद्धिः, अन्धस्येव, नापि क्रियाविकलस्य ज्ञानस्य पङ्गोरिव, इत्येवमवगम्य 'आहुः' उक्तवन्तः, तीर्थकरगणधरादयः, कमाहुः?, मोक्षं, कथं?, विद्या च-ज्ञानं चरणं च-क्रिया ते द्वे अपि विद्येते कारणत्वेन यस्येति विगृह्यार्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्, असौ विद्याचरणो-मोक्षः-ज्ञानक्रियासाध्य इत्यर्थः, तमेवंसाध्यं-मोक्षं प्रतिपादयन्ति। यदिवाऽन्यथा पातनिका, केनैतानि समवसरणानि [2]प्रतिपादितानि? यच्चोक्तं यच्च

ठीक है क्योंकि आत्मा और सुख दुःख आदि जरूर है परन्तु वे सर्वथा है ही यह बात नहीं है क्योंकि यदि वे (सब प्रकारसे) है ही इस प्रकार अवधारणके सहित उनका अस्तित्व है तो वे कथञ्चित् नहीं है यह बात नहीं हो सकती है और ऐसा न होनेपर सभी वस्तु सर्ववस्तुस्वरूप हो जायगी। इस प्रकार जगत्के समस्त व्यवहारोंका उच्छेद हो जायगा (इसलिये वस्तु कथञ्चित् है यही बात माननी चाहिये) तथा ज्ञानरहित क्रियासे कोई कार्य्य सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उस कार्यके उपायका ज्ञान नहीं रहता है और उपायका ज्ञानके विना उपायके द्वारा प्राप्त होनेवाला पदार्थकी प्राप्ति नहीं होती है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। सभी क्रियायें ज्ञानके साथ ही फल देती है यह देखा जाता है अतएव कहा है कि—पहले ज्ञान होता है तव दया पाली जाती है समस्त संयमी जीव पहले जीवोंका ज्ञान प्राप्त करते है पश्चात् दयाका पालन करते हैं जिसको जीवादि पदार्थोंका ज्ञान नहीं है वह पुरुष कैसे दया कर सकता है? और वह पापको किस प्रकार जान सकता है? । अत. क्रियाके समान ज्ञानकी भी प्रधानता है। एक मात्र ज्ञानसेभी कार्य्यकी सिद्धि नहीं होती है क्योकि क्रियारहित ज्ञान पङ्गुके समान है इसलिये वह कार्य्यकी सिद्धिमें समर्थ नहीं है। यह विचार कर शास्त्रकार कहते है कि—ज्ञानरहित क्रियासे कार्य्यकी सिद्धि नहीं होती है तथा क्रियारहित ज्ञान भी पंगुके समान है इसलिये तीर्थंकर और गणधर आदिने ज्ञान और क्रिया दोनोसे मोक्ष बताया

१ प्रथम ज्ञान ततो दया एव तिष्ठति सर्वसंयत । अज्ञानी किं करिष्यति किंवा ज्ञास्यति छेकपापक ॥१॥ ज्ञानस्य ज्ञानिना चैव, निन्दाप्रद्वेषमत्सरैः । उपघातैश्च विघ्नैश्च, ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते ॥२॥ केषुचिदादर्शेषु दृश्यते ऽलोकोऽयमशुभक्रियाया ज्ञानपूर्विकाया फलवत्ताज्ञापनाय न तदा विरोध ।

२ 'प्रणीतानि' इत्यपि ।

वक्ष्यते इत्येतदाशङ्क्याह-'ते एवमक्खंती' त्यादि, अनिरुद्धा-क्वचिदप्यस्खलिता प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञाज्ञानं येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्धप्रज्ञाः, त 'एवम्' अनन्तरोक्तया प्रक्रियया सम्यगाख्यान्ति-प्रतिपादयन्ति 'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकं स्थावरजङ्गमाख्यं वा 'समेत्य' केवलज्ञानेन करतलामलकन्यायेन ज्ञात्वा तथागताः-तीर्थकरत्वं केवलज्ञानं च गताः, 'श्रमणाः' साधवो 'ब्राह्मणाः' संयतासंयताः, कौकिकी 'वा वाचोयुक्ति', किम्भूतास्त एवमाख्यान्तीति सम्बन्धः, तथा तथेति वा क्वचित्पाठः, यथा यथा समाधिमार्गो व्यवस्थितस्तथा तथा कथयन्ति, एतच्च कथयन्ति-यथा यत्किञ्चित्संसारान्तर्गतानामसुमतां दुःखम्-असातोदयस्वभावं, तत्प्रतिपक्षभूतं च सातोदयापादितं सुखं, तत्स्वयम्-आत्मना कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना कृतमिति, तथा चोक्तम्-[2]"सव्वो पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं। अवराहेसु गुणेसु य णिमित्तमित्तं परो होइ ॥१॥" एतच्चाहुस्तीर्थंकरगणधरादयः, तद्यथा-विद्या-ज्ञानं चरणं-चारित्रं क्रिया तत्प्रधानो मोक्षस्तमुक्तवन्तो, न ज्ञानक्रियाभ्यां परस्परनिरपे-

है। यहां "ज्ञानं च क्रिया च" यह विग्रह करके अर्श आदित्वात् अच् प्रत्यय हुआ है इसलिये मोक्ष ज्ञान और क्रियाके द्वारा साध्य है यह अर्थ है। आशय यह है कि-तीर्थङ्कर और गणधर आदि ज्ञान और क्रिया दोनोंसे मोक्षकी प्राप्ति कहते है। अथवा इस गाथाकी दूसरी तरह भी व्याख्या है-इन समवसरणोंको किसने कहा है जो तुमने पहले कहा है और आगे चलकर कहोगे? यह शङ्का करके शास्त्रकार यह गाथा लिखते है-जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप जानते हैं उसे 'प्रज्ञा' कहते है प्रज्ञा नाम ज्ञानका है वह ज्ञान जिसका कहो नहीं रुकता है उसे अनिरुद्धप्रज्ञ कहते है। वे अनिरुद्धप्रज्ञ पुरुष पूर्वोक्त रीतिसे वस्तुस्वरूपका कथन करते हैं। वे केवलज्ञानके द्वारा चौदह रज्जु स्वरूप अथवा स्थावर जगमरूप इस लोकको हस्तामलकवत् जानकर तीर्थंकरपदको अथवा केवलज्ञानको प्राप्त है। तथा श्रमण यानी साधु और ब्राह्मण यानी संयतासयत ऐसा करते है। वे कैसे हैं जो ऐसा कहते है? कहीं कही "तथा तथेति वा" यह पाठ मिलता है। इसका अर्थ है कि जिस प्रकार समाधि मार्ग व्यवस्थित है यानी सत्य है उस उस प्रकार उपदेश करते है। वे कहते है कि-संसारके प्राणियोंको जो कुछ दुख प्राप्त होता है तथा उससे विपरीत जो सुख प्राप्त होता है वह अपने किए हुए कर्मका फल है वह काल, और ईश्वर आदिसे किया हुआ नही है। अतएव कहा है कि सभी प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल प्राप्त करते हैं दूसरा पदार्थ बुराई और भलाईका केवल निमित्त मात्र है। तथा वे कहते है कि-ज्ञान और क्रिया दोनोहीसे मोक्ष प्राप्त होता है परन्तु ज्ञाननिरपेक्ष क्रियासे अथवा क्रियानिरपेक्ष ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता है। अतएव तीर्थंकरकी स्तुति करते हुए जैनाचार्य्यने कहा है कि-उत्तम ज्ञानके विना क्रिया

१ नेद प्रत्यन्तरे। २ सर्व पूर्वकृताना कर्मणा प्राप्नोति फलविपाक। अपराधेषु गुणेषु च निमित्तमात्र परो भवति ॥१॥

क्षाभ्यामिति, ा चोक्तम्–"क्रियां च सज्ज्ञानवियोगनिष्फलां, क्रियाविहीनां च विबोधसम्पदम् । निरस्यता क्लेशसमूहशान्तये, त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः ॥१॥" ११

निष्फल है तथा उत्तम ज्ञानकी सम्पद् भी क्रियाके विना व्यर्थ है अतः आपने केवल क्रिया और केवल ज्ञानको क्लेशसमूहकी शान्तिके विषयमें निरर्थक ठहरा कर जगत्को मङ्गल मार्ग बताया है । ११

ते चक्खु ोगंसि ह ाय ा उ, मग्गाणु ासंति हि ं पया ं ।
हा हा ा माहु ोए, जंसी पया ाणव! ं प ाढा ॥१२॥

छाया–ते च लोकस्येह नायकास्तु मार्गमनुशासति हितं प्रजानाम् ।
तथा तथा शाश्वत माहुर्लोक मस्मिन् प्रजाः मानव संप्रगाढाः ॥

अन्वयार्थ-(ते लोगसि चक्खु) इस लोकमें वे तीर्थङ्कर आदि नेत्रके समान है । (णायगाउ) तथा वे नायक यानी प्रधान हैं । (पयाण हित मग्गाणुसासति) वे प्रजाओंको कल्याणका मार्ग बताते है । (तहा तहा लोए सासय माहु) तथा ज्यों ज्यों मिथ्यात्व वढता है त्यो त्यों ससार मजबूत होता जाता है (जसी पया सपगाढा) जिसमें प्रजा निवास करती हैं यह वे कहते हैं ।

भावार्थ–वे तीर्थंकर आदि जगत्के नेत्रके समान है वे इस लोकमें सबसे श्रेष्ठ है वे प्रजाओंको कल्याणमार्गकी शिक्षा देते है । वे कहते है कि–ज्यों ज्यों मिथ्यात्व बढता है त्यों त्यो ससार मजबूत होता जाता है जिस ससारमें प्रजा निवास करती है ।

किञ्च-'ते' तीर्थंकरगणधरादयोऽतिशयज्ञानिनोऽस्मिन् लोके चक्षुरिव चक्षुर्वर्तन्ते, यथा हि चक्षुर्योग्यदेशावस्थितान् पदार्थान् परिच्छिनत्ति एवं तेऽपि लोकस्य य सि पदार्थाविष्करणं कारयन्ति, तथाऽस्मिन् लोके ते नायकाः-प्रधानाः, तुशब्दो विशेषणे, सदुपदेशदानतो नायका इति, एतदेवाह-'मार्गं' ज्ञानादिकं मोक्षमार्गं 'अनुशासति' कथयन्ति ना- यन्त इति प्रजाः-प्राणिनस्तेषां, किम्भूतं ?, हितं, सद्गतिप्रापकमनर्थनिवारकं च, किञ्च-चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके

टीकार्थ–अतिशय ज्ञानी वे तीर्थंकर और गणधर आदि इस लोकके नेत्रके समान है । जैसे योग्य देशमे स्थित पदार्थको नेत्र प्रकाश करता है इसीतरह वेभी लोकके पदार्थके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश करते है तथा वे इसलोकमे सबसे प्रधान हैं । तु शब्द विशेषणार्थक है इसलिये उत्तम उपदेश देनेके कारण वे सबसे श्रेष्ठ है यह आशय है । वे प्रजाओंको मोक्षमार्गका उपदेश करते है । वह मार्ग सद्गतिको प्राप्त करानेवाला और अनर्थको निवारण करनेवाला है । तथा चौदह रज्जुस्वरूप अथवा पाँच अस्तिकायस्वरूप इस लोकमें जिस प्रकारसे

पञ्चास्तिकायात्मके वा येन येन प्रकारेण द्रव्यास्तिकनयाभिप्रायेण यद्वस्तु शाश्वतं था 'त आहुः' उक्तवन्तः, यदिवा लोकोऽयं प्राणिगणः संसारान्तर्वर्ती यथा यथा शाश्वतो भवति तथा तथैवाहुः, तद्यथा-यथा यथा मिथ्यादर्शनाभिवृद्धिस्तथा तथा शाश्वतो लोकः, तथाहि-तत्र तीर्थकराहारकवर्ज्याः सर्व एव कर्मबन्धाः सम्भाव्यन्त इति, तथा च महारम्भादिभिश्चतुर्भिः स्थानैर्जीवा नरकायुष्कं यावन्निर्वर्तयन्ति तावत्संसारानुच्छेद इति, अथवा यथा यथा रागद्वेषादिवृद्धिस्तथा तथा संसारोऽपि शाश्वत इत्याहुः, यथा यथा च कर्मोपचयमात्रा तथा तथैव संसाराभिवृद्धिरिति । दुष्टमनोवाक्कायाभिवृद्धौ वा संसाराभिवृद्धिरवगन्तव्या, तदेवं संसारस्याभिवृद्धिर्भवति । 'यस्मिश्च' संसारे, प्रजायन्त इति 'प्रजाः' जन्तवः, हे मानव ?, मनुष्याणामेव प्रायश उपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणं, सम्यग्नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन 'प्रगाढाः' प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति ॥१२॥ लेशतो जन्तुभेदप्रदर्शनद्वारेण तत्पर्यटनमाह—

(अर्थात् द्रव्यास्तिक नयके अनुसार) जो वस्तु शाश्वत है उसे वे वैसाही कहते है। अथवा इस संसारके प्राणिगण जिस जिस प्रकारसे संसारमें स्थिर होते जाते हैं उसेभी उन्होंने बताया है। उन्होने कहा है कि—ज्यों ज्यो मिथ्यादर्शनको वृद्धि होती है त्यो त्यो ससार शाश्वत होता जाता है क्योकि तीर्थङ्कर और आहारकको छोड़कर सभी कर्मबन्धोंका उसमे सम्भव है क्योंकि महारम्भ आदि चार स्थानोंके द्वारा जीव जबतक नरककी आयु बाँधते है तबतक संसारका उच्छेद नहीं होता है अथवा ज्यो ज्यों राग द्वेष बढता है त्यो त्यो संसार भी शाश्वत होता जाता है यह तीर्थङ्करोने कहा है। अत ज्यों ज्यों कर्मका उपचय होता जाता है त्यों त्यों संसारकी वृद्धि होतो जाती है यह जानना चाहिये। तथा दुष्ट मन, वाणी और कायकी वृद्धि होनेपर संसार की वृद्धि होती है यह भी जानना चाहिये। इसप्रकार उस संसारकी वृद्धि होती है जिसमें नारक तिर्यञ्च मनुष्य और अमरभेदसे प्राणी निवास करते है, हे मनुष्यो ! तुम यह जानो। यहाँ मनुष्योंका ही सम्बोधन इसलिये किया है कि—प्राय वे ही उपदेशके योग्य होते है। १२

जे रक्खसा वा ज लोइया वा, जे वा सुरा गंधवा य काया।
आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति १३

छाया—ये राक्षसा वा यमलौकिका वा, ये वा सुराः गन्धर्वाश्च कायाः।
आकाशगामिनश्च पृथिव्याश्रिताश्च, पुनः पुनो विपर्यासमुपयान्ति ॥

अन्वयार्थ-(जे रक्खसावा जमलोइयावा) जो राक्षस है तथा जो यमपुरीमे निवास करते है (जेवा सुरा गधव्वा य काया) तथा जो देवता है और जो गन्धर्व है (आगासगामीय पुढोसिया जे) तथा जो आकाशगामी और जो पृथिवी पर रहते है (पुणो पुणो विप्परियासुवेंति)वे वार वार भिन्न भिन्न गतियोंमे भ्रमण करते रहते है।

भावार्थ—राक्षस, यमपुरवासी, देवता गन्धर्व, आकाशगामी तथा पृथिवीपर रहनेवाले प्राणी सभी वार वार भिन्न भिन्न गतियोंमें भ्रमण करते है ।

'ये' केचन व्यन्तरभेदा राक्षसात्मानः, तद्ग्रहणाच्च सर्वेऽपि व्यन्तरा गृह्यन्ते तथा यमलौकिकात्मानः, अ(म्ब)म्बर्ष्यादयस्तदुपलक्षणात्सर्वे भ पतयः तथा ये च 'सुराः' सौधर्मादिवैमानिकाः, ब्दाज्ज्योतिष्काः सूर्यादयः, तथा ये 'गान्धर्वा' विद्याधरा व्यन्तरविशेषा वा, तद्ग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थं, तथा 'कायाः' पृथिवी-क दयः षडपि न्त इति । पुनरन्येन रेण सत्त्वान्संजिघृक्षुराह-ये केचन ' गामिनः' संप्राप्ताकाशगमनलब्धयश्चतुर्विधदेवनिकायविद्याधरपक्षिवायवः, तथा ये च 'पृथिव्याश्रिताः' पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियास्ते सर्वेऽपि स्वकृतकर्मभिः पुनः पुनर्विविधम्-अनेकप्रकारं सिंपरिक्षेपमरहट्टघटीन्यायेन परिभ्रमणमुप-सामीप्येन यान्ति-गच्छन्तीति ॥१३॥

टीकार्थ—अब शास्त्रकार अंगसे प्राणियोंका भेद बताकर उनका संसारमें भ्रमण बताते हैं— व्यन्तर जातिके भेद जो राक्षस है उनके ग्रहणसे सभी व्यन्तरोका यहां ग्रहण करना चाहिये तथा यमलोकमें रहनेवाले जो अम्ब, और अम्बर्षि आदि है उनके उपलक्षण होनेसे सभी भवन-पतियोंका तथा सुर पदसे सौधर्म आदि वैमानिक देव समझना चाहिये एवं च शब्दसे सूर्य्य आदि ज्योतिष्क देवताओंको जानना चाहिये तथा गन्धर्व पदसे विद्याधर अथवा कोई व्यन्तरकी जूदी जाति जाननी चाहिये इस भेदको अलग लेनेसे इसे प्रधान समझना चाहिये । तथा काय शब्दसे पृथिवीकाय आदि छः ही कायोंका ग्रहण है । फिर शास्त्रकार दूसरे प्रकारसे जीवोंका भेद वताते है—जो आकाशमें उड़नेवाले है अर्थात् जिनमें आकाशमें उड़नेकी शक्ति है वे चार प्रकारके देवता, विद्याधर, पक्षी और वायु है । तथा पृथिवीके आश्रयसे रहनेवाले जो पृथिवी, जल, तेज, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय प्राणी है वे सभी अपने किये हुए कर्मके अनुसार भिन्न भिन्न रूपोमे अरहट यन्त्रकी तरह संसारमें भ्रमण करते है । १३

जमाहु ओहं लिलं पारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी वि । विसयंगणाहिं, दुहओऽवि ोयं अणुसंचरंति १४

छाया—यमाहुरोघं सलिलमपारगं, जानीहि भवगहनं दुर्मोक्षम् ।
यस्मिन् विषण्णाः विषयाङ्गनाभिर्द्विधाऽपि लोकमनुसञ्चरन्ति ॥

अन्वयार्थ-(ज ओघ सलिल अपारग आहु) जिस ससारको स्वयम्भूरमण समुद्रके जलके समान अपार कहा है (भवगहण दुमोक्ख जाणाहि) उस गहन समारको दुर्मोक्ष जानो । (जसी विसयग-नाहि विसन्ना) जिस ससारमें विषय और स्त्रियोंमें आसक्त जीव (दुहओवि लोय अणुसचरंति) स्थावर और जङ्गम दोनोही प्रकार से भ्रमण करते हैं ।

भावार्थ—इस संसारको जिनेश्वरदेवने स्वयम्भू रमण समुद्रके समान दुस्तर कहा है अतः इस गहन संसारको तुम दुर्मोक्ष समझो । विषय तथा स्त्रीमें आसक्त जीव इस जगत्में बार बार स्थावर और जङ्गम जातियोंमे भ्रमण करते रहते है ।

किञ्चान्यत्-'यं' संसारसागरम् आहुः-उक्तवन्तस्तीर्थकरगणधरादयस्तद्विदः, कथमाहुः ?-स्वयम्भुरमणसलिलौघवदपारं, यथा स्वयम्भुरमणसलिलौघो न केनचिज्जलचरेण स्थलचरेण वा लङ्घयितुं शक्यते एवमयमपि संसारसागरः सम्यग्दर्शनमन्तरेण लङ्घयितुं न शक्यत इति दर्शयति-'जानीहि' अवगच्छ णमिति वाक्यालङ्कारे, भवगहनमिदं-चतुरशीतियोनिलक्षप्रमाणं यथासम्भवं सङ्खयेयासङ्खयेयानन्तस्थितिकं दुःखेन मुच्यत इति दुर्मोक्षं-दुरुत्तरमस्तिवादिनामपि, {किं पुनर्नास्तिकानाम् ?, पुनरपि भवगहनोपलक्षितं संसारमेव विशिनष्टि-'यत्र' यस्मिन् संसारे सावद्यकर्मानुष्ठायिनः कुमार्गपतिता असत्समवसरणग्राहिणो 'विपण्णा' अवसक्ता विषयप्रधाना अङ्गना विषयाङ्गनास्ताभिः, यदिवा विषयाश्चाङ्गनाश्च विषयाङ्गनास्ताभिर्वशीकृताः सर्वत्र सदनुष्ठानेऽवसीदन्ति, त एव विषयाङ्गनादिके पङ्के विपण्णा 'द्विधाऽपि' आकाशाश्रित पृथिव्याश्रितं च लोकं, यदिवा स्थावरजङ्गमलोकं 'अनुसंचरन्ति' गच्छन्ति, यदिवा-'द्विधाऽपि' इति लिङ्गमात्रप्रव्रज्यया ऽविरत्या (च) रागद्वेषाभ्यां वा लोकं-चतुर्दशरज्ज्वात्मकं स्वकृतकर्मप्रेरिता 'अनुसञ्चरन्ति' बम्भ्रम्यन्त इति ॥१४॥

टीकार्थ—संसारका स्वरूप जाननेवाले तीर्थङ्कर और गणधर आदिने संसारका स्वरूप बताया है । कैसा स्वरूप बताया है ? स्वयम्भूरमण समुद्रका जलसमूहके समान अपार बताया है । जैसे स्वयम्भूरमण समुद्रके जलसमूहको न कोई जलचर उल्लङ्घन कर सकता है और न स्थलचर उल्लङ्घन कर सकता है इसीतरह यह संसारसागर भी सम्यग्दर्शनके विना लङ्घन नहीं किया जा सकता है । यही शास्त्रकार दिखाते है—ऐसा जानो, णं शब्द वाक्यकी शोभाके लिये आया है । यह संसाररूपी गहन (वन) चौरासी लाख योनि प्रमाणवाला है और यह यथासम्भव संख्यात असंख्यात और अनन्तकालकी स्थितिवाला है यह आस्तिक जीवोंसे भी दुस्तर है फिर नास्तिकोंकी तो बात ही क्या है ? । अब शास्त्रकार गहन भवोंसे युक्त संसारकी फिर विशेषता बताते हे—जो पुरुष इस संसारमें सावद्य कर्मका अनुष्ठान करते है तथा कुमार्गमे पडे हुए है और असत् दर्शनको ग्रहण करनेवाले हैं तथा जिनमे विषयप्रधान है ऐसी अङ्गना यानी स्त्रियोंमें आसक्त हैं अथवा विषय और स्त्रीके वशीभूत होकर कभी भी उत्तम अनुष्ठान नहीं करते हैं वे विषयसुख और स्त्रीरूप कीचड़में फँसकर आकाशके लोकोंमे तथा पृथिवी लोकमें बार बार जन्मते और मरते है अथवा वे लिङ्गमात्रसे प्रव्रज्याधारी होनेसे और विरतिके न होनेसे तथा राग और द्वेषसे युक्त होनेके कारण अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर चौदह रज्जुस्वरूप इस लोकमें बार बार भ्रमण करते हैं । १४

म्मुणा वेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं १५

छाया—न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बाला अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः।
मेधाविनो लोभमयादतीताः सन्तोषिणो न प्रकुर्वन्ति पापम् ॥

अन्वयार्थ—(बाला कम्मुणा कम्म न खवेंति) अज्ञानी जीव, पापकर्म करनेके कारण अपने कर्मोंका क्षपण नहीं करसकते है। (धीरा अकम्मुणा कम्म खवेंति) परन्तु धीर पुरुष आश्रवोंको रोककर पापका क्षपण करते हैं। (मेहाविणो लोभमयावतीता) बुद्धिमान् पुरुष लोभसे दूर रहते हैं (सतोसिणो पाव नो पकरेंति) और वे सतोषी होकर पाप कर्म नहीं करते है।

भावार्थ—मूर्ख जीव अशुभ कर्म करके अपने पापोंका नाश नही कर सकते है। परन्तु धीर पुरुष अशुभ कर्मोंको त्यागकर अपने कर्मोंको क्षपण करते है। बुद्धिमान् पुरुष लोभसे दूर रहते है और वे सन्तोषी होकर पापकर्म नही करते है।

किञ्चान्यत्—ते एवमसत्समवसरणाश्रिता मिथ्यात्वादिभिर्दोषैरभिभूताः सावद्येतरविशेषानभिज्ञाः सन्तः कर्मक्षपणार्थमभ्युद्यता निर्विवेकतया सावद्यमेव कर्म कुर्वते, न च 'कर्मणा' सावद्यारम्भेण 'कर्म' पापं 'क्षपयन्ति' व्यपनयन्ति, अज्ञानत्वाद्वा बाला इव बालास्त इति, यथा च कर्म क्षिप्यते तथा दर्शयति—'अकर्मणा तु' आश्रवनिरोधेन तु अन्तशः शैलेश्यवस्थायां कर्म क्षपयन्ति 'धीराः' महासत्त्वाः सद्वैद्या इव चिकित्सयाऽऽमयानिति। मेधा—प्रज्ञा सा विद्यते येषां ते मेधाविनः—हिताहितप्राप्तिपरिहाराभिज्ञा लोभमयं—परिग्रहमेवातीताः परिग्रहातिक्रमाल्लोभातीताः—वीतरागा इत्यर्थः, 'सन्तोषिणः' येन केनचित्सन्तुष्टा अवीतरागा अपीति, यदिवा यत ती ोभा अत एव सन्तोषिण इति, त एवंभूता भगवन्तः 'पापम्'

टीकार्थ—मूर्ख जीव, असत् दर्शनका आश्रय लेकर मिथ्यात्व आदि दोषोंसे हारे हुए सावद्य और निरवद्य कर्मके भेदको नहीं जानते है इसलिये कर्मको क्षपण करनेके लिये उद्यत होकर वे निर्विवेकताके कारण सावद्य ही कर्म करते है। अत सावद्य आरम्भके कारण वे अपने कर्मको क्षपण नहीं कर सकते है। वे अज्ञानी होनेके कारण बालकके समान है। जिस प्रकार कर्मका क्षपण होता है उसे बतानेके लिये शास्त्रकार कहते है—जैसे उत्तम वैद्य चिकित्साके द्वारा रोगोंको क्षपण करता है इसीतरह वीर पुरुष आश्रवोंको रोककर अंतश शैलेशी अवस्थामें कर्मोंको क्षपण करते है। मेधा यानी प्रज्ञा जिनमे विद्यमान है वे हितकी प्राप्ति और अहितके त्यागको जाननेवाले परिग्रहको त्याग कर देते है और परिग्रहको त्यागकर लोभको उल्लङ्घन करते है वे पुरुष वीतराग है यह अर्थ है अथवा वे वीतराग न होनेपर भी जिस किसी वस्तुसे ही सन्तोष करते हैं अथवा वे लोभको उल्लङ्घन कर गये है इसलिये सन्तोषी है। ऐसे पुरुष असत्

असदनुष्ठानापादितं कर्म 'न कुर्वन्ति' नाददति, क्वचित्पाठः, 'लोभभयादतीता' लोभश्च भय च [illegible]हारद्वन्द्वः, लोभाद्वा भयं तस्मादतीता. सन्तोषिण इति, न पुनरुक्ताशङ्का विधेयेति, अतो (विधेयाऽत्र यतो) लोभातीतत्वेन प्रतिषेधांशो दर्शितः, सन्तोषिण इत्यनेन च विध्यंश इति, यदिवा लोभातीतग्रहणेन समस्तलोभाभावः संतोपिण इत्यनेन तु सत्यप्यवीतरागत्वे नोत्कटलोभा इति लोभाभावं दर्शयन्न-परकषायेभ्यो लोभस्य प्राधान्यमाह, ये च लोभातीतास्तेऽवश्यं पाप न कुर्वन्ति इति स्थितम् ॥१५॥

अनुष्ठानसे उत्पन्न पापकर्म नही करते है। कहीं "लोभभयादतीता" यह पाठ मिलता है। इसमे "लोभश्च भयञ्च" यह विग्रह करना चाहिये। अथवा "लोभाद् भयं" यह विग्रह करना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि वे महात्मा पुरुप लोभ और भयको उल्लङ्घन किये हुए है इसलिये वे सन्तोषी है। इसप्रकार अर्थ करनेसे यहॉ पुनरुक्तिकी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि—लोभको उल्लङ्घन करना बताकर यहां लोभका निपेध दिखाया गया है और सन्तोषी कहकर विधि अंग वताया है। अथा लोभको उल्लङ्घन करना कहकर यहां समस्त लोभोका अभाव कहा है और सन्तोषी कह कर वीतराग न होनेपर भी उत्कट लोभसे रहित कहा गया है। इस प्रकार लोभका अभाव दिखाते हुए शास्त्रकार दूसरे कषायोंसे लोभकी प्रधानता बताते हैं। सिद्धान्त यह हुआ कि जो पुरुष लोभको उल्लङ्घन कर गये है वे पाप नहीं करते है।१५

ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं।
णेतारो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥१६॥

छाया—तेऽतीतोत्पन्नानागतानि लोकस्य जानन्ति तथागतानि।
नेतारोऽन्येषामनन्यनेयाः, बुद्धाश्चतेऽन्तकरा भवन्ति ॥

अन्वयार्थ—(ते लोगस्स तीयउप्पन्नमणागयाइ तहागयाइ जाणति) वे वीतराग पुरुष जीवोंके भूत वर्तमान और भविष्य वृत्तान्तोको यथार्थरुप से जानते हैं। (अन्नेसिं नेयारो अणन्ननेया) वे दूसरे जीवोके नेता हैं परन्तु उनका कोई नेता नहीं है (ते बुद्धा अतकरा भवति) वे ज्ञानी पुरुप ससारका अन्त करते हैं।

भावार्थ—वे वीतराग पुरुप जीवेंकि भूत वर्तमान और भविष्य वृत्तान्तोंको ठीक ठीक जानते है वे सबके नेता है परन्तु उनका कोई नेता नहीं है वे जीव संसारका अन्त करते है।

ये च लोभातीतास्ते किम्भूता भवन्ति इत्याह-'ते' वीतरागा अल्पकषाया वा 'लोकस्य' पञ्चास्तिकायात्मकस्य प्राणिलोकस्य वाऽतीतानि-अन्यजन्माचरितानि

टीकार्थ—जो पुरुप लोभसे दूर हैं वे कैसे होते है? यह शास्त्रकार बताते हे—वे पुरुष वीतराग होते है अथवा वे अल्पकषाय होते है वे पञ्चास्तिकायात्मक इस प्राणिलोकके पूर्वजन्मके

उत्पन्नानि-वर्तमानावस्थायोनि अनागतानि-च भवान्तरभावीनि सुखदुःखादीनि 'तथागतानि' यथैव स्थितानि तथैव अवितथं जानन्ति, न विभङ्गज्ञानि इव विपरीतं पश्यन्ति, तथाह्यागमः-[1]"अणगारे णं भंते! माई मिच्छादिट्ठी रायगिहे णयरे समोहए वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ?, जाव से से दंसणे विवज्जासे ती" त्यादि, ते चातीतानागतवर्तमानज्ञानिनः प्रत्यक्षज्ञानिनश्चतुर्दश-पूर्वविदो वा परोक्षज्ञानिनः 'अन्येषां' संसारोत्तितीर्षूणां भव्यानां मोक्षं प्रति नेतारः सदुपदेशं वा प्रत्युपदेष्टारो भवन्ति, न च ते [2]स्वयम्बुद्धत्वादन्येन नीयन्ते-[3]तत्त्वाव-बोधं कार्य (धवन्तः क्रिय)न्त इत्यनन्यनेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः। ते च 'बुद्धाः' स्वयंबुद्धास्तीर्थंकरगणधरादयः, हुशब्द-श्चशब्दार्थे विशेषणे [4]वा, तथा च प्रदर्शित एव, ते च भवान्तकराः संसारोपादान-भूतस्य वा कर्मणोऽन्तकरा भवन्तीति ॥१६॥ यावदद्यापि भवान्तं न कुर्वन्ति तावत्प्रतिषेध्यमंशं दर्शयितुमाह—

तथा वर्तमान और भविष्य जन्ममे होनेवाले सुख दु खोको जानते है। वे विभङ्ग-ज्ञानीकी तरह विपरीत रूपसे नही किन्तु जिसका जैसा सुख दु ख आदि है उसको वे वैसाही देखते है। अतएव आगम कहता है कि—हे भदन्त! मायी मिथ्यादृष्टि अनगार राजगृह नगरमें रहता हुआ काशीके पदार्थोंको जानता है या देखता है? (उ०) देखता है परन्तु कुछ विपरीत देखता है। परन्तु उत्तम साधु भूत भविष्य और वर्तमानको ठीक ठीक जाननेवाले है। वे केवलज्ञानी अथवा चौदह पूर्वको जाननेवाले परोक्षज्ञानी संसारको पार करना चाहते हुए दूसरे भव्य जीवोंको मोक्षमे पहुँचा देते है अथवा वे उन्हे सदुपदेश करते है वे स्वयंबुद्ध होते है इसलिये उन्हें कोई दूसरा पुरुष तत्त्वज्ञान नही कराता है अत हितकी प्राप्ति और अहितके त्यागके विषयमे उनका कोई नेता नहीं है यह भाव है। वे स्वयम्बुद्ध तीर्थङ्कर और गणधर आदि (यहां हु शब्द च शब्दके अर्थमें है अथवा विशेषणार्थक है सो दिखा दिया गया है) ससारका अथवा संसारके कारणरूप कर्मोका अन्त करते है। १६ जबतक वे मोक्षमें नहीं जाते है तबतक वे पाप नहीं करते है यह दिखानेके लिये शास्त्रकार कहते है—

ते णेव कुव्वंति ण ारवंति, ूताहिसं ाइ दुगुंछमाणा।
या जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्ति (ण्णाय) धीरा य हवंति एगे॥

छाया—ते नैव कुर्वन्ति न कारयन्ति, भूताभिशङ्कया जुगुप्समानाः।
सदा यताः विप्रणमन्ति धीराः, विज्ञप्तिधीराश्च भवन्त्येके॥

१ अनगारो भदन्त! मायी मिथ्यादृष्टि राजगृहे नगरे समवहत वाराणस्या नगर्या रूपाणि जानाति पश्यति?, यावत्त तस्य दर्शनविपर्यासो भवति। २ तदा स्वय पदार्थानां ज्ञातारस्ते इति स्वयमित्यादि। ३ तत्त्वावबोधकार्यं त इत्य० प्र०। ४ च प्र०।

अन्वयार्थ-(दुगुंछमाणा ते) पापसे घृणा करनेवाले तीर्थङ्कर आदि (भूताहिसकाइ) प्राणियोंके घातके भयसे (णेव कुव्वति ण कारवति) स्वय पाप नहीं करते हैं और दूसरेसे भी नहीं कराते हैं। धीरा सया जता विप्पणमति) कर्मको विदारण करनेमें निपुण वे पुरुष सव समय पापके अनुष्ठान से निवृत्त रहकर सयमका अनुष्ठान करते है। (एगे विणत्तिवीरा य हवति) परन्तु कोई अन्यदर्शनी ज्ञानमात्रसे वीर वनते हैं अनुष्ठान से नहीं।

भावार्थ-पापसे घृणा करनेवाले तीर्थङ्कर और गणधर आदि प्राणियोंके घातके भयसे स्वयं पाप नहीं करते हैं और दूसरेसे भी नहीं कराते है किन्तु कर्मको विदारण करनेमें निपुण वे पुरुप, सदा पापके अनुष्ठानसे निवृत्त रहकर संयमका पालन करते है परन्तु कोई अन्यदर्शनी ज्ञानमात्रसे वीर वनते है अनुष्ठानसे नहीं।

'ते' प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनो वा विदितवेद्याः सावद्यमनुष्ठानं भूतोपमर्दाभिशङ्कया पापं कर्म 'जुगुप्समानाः[1] सन्तो न स्वतः कुर्वन्ति, नाप्यन्येन कारयन्ति, कुर्वन्तमप्यपरं नानुमन्यन्ते। तथा स्वतो न मृषावादं जल्पन्ति नान्येन जल्पयन्ति नाप्यपरं जल्पन्तमनुजानन्ति, एवमन्यान्यपि महाव्रतान्यायोज्यानीति। तदेवं 'सदा' सर्वकालं 'यताः' संयताः पापानुष्ठानान्निवृत्ता विविधं-संयमानुष्ठानं प्रति 'प्रणमन्ति' प्रह्वीभवन्ति। के ते ?-'धीराः' महापुरुषा इति। तत्रैके केचन हेयोपादेयं [2]निज्ञागापिशब्दात्सम्यक्परिज्ञाय[3] तदेव निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येवंकृतनिश्चयाः कर्माणि विदारयितव्ये वीरा भवन्ति, यदिवा परीषहोपसर्गानीकविजयाद्वीरा इति पाठान्तरं वा 'विण्णत्तिवीरा य भवंति एगे' 'एके' केचन गुरुकर्माणोऽल्पसत्त्वा विद्वांसो-

---

टीकार्थ-पापकर्मसे घृणा करनेवाले तथा जानने योग्य पदार्थोंको जाननेवाले वे प्रत्यक्षदर्शी या परोक्षदर्शी पुरुप प्राणियोंकी हिंसाके भयसे स्वयं पाप नहीं करते हैं और दूसरेसे भी नहीं कराते है और पाप करते हुए को अनुमति भी नहीं देते है। तथा वे स्वयं झूठ नहीं वोलते है और दूसरेसे नहीं वोलाते हैं और झूठ वोलते हुएको अच्छा नहीं जानते है। इसीतरह दूसरे महाव्रतोंमें भी योजना करनी चाहिये। इस प्रकार वे पापसे सदा निवृत्त रहते हुए अनेक प्रकार से संयमका पालन करते हैं वे कौन है ? वे धीर यानी महापुरुप है। तथा कोई पुरुप, त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तुको जानकर तथा अपि शब्दसे उन्हे अच्छी तरह जानकर और शङ्कारहित वही मार्ग है जिसे जिनवरोंने वताया है यह निश्चय करके कर्मको विदारण करनेमे वीर होते है। अथवा परीषह और उपसर्गोको जीतनेके कारण वे वीर है। यहां "पण्णत्ति वीरा य भवंति एगे" यह पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ यह है कि-कोई गुरुकर्मी अल्प

---

१ जुगुप्सन्त. प्र० जुगुप्सां कुर्वन्त इति नामधातोः शेव शतरि। २ चकारोऽपिशब्दार्थे यद्वा धीरावि इति भविष्यति। ३ ०य वा त० प्र०।

ज्ञानं, तन्मात्रेणैव वीरा नानुष्ठानेन, न च ज्ञानादेवाभिलषितार्थावाप्तिरुपजायते, तथाहि-"अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्। संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ॥१॥" ॥१७॥

पराक्रमी जीव, ज्ञानमात्रसे वीर बनते है परन्तु अनुष्ठानसे नहीं। परन्तु ज्ञानमात्रसे इष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं होती है अतएव कहा है कि-" शास्त्राण्यधीत्य " अर्थात् शास्त्र पढकर भी कोई मूर्ख होते हैं वस्तुत जो पुरुष शास्त्रोक्त क्रियाका अनुष्ठान करता है वही पण्डित है क्योंकि अच्छी-तरह जानी हुईभी औषधि ज्ञानमात्रसे रोगकी निवृत्ति नहीं करती है। १७

ड रे पाणे वुड्ढे य पाणे, ते आत्तओ पा इ सव्वलोए।
उवेहती लोगमि णं महंतं, बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१८॥

छाया-दहराश्च प्राणाः वृद्धाश्च प्राणा स्तानात्मवत् पश्यति सर्वलोके।
उत्प्रेक्षते लोकमिमं महान्तं बुद्धोऽप्रमत्तेषु परिव्रजेत् ॥

अन्वयार्थ-(डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे) छोटे छोटे कुन्थु आदि भी प्राणी है और बडे बडे बादर शरीरवाले भी प्राणी है (सव्वलोगे ते आत्तओ पासइ) सब लोकमें उन्हें अपने समान देखना चाहिये। (इणलोग महत उव्वेहति) इस लोकको महान् समझना चाहिये (बुद्धे अप्पमत्तेसु परिव्वएज्जा) इस प्रकार समझता हुआ तत्त्वदर्शी पुरुष सयम पालनेवाले साधुओंके निकट दीक्षा धारण करे।

भावार्थ-इस जगत्में छोटे शरीरवाले भी प्राणी है और बडे शरीरवाले भी प्राणी है इन प्राणियोंको अपने समान समझकर तत्त्वदर्शी पुरुष संयम पालनेवाले साधुओंके निकट जाकर दीक्षा ग्रहण करे।

कानि पुनस्तानि भूतानि? यच्छङ्कयाऽऽरम्भं जुगुप्सन्ति सन्त इत्येतदाशङ्कयाह-ये केचन 'डहरे'त्ति लघवः कुन्थ्वादयः सूक्ष्मा वा, ते सर्वेऽपि ः-प्राणिनः ये च वृद्धाः-बादरशरीरिणस्तान्सर्वानप्यात्मतुल्यान्-आत्मवत्पश्यति-सर्वस्मिन्नपि लोके यावत्प्रमाणं मम तावदेव कुन्थोरपि, यथा वा मम दुःखमनभिमतमेवं 'सर्वलोक-

टीकार्थ-वे प्राणी कौन है ? जिनके घातकी शङ्कासे साधु पुरुष आरम्भ नहीं करते है' यह शङ्का करके शास्त्रकार कहते हैं-जो छोटे छोटे कुन्थू आदि है अथवा जो सूक्ष्म है वे सभी प्राणधारी है तथा जो बादर शरीरवाले है वे भी प्राणी है। अत' तत्त्वदर्शी पुरुष इन सबोंको अपने समान देखते है। वे समझते है कि समस्त लोकमे जितना प्रमाणवाला मेरा जीव है

1 सयन्धे पष्ठी अपिना देशादिव्यवच्छेद'।

सद्धर्मं वा श्रुतचारित्राख्यं क्षान्त्यादिदशविधसाधुधर्मं श्रावकधर्मं वा 'अनुविचिन्त्य' पर्यालोच्य ज्ञात्वा वा तमेव धर्मं यथोक्तानुष्ठानतः 'प्रादुष्कुर्युः' टयेयुः ते गुरुकु ासं यावज्जीवमासेवन्त इति, यदिवा ये ज्योतिर्भूतमाचार्यं सततमासेवन्ति त ए मज्ञा धर्ममनुविचिन्त्य 'लोकं' पञ्चास्तिकायात्मकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं वा प्रादुष्कुर्युरिति क्रिया ॥१९॥

मनुष्यदेह आर्य्यक्षेत्र और उत्तम जाति तथा उत्तम धर्मकी प्राप्तिको दुर्लभ जानकर एवं श्रुतचारित्ररूप उत्तम धर्म तथा क्षान्ति आदि दशविध साधु धर्मको अथवा श्रावकधर्मको जानकर उसका अनुष्ठान करते हुए दूसरेको भी उपदेश करते है वे पुरुष यावज्जीवन गुरुकुलमें निवास करते है अथवा जो ज्योतिःस्वरूप आचार्य्यकी सदा सेवा करते हैं वे ही पुरुष आगमके ज्ञाता होकर चौदह रज्जुस्वरूप अथवा पञ्चास्तिकाय स्वरूप इस लोकको दूसरेके प्रति उपदेश करते है। १९

ा जो जाणति जो य लोगं, गइं च जो जाणइ णागइं च।
जो ा यं जाणअसा यं च, जाति(च) रणं च ज ोववायं २०

छाया–आत्मानं यो जानाति यश्च लोकं गतिं यो जानात्यनागतिश्च ।
यः शाश्वतं जानात्यशाश्वतञ्च, जातिञ्च मरणञ्च जनोपपातम् ॥

अन्वयार्थ–(जो अत्ताण जाणति) जो आत्माको जानता है। (जो लोग) जो लोकको जानता है (गतिं च णागति च जाणई) तथा जो जीवोकी गति और अनागतिको जानता है (जो सासय असासय जातिं मरण जणोववाय जाण) एव जो नित्य, अनित्य, जन्म, मरण और प्राणियोके नाना गतियोंमें जाना जानता है ।

भावार्थ–जो अपने आत्माको जानता है तथा लोकके स्वरूपको जानता है एवं जो शाश्वत यानी मोक्ष और अशाश्वत यानी संसारको जानता है तथा जो जन्म मरण और प्राणियोंके नानागतियोंमें जाना जानता है।

टी न्यत्–यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद्व्यतिरिक्तं सुखदुःखाधारं जानाति त्महितेषु प्रवर्तते स आत्मज्ञो भवति । येन चात्मा यथावस्थितस्वरूपोऽहप्रत्ययग्राह्यो [1]निर्ज्ञातो भवति तेनैवायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो

टीकार्थ–जो पुरुप आत्माको परलोकमें जानेवाला, शरीरसे भिन्न और सुख दु खका आधार जानता है तथा जो आत्माके कल्याण साधनमे प्रवृत्त होता है वही पुरुप आत्मज्ञ है। जो पुरुप, अह इस प्रतीतिसे ग्रहण करनेयोग्य आत्माको यथार्थ रूपसे जानता है वही प्रवृत्ति निवृत्तिरूप

१ ०भिज्ञातो प्र० ।

छाया—य आत्मनः परतोवाऽपि ज्ञात्वाऽलमात्मनो भवत्यलं परेषाम्
तं ज्योतिर्भूतञ्च सदा वसेद् ये प्रादुष्कुर्य्युर् विचिन्त्य धर्मम्

अन्वयार्थ-(जे आयओ परओ वावि णच्चा) जो पुरुष स्वय या दूसरे से धर्मको जानकर उपदेश करता है (अप्पणो परेसिं य अल होइ) वह अपनी तथा दूसरेकी रक्षा करनेमें है। (जे अणुवीति धम्म पाउकुज्जा) जो सोच विचार कर धर्मको प्रकट करता है (त जोइ सया वसेज्जा) उस ज्योति· स्वरूप मुनिके पास सदा निवास करना चाहिये।

भावार्थ—जो स्वयं या दूसरेके द्वारा धर्मको जानकर उसका उपदेश देता है वह उ तथा दूसरेकी रक्षा करनेमें समर्थ है। जो सोच विचार कर धर्मको प्रकट करता है ज्योतिःस्वरूप मुनिके निकट सदा निवास करना चाहिये।

किञ्च-'यः' स्वयं सर्वज्ञ आत त्रैलो गोदरविवरवर्तिपदार्थदर्शी यथाऽवस्थि लोकं ज्ञात्वा तथा यश्च गणधरादिकः 'परतः' तीर्थ दिर्जीवादीन् पदार्थान् विदित्व परेभ्य उपदिशति स एवंभूतो हेयोपादेयवेदी 'आत्मनस्त्रातुमलं' आत्मानं संसारा वटात्पालयितुं समर्थो भवति, तथा परेषां च सदुपदेशदानतस्त्राता जायते, 'तं' सर्वज्ञं स्वत सर्ववेदिनं तीर्थकरादिकं परतोवेदिनं च धरादिकं 'ज्योतिर्भूतं' पदार्थप्रकाशकतया चन्द्रादित्यप्रदीपकल्पमात्महितमिच्छन् संसारदुःखोद्विग्नः कृतार्थ-मात्मानं भावयन् 'सततम्' अनवरतम् 'आवसेत्' सेवेत, गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत्, तथा चोक्तम्-[1]"नाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥१॥" क एवं कुर्युः? इति दर्शयति-ये कर्मपरिणतिमनुविचिन्त्य "माणुस्सखेत्तजाइ" इत्यादिना दुर्लभां च सद्धर्मावाप्ति

टीकार्थ—जो पुरुष स्वयं सर्वज्ञ है और तीनो लोकके समस्त पदार्थोंको अपने आप ठीक ठीक जानकर दूसरेको उपदेश करता है अथवा जो गणधर आदि तीर्थङ्कर आदिसे जीवादि पदार्थोंको जानकर दूसरेको उपदेश करते है वे पुरुष त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको जाननेवाले हैं और वेही संसाररूपी जङ्गलसे अपनी तथा दूसरेकी रक्षा करते है। वे स्वयं सव पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञ तीर्थङ्कर आदि तथा दूसरेसे पदार्थोंको जाननेवाले गणधर आदि ज्योति· स्वरूप है। वे पदार्थोंके प्रकाशक होनेके कारण चन्द्रमा और सूर्य्यके समान है अत· ससारसे भय पाता हुआ और अपने कल्याणकी इच्छा करनेवाला पुरुष अपनेको कृतार्थ मानता हुआ उनके पास सदा निवास करे। वह सदा गुरुके पास ही निवास करे। अतएव आगम कहता है कि—" गुरुके पास निवास करनेसे जीव ज्ञानका भागी होता है और दर्शन तथा चारित्रमे मजवूत होता है इसलिये पुण्यात्मा पुरुष जीवनभर गुरुकुलमें रहना नहीं छोड़ते हैं" कौन ऐसा करते है? यह शास्त्रकार दिखाते हैं—जो जीव कर्मके परिणामको समझकर तथा

१ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च। धन्या यावत्कथ गुरुकुलवास न मुञ्चन्ति ॥१॥

सद्धर्मं वा श्रुतचारित्राख्यं क्षान्त्यादिदशविधसाधुधर्मं श्रावकधर्मं वा 'अनुविचिन्त्य' पर्यालोच्य ज्ञात्वा वा तमेव धर्मं यथोक्तानुष्ठानतः 'प्रादुष्कुर्युः' प्रकटयेयुः ते गुरुकुलवासं यावज्जीवमासेवन्त इति, यदिवा ये ज्योतिर्भूतमाचार्यं सततमासेवन्ति त एव मज्ञा धर्ममनुविचिन्त्य 'लोकं' पञ्चास्तिकायात्मकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं वा प्रादुष्कुर्युरिति क्रिया ॥१९॥

मनुष्यदेह आर्य्यक्षेत्र और उत्तम जाति तथा उत्तम धर्मकी प्राप्तिको दुर्लभ जानकर एवं श्रुतचारित्ररूप उत्तम धर्म तथा क्षान्ति आदि दशविध साधु धर्मको अथवा श्रावकधर्मको जानकर उसका अनुष्ठान करते हुए दूसरेको भी उपदेश करते है वे पुरुष यावजीवन गुरुकुलमें निवास करते है अथवा जो ज्योति स्वरूप आचार्य्यकी सदा सेवा करते हैं वे ही पुरुष आगमके ज्ञाता होकर चौदह रज्जुस्वरूप अथवा पञ्चास्तिकाय स्वरूप इस लोकको दूसरेके प्रति उपदेश करते है। १९

ण जो जाणति जो य लोगं, गइं च जो जाणइ णागइं च।
जो । यं जाण असा यं च, जाति (च) मरणं च जणोववायं २०

छाया–आत्मानं यो जानाति यश्च लोकं गतिं यो जानात्यनागतिञ्च ।
यः शाश्वतं जानात्यशाश्वतञ्च, जातिञ्च मरणञ्च जनोपपातम् ॥

अन्वयार्थ–(जो अत्ताण जाणति) जो आत्माको जानता है। (जो लोग) जो लोकको जानता है (गतिं च णागति च जाणई) तथा जो जीवोकी गति और अनागतिको जानता है (जो सासयं असासय जातिं मरण जणोववाय जाण) एव जो नित्य, अनित्य, जन्म, मरण और प्राणियोंके नाना गतियोंमें जाना जानता है ।

भावार्थ–जो अपने आत्माको जानता है तथा लोकके स्वरूपको जानता है एवं जो शाश्वत यानी मोक्ष और अशाश्वत यानी संसारको जानता है तथा जो जन्म मरण और प्राणियोंके नानागतियोंमे जाना जानता है।

किंचान्यत्–यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद्व्यतिरिक्तं सुखदुःखाधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्तते स आत्मज्ञो भवति। येन चात्मा यथावस्थितस्वरूपोऽहं-प्रत्ययग्राह्यो [1]निर्ज्ञातो भवति तेनैवायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो

टीकार्थ–जो पुरुष आत्माको परलोकमें जानेवाला, शरीरसे भिन्न और सुख दुःखका आधार जानता है तथा जो आत्माके कल्याण साधनमें प्रवृत्त होता है वही पुरुष आत्मज्ञ है। जो पुरुष, अहं इस प्रतीतिसे ग्रहण करनेयोग्य आत्माको यथार्थ रूपसे जानता है वही प्रवृत्ति निवृत्तिरूप

१ ०भिज्ञातो प्र० ।

ति, स चात्मज्ञोऽस्तीत्यादिक्रियावादं भाषितुमर्हतीति द्वितीयवृत्तस्यान्ते क्रिया । यश्च 'लोकं' चराचरं वैशाखस्थकटिस्थकरयुग्मपुरुषाकारं चशब्दादलोकं चानन्ताक स्तिकायमात्रं जानाति, यश्च जीवानाम् 'आगतिम्' आगमनं कुतः समागता नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाः ? ै । कर्मभिर्नारकादित्वेनोत्पद्यन्ते ? एवं यो जानाति, तथा 'अनागतिं च' अनाग च, कुत्र ं भवति ? चकारात्तद्गमनोपायं च सम्यग्दर्शनज्ञा रित्रात्मकं यो जानाति, तत्रानागतिः-सिद्धिरशे मच्युतिरूपा लोकाग्राकाशदेशस्थानरूपा वा ग्राह्या, सा च सादिरपर्यवसाना । यश्च 'शाश्वतं' नित्यं सर्ववस्तुजातं द्रव्यास्ति याश्रयाद् 'अशाश्वत' वाऽनित्यं प्रतिक्षणविनाशरूपं पर्यायनयाश्रयणात्, चकारान्नित्यानित्यं चोभयाकारं सर्वमपि वस्तुजातं यो ाति, तथा ह्यागमः-[1]"णेरइया दव्वट्ठयाए या भावट्ठयाए असासया" एवमन्येऽपि तिर्यगादयो द्रष्टव्याः । अथवा निर्वाणंशाश्वतं संसारः-अशाश्वतस्तद्गतानां संसारिणां स्वकृतकर्मवशगानामितश्चे नादिति । तथा 'जातिम्' उत्पत्तिं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरजन क्षणां 'मरणं च' आयुष्कक्षयलक्षणं, तथा जायन्त इति जनाः-सत्त्वास्तेषामुपपातं यो जानाति, स

इस समस्त लोकको भी जानता है । वह आत्मज्ञ पुरुष ही, "जीवादि पदार्थ है" इस क्रियावादका भाषण करता है । तथा नृत्यशालामें कमरपर दोनो हाथ रखकर खडे हुए पुरुषके समान इस चराचर विश्वको जो जानता है तथा च शब्दसे अलोक यानी अनन्त आकाशास्तिकायको जो जानता है एवं जो जीवोंके आगमनको जानता है अर्थात् ये नारक, तिर्य्यञ्च, मनुष्य और देवता कहाँसे आये है अथवा किन कर्मोंके करनेसे जीव नरक आदिमें उत्पन्न होते है यह जो जानता है तथा कहाँ जाकर फिर जीव वापिश नहीं आते है तथा चकारसे वहाँ जानेके उपाय जो सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र है उन्हे जो जानता है, यहाँ अनागति, सिद्धिको कहते है वह समस्त कर्मोंका क्षय स्वरूप है अथवा वह लोकके अग्र भागमें जो आकाश देशरूप स्थान है तत्स्वरूप है । वह सिद्धि सादि और अनन्त है । तथा जो द्रव्यास्तिक नयके अनुसार समस्त पदार्थोंको नित्य और पर्य्यायनयके अनुसार सबको अनित्य यानी प्रतिक्षणविनाशी जानता है तथा च शब्दसे जो सब वस्तुओंको नित्य और अनित्य उभय स्वरूप जानता है अतएव आगम करता है कि-" नारक, द्रव्यार्थ नयसे नित्य है ओर पर्याय नयसे अनित्य है " इसीतरह दूसरे तिर्यञ्च आदिको भी उभयस्वरूप जानना चाहिये । अथवा निर्वाणको शाश्वत कहते है और संसारको अशाश्वत कहते है क्योंकि संसारी जीव अपने अपने कर्मके वशीभूत होकर इधर उधर जाते है तथा जो नारक, तिर्य्यञ्च, मनुष्य और देवताके जन्मरूप जातिको जानता है तथा आयुष्यके क्षयरूप मरणको जानता है एवं जीवोंके उपपातको जो जानता है, जीवोंका उपपात

---

1 नैरयिका द्रव्यार्थतया शाश्वता भावार्थतया अशाश्वता. ।

च नारकदेवयोर्भवतीति, अत्र च जन्मचिन्तायामसुमतामुत्पत्तिस्थानं योनिर्भणनीया, च सचित्ताऽचित्ता मिश्रा च तथा शीता उष्णा मिश्रा च तथा संवृता विवृता मिश्रा चेत्येवं सप्तविंशतिविधेति । मरणं-पुनस्तिर्यङ्मनुष्ययोः, च्यवनं-ज्योतिष्क-वैमानिकानाम् उद्वर्तना-भवनपतिव्यन्तरनारकाणामिति ॥२०॥ किञ्च—

नारक और देवमें होता है परन्तु यहां जन्मका विचार करनेपर जीवोंकी उत्पत्तिस्थान योनि कहनी चाहिये । वह योनि, सचित्त, उचित्त, मिश्र, तथा शीत, उष्ण, मिश्र, और संवृत, विवृत, मिश्र होती है इस प्रकार योनियोंके २७ सत्ताईस भेद है । तिर्य्यञ्च और मनुष्यका मरण होता है तथा ज्योतिष्क और वैमानिकका च्यवन होता है, भवनपति, व्यन्तर, और नारकोंकी उद्वर्तना होती है । २०

अहोऽवि   ाण विउ णं च, जो आसवं जाणति संवरं च ।
दुक ं च जो जाणति निज्जरं च, ो भासि उ रिहइ कि रियवादं २१

छाया—अधोऽपि सत्त्वानां विकुट्टनाञ्च, य आस्रवं जानाति संवरञ्च ।
दुःखञ्च यो जानाति निर्जराञ्च सभाषितुमर्हति क्रियावादम् ॥

अन्वयार्थ-(अहोऽवि सत्ताण विउट्टण च) नरक आदिमें जीवोको नाना प्रकारकी पीडा होती है यह जो जानता है (जो आसव सवर च जाणति) तथा जो आस्रव और सवरको जानता है (जो निज्जर दुक्खच जाणई) जो दुखको तथा निर्जराको जानता है (सो किरियवाद भासिउ अरिहइ) वही ठीक ठीक क्रियावादको बता सकता है ।

भावार्थ—नरकादि गतियोंमें जीवोंकी नाना प्रकारकी पीडाको जो जानता है तथा जो आस्रव, संवर, दुःख और निर्जराको जानता है वही ठीक ठीक क्रियावादको बता सकता है ।

'सत्त्वानां' स्वकृतकर्मफलभुजामधस्तान्नारकादौ दुष्क र्मकारिणां विविधां विरूपां वा कुट्टनां-जातिजरामरणरोगशोककृतां शरीरपीडां, चशब्दात्तदभावोपायं यो ति, इदमुक्तं भवति-सर्वार्थसिद्धादारतोऽधःसप्तमीं नरकभुवं यावदसुमन्तः सकर्माणो विवर्तन्ते, तत्रापि ये गुरुतरकर्माणस्तेऽप्रतिष्ठाननरकयायिनो भवन्तीत्येवं यो जानीते । तथा आश्रवत्यष्टप्रकारं कर्म येन स आश्रवः स च प्राणाति-

टीकार्थ—प्राणिवर्ग अपने किये हुए कर्मोका फल भोगते है । जो पापकर्म करते हैं वे नरक आदि स्थानोंमे, जन्म, जरा, मरण, रोग और शोकसे उत्पन्न नाना प्रकारकी शरीर पीडाको भोगते है, यह जो जानता है तथा च शब्दसे इस पीडाके अभावके उपायको जो जानता है, भाव यह है कि सर्वार्थसिद्धिसे लेकर नरककी सातवीं भूमितक जितने प्राणी है वे सभी कर्मसे युक्त है, इनमे जो सवसे अधिक गुरुकर्मी हैं वे अप्रतिष्ठान नरकमे जाते है यह जो जानता है, तथा जिसके द्वारा आठ प्रकारके कर्म आते है उसे आश्रव कहते है वह

पातरूपो रागद्वेषरूपो वा मिथ्यादर्शनादिको वेति त तथा 'संवरम्' आश्रवनिरोधरूपं यावदशेषयोगनिरोधस्वभावं, चकारात्पुण्यपापे च यो जानीते तथा 'दुःखम्' असातोदयरूपं तत्कारणं च यो जानाति 'सुख' च तद्विपर्ययभूतं यो जानाति, तपसा यो निर्जरां च, इदमुक्तं भवति-यः कर्मबन्धहेतून् तद्विपर्यासहेतूंश्च तुल्यतया जानाति, तथाहि-"यथाप्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः। तावन्तस्तद्विपर्यासा, निर्वाणावेशहेतवः ॥१॥" स एव परमार्थतो 'भाषितुं' वक्तुमर्हति, किं तद्? इत्याह-क्रियावादम्, अस्ति जीवोऽस्ति पुण्यमस्ति पापमस्ति च पूर्वाचरितस्य कर्मणः फलमित्येवंरूपं वादमिति। तथाहि-जीवाजीवास्रवसंवरबन्धपुण्यपापनिर्जरामोक्षरूपा ापि पदार्थाः श्लोकद्वयेनोपात्ताः, तत्र य आत्मानं जानातीत्यनेन जीवपदार्थः, लोकमित्यनेनाजीवपदार्थः, तथा गत्यनागतिः [1]शाश्वतेत्यादिनाऽनयोरेव [2]स्वभावोपदर्शनं कृतं, तथाऽऽश्रवसंवरौ स्वरूपेणैवोपात्तौ, [3]दुःखमित्यनेन तु बन्धपुण्यपापानि गृहीतानि, तदविनाभावित्वाद्दुःखस्य, निर्जरायास्तु स्वाभिधानेनैवोपादानं, तत्फलभूतस्य च मोक्षस्योपादानं द्रष्टव्यमिति, तदेवमेतावन्त पदार्थास्तदभ्युपगमेन चास्तीत्यादिकः क्रियावादोऽभ्युपगतो भवतीति, यश्चैतान्

प्राणातिपातरूप है अथवा रागद्वेषरूप है अथवा मिथ्यादर्शन आदि है उसे जो जानता है तथा आश्रवोंका निरोध रूप यावत् समस्त योगोंका निरोधरूप संवरको जो जानता है एवं च शब्दसे जो पुण्य पापको जो जानता है, तथा असाताका उदय रूप दु.खको अथवा उसके कारणको जो जानता है एवं उस दु.खसे विपरीत जो सुख है उसे जो जानता है आशय यह है कि-जो कर्मबन्धके कारणोंको और कर्मके क्षपणके कारणोको तुल्यरूपसे जानता है क्योंकि-जिस प्रकारके जितने पदार्थ ससार प्राप्तिके कारण है उतनेही उनसे विपरीत पदार्थ मोक्षप्राप्तिके हेतु है इत्यादि जो जानता है वही वस्तुतः इसे बता सकता है। किसे बता सकता है? क्रियावादको वता सकता है। जीव है, पुण्य है, पाप है, और पूर्वकृत कर्मका फल है ऐसे कथनको क्रियावाद कहते है। उक्त दो श्लोकोंके द्वारा जीव, अजीव, आश्रव, सवर, बन्ध, पुण्य, पाप, निर्जरा और मोक्ष ये नव ही पदार्थ ग्रहण किये गये है। जैसेकि-जो आत्माको जानता है यह कहकर जीव पदार्थ कहा गया है और लोक कहकर अजीव पदार्थ बताया है तथा गति अनागति, और शाश्वत इत्यादि कहकर इन्हींका स्वभाव बताया गया है। तथा आश्रव और सवर नाम लेकर कहे गये हैं और दु:ख कहकर बन्ध, पुण्य और पाप सूचित किये गये है क्योकि इनके विना दु ख नहीं होता है। तथा निर्जरा अपना नाम लेकर ही वताई गई है एवं निर्जराका फलस्वरूप मोक्ष भी कहा गया है। इस प्रकार इतने ही पदार्थ मोक्षके उपयोगी है अत· इनका अस्तित्व स्वीकार करनेसे ही क्रियावाद

१ आदिनाऽशाश्वत। २ अजीवपक्षेऽनागति स्थिति यद्वा जीवाना ते अजीवकृते इति।
३ वैषयिकसुखस्य दु खरूपत्वाच्च दु खस्य पुण्याविनाभावत्वानुपपत्ति।

प्रत्यक्षं तु स्यात्, न चोपचारस्तत्त्वचिन्त ं व्याप्रियत इति । अनुमानमपि पूर्व-वच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टमिति त्रिधा, तत्र कारणात्कार्यानुमानं पूर्ववत् त्कारणा-नुमानं शेषवत् सामान्यतोदृष्टं तु चूतमेकं विकसितं द पुष्पिताश्चूता तीति यदिवा देवदत्तादौ गतिपूर्विकां स्थानात् स्थानान्तरावाप्ति दृष्ट्वाऽऽदित्येऽपि गत्यनु-मानमिति, तत्राप्यन्यथानुपपत्तिरेव गमिका, न कारणादिकं, तया विना कारणस्य " प्रति व्यभिचारात्, यत्र तु सा विद्यते कार्यकारणादिव्यतिरेकेणापि गम्यग भावो दृष्टः, था-भविष्यति शकटोदयः, कृत्तिकाद ं दिति, तदुक्तम्-"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? । नान्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र त्रयेण किम् ? ॥१॥" अपिच-प्रत्यक्षस्याप्रामाण्ये तत्पूर्वकस्यानुमानस्याप्रामाण्यमिति । प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानं, यथा गौ ं यस्तथा, अत्र च सञ्ज्ञासञ्ज्ञि-

प्रत्यक्ष कहो तो कह सकते हो परन्तु जहाँ तत्त्वका विचार हो रहा है वहाँ आरोपकी क्या आवश्यकता है ? । इसीतरह नैयायिक अनुमानके पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद बताते हैं । इनमें कारणसे कार्य्यके अनुमानको पूर्ववत् कहते हैं और कार्य्यसे कारणके अनुमानको शेषवत् कहते है तथा एक आमके वृक्षमें लगी हुई मञ्जरीको देखकर " जगत्के सब आमोंमें मञ्जरी लग गई " इस प्रकार अनुमान करनेको सामान्यतो दृष्ट कहते है । अथवा गतिके कारण देवदत्त आदिकी एक स्थानसे दूसरे स्थानमें प्राप्ति देखकर सूर्य्यमें गतिका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है । परन्तु यह नैयायिकोंका कथन ठीक नहीं है क्योंकि सर्वत्र अन्यथाऽनुपपत्ति ही अनुमितिका कारण है कारण आदि नहीं हैं क्योंकि अन्यथानुपपत्तिके विना कारणका कार्य्यमें व्यभिचार देखा जाता है परन्तु जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ कार्य्यकारणभाव न होनेपर भी गम्यगमकभाव देखा जाता है जैसेकि-शकट तारा (मृगशिर)का उदय होगा क्योंकि कृत्तिकाका उदय देखा जाता है । यहां शकट और कृत्ति-कामे परस्पर कारण कार्य्यभाव न होनेपर भी अन्यथानुपपत्ति होनेसे अनुमान होता है इसलिये अन्यथानुपपत्ति ही अनुमितिका कारण है कार्य्यकारण भाव आदि नैयायिकोक्त कारण नहीं हैं । अतएव जैनाचार्य्योंने कहा है कि-जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्टसे क्या प्रयोजन है ? तथा जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ भी इन तीनोंसे क्या हो सकता है ? दूसरी बात यह है कि-नैयायिकोक्त प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं है इसलिये प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला अनुमान भी प्रमाण नहीं है ।

उपमान प्रमाणका विचार करते हुए नैयायिक कहते है कि-प्रसिद्ध वस्तुकी तुल्यतासे साध्य यानी अप्रसिद्धका साधन करना उपमान प्रमाण है जैसेकि-जैसी गाय होती है वैसाही गवय होता है यह इसका उदाहरण है और संज्ञाके साथ संज्ञीके सम्बन्धका ज्ञान होना इस प्रमाणका फल है । परन्तु इस उपमानको अलग प्रमाण मानना ठीक नहीं है क्योकि-यहाँ भी

न्द्रियाणि, भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः, एतदपि शरीरादिकं जीवाजीवग्रहणेनोक्तमस्माभिरिति । उपयोगो बुद्धिरित्येतच्च ज्ञानविशेषः, स च जीवगुणतया जीवोपादानतयो (नेनो)पात्त एव । सर्वविषयमन्तःकरणं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गं मनः, तदपि द्रव्यमनः पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतं, भावमनस्त्वात्मगुणत्वाज्जीवग्रहणेनेति । आत्मनः सुखदुःखसंवेदनानां निर्वर्तनकारणं प्रवृत्तिः, सापि पृथक्पदार्थतया नाभ्युपगन्तुं युक्ता, तथाहि-प्रवृत्तिरित्यात्मेच्छा, सा चात्मगुण एव, आत्माऽभिप्रायतया ज्ञानविशेषत्वाद्, आत्मानं दूषयतीति दोषः, तद्यथा-अस्यात्मनो नेदं शरीरमपूर्वम्, अनादित्वादस्य, नाप्यनुत्तरम्, अनन्तत्वात्सन्ततेरिति, (शरीरेऽपूर्वतया सान्ततया वा)योऽयमात्मनोऽध्यवसायः स दोषो, रागद्वेषमोहादिको वा दोषः, अयमपि दोषो जीवाभिप्रा । तदन्तर्भावीति न पृथग्वाच्यः । प्रेत्यभावः-परलोकसद्भावोऽयमपि ससाधनो जीवाजीवग्रहणेनोपात्तः, फलमपि-सुखदुःखोपभोगात्मकं, तदपि जीवगुण एवान्तर्भवतीति न पृथगुपदेष्टव्यमिति, दुःखमित्येतदपि विविधबाधनयोगरूपमिति न फलादतिरिच्यते, जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदरूपतया सर्वदुःखप्रहाणलक्षणो मोक्षः, स चास्माभिरुपात्त एवेति । किमित्यनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः, असावपि निर्णयज्ञानवदात्मगुण एवेति, येन प्रयुक्तः, प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, तदपीच्छाविशेष-

मनको भी अजीव ग्रहणसे हमने स्वीकार किया है क्योकि वह मन द्रव्य मन है और पौद्गलिक है । भाव मन तो आत्माका गुण होनेसे जीव ग्रहणसे ग्रहण किया गया है । आत्माके सुख-दु ख ज्ञानोकी उत्पत्तिका कारण प्रवृत्ति है इसे नैयायिकोंने आत्मा से अलग पदार्थ माना है परन्तु यह ठीक नहा है क्योकि आत्माकी इच्छाको प्रवृत्ति कहते है इसलिये वह आत्माका गुण है अर्थात् आत्माका अभिप्रायरूप होनेके कारण यह एक प्रकारका ज्ञान ही है । जो आत्माको दूषित करता है उसे दोष कहते है जैसे आत्मा शरीरको ग्रहण करता हुआ चला आरहा है तथा यह शरीर अन्तिम भी नही है क्योकि जन्ममरणकी परम्परा अनन्त है तथापि इस शरीरको अपूर्व अथवा सान्त समझना दोष है अथवा रागद्वेष और मोह आदिको दोष कहते हैं । वस्तुत यह दोष भी जीवका अभिप्राय विशेष है इसलिये यह जीवमें ही अन्तर्भूत हो जाता है अत इसे अलग पदार्थ मानना ठीक नहीं है । परलोक होनेको प्रेत्यभाव कहते है यह भी साधनके सहित जीव तथा अजीव ग्रहण से गृहीत किया गया है । तथा सुख दु खके उपभोगको फल कहते है यह भी जीवका गुण होनेके कारण जीवमें ही अन्तर्भूत हो जाता है इसलिये इसे भी अलग पदार्थ बताना ठीक नहीं है । तथा दु ख भी नाना प्रकारकी बाधा और पीडा स्वरूप है इसलिये यह फलसे भिन्न नहीं है । तथा जन्ममरणकी परम्पराका विच्छेद रूप होनेके कारण सब दु खोका नाशरूप मोक्ष है उसे हम जैनोने भी कहा है । तथा "यह क्या है ?" इसप्रकार अनिश्चयात्मक ज्ञानको संशय कहते है इसलिये यहभी निर्णयज्ञानके समान ही आत्माका गुण है । एव जिस अर्थके लिये मनुष्य प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहते है । यहभी इच्छाविशेष होनेके कारण आत्माका ही गुण है (अत इसे भी अलग पदार्थ मानना

त्वादात्मगुण एव, अविप्रतिपत्तिविषयापन्नोऽर्थो दृष्टान्तः, असावपि जीवाजीवयोरन्यतरः, न चैतावताऽस्य पृथक्पदार्थता युक्ता, अतिप्रसङ्गाद्, अवयवग्रहणेन च तस्योत्तरत्र ग्रहणादिति । सिद्धान्तश्चतुर्विधः, तद्यथा-सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः १, यथा स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि स्पर्शादय इन्द्रियार्थाः प्रमाणैः प्रमेयस्य ग्रहणमिति १, समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तो यथा साङ्ख्यानां नासत आत्मलाभो न च सतः सर्वथा विनाश इति, तथा चोक्तम्-"नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः" इति २, यत्सिद्धावन्यस्यार्थस्यानुषङ्गेण सिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ३, यथेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाताऽऽत्माऽस्ति दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिति, तत्रानुषङ्गिणोऽर्था १ इन्द्रियनानात्वं २ नियतविषयाणीन्द्रियाणि ३ स्वविषयग्रहणलिङ्गानि च ४ ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि ५ स्पर्शादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं ६ गुणाधिकरण ७ मनियतविषयाश्चेतनाः ८ इति, पूर्वार्थ-

सिद्धावेतेऽर्था· सिध्यन्ति, नैतैर्विना पूर्वार्थः संभ ीति ३, अपरीक्षितार्थाभ्युपगमा-द्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ४, तद्यथा, किं शब्द इति वि ारे कश्चिदाह-अस्तु द्रव्य शब्दः, स तु किं नित्योऽथानित्यः?, इत्येवं विचारः, स चायं चतुर्विधोऽपि सिद्धान्तो न ज्ञानविशेषादतिरिच्यते, ज्ञानविशेषस्यात्मगुणत्वाद्गुणस्य च गुणिग्रहणेन ग्रहणाद् न पृथगुपादानमिति ४। अथावयवाः-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि, तत्र साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा, यथा नित्यः शब्दोऽनित्यो वेति, हिनोति-गमयति प्रतिज्ञातमर्थमिति हेतुः, था-उत्पत्तिधर्मकत्वात्, साध्यसाधर्म्यवैधर्म्यभावी दृष्टान्तः उदाहरणं, यथा घट इति, वैधर्म्योदाहरणं यदनित्यं न भवति तदुत्पत्तिमदपि न भवति यथाऽऽकाशमिति, तथा न तथेति वा पक्षधर्मोपसंहार उपनयः, तद्यथा-अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्तथा चायं, अ त्वाभावे कृतकत्वमपि न भवत्याका त् न तथाऽयमिति, प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं निगमनं, तस्मादनित्य इति, ते चामी पञ्चाप्यवयवा यदि शब्दमात्रं ततः शब्दस्य पौद्गलिकत्वात्पुद्गलानां चाजीवग्रहणेन ग्रहणान्न पृथगुपादानं न्याय्यम्, अथ तज्ज्ञानं ततो जीवगुणत्वात् जीवग्रहणेनैवोपादानमिति, ज्ञानविशेषपदार्थताऽभ्युपगमे च पदार्थ-

---

सिद्धान्त कहते है। वस्तुत. नैयायिकोक्त ये चारो ही सिद्धान्त ज्ञानके भेदसे भिन्न नहीं है और ज्ञान आत्माका गुण है इसलिये गुणीरूप आत्माके ग्रहणसे ही उसके गुणोका भी ग्रहण हो जाता है इसलिये इनको अलग ग्रहण करना नैयायिकोकी भूल है। अब अवयव बताये जाते है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन ये पॉच अवयव है। इनमें साध्य अर्थको बताना प्रतिज्ञा है जैसे शब्द नित्य है यह कहना अथवा शब्द अनित्य है यह कहना प्रतिज्ञा है। प्रतिज्ञामें रखेहुए अर्थको जो बोध कराता है उसे हेतु कहते है जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह उत्पत्ति धर्मवाला है। यहां उत्पत्ति धर्मवाला कहना हेतु है। साध्यकी सदृशता अथवा विसदृशताको लेकर दृष्टान्त देना उदाहरण है, जैसेकि—'घट'। यह उदाहरण है। वैधर्म्य उदाहरण यह है—जैसेकि—जो अनित्य नहीं होता है वह उत्पत्तिवाला नही होता है जैसे आकाश। यह वैसा है या वैसा नही है इसप्रकार पक्षमें धर्मको रखना उपनय है। जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक (किया हुआ) है, जैसे घट, उसीतरह यहभी है। अथवा अनित्य न होनेपर कृतक भी नहीं हो सकता है जैसे आकाश अनित्य न होनेके कारण कृतक भी नहीं है परन्तु शब्द ऐसा नहीं है, इसको उपनय कहते है। प्रतिज्ञा और हेतुको फिर दुहराकर कहना निगमन है जैसेकि—कृतक होनेके कारण शब्द अनित्य है। ये पॉच अवयव यदि शब्द मात्र है तो शब्द पौद्गलिक है और पुद्गलोका अजीवके ग्रहणसे ही ग्रहण हो जाता है इसलिये उन्हें अलग पदार्थ माननेकी कोई आवश्यकता नही है। यदि शब्दजनित ज्ञानको पॉच अवयव कहो तो वह जीवका गुण है इसलिये जीवके ग्रहणसे ही उसका भी ग्रहण हो जाता है। यदि ज्ञानके प्रत्येक भेदोको अलग अलग पदार्थ माना जाय तब तो पदार्थ बहुत हो जायँगे क्योंकि

वहुत्वं स्याद्, अनेकप्रकारत्वाज्ज्ञानविशेषाणामिति। संशयादूर्ध्वं भवितव्यताप्रत्ययः सदर्थपर्यालो त्मकस्तर्कः, यथा भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वेति, अयमपि ज्ञानविशेष एव, न च ज्ञानविशेषाणां ज्ञातुरभिन्नानां पृथक् पदार्थपरिकल्पनं समनुजानते विद्वांसः। संशयतर्काभ्यामुत्तरकालभावी निश्चयात्मकः प्रत्ययो निर्णयः, मपि प्राग्वन्न ज्ञानादतिरिच्यते, किञ्च-अस्य निश्चयात्मकतया क्षादिप्रमाणान्तर्भा पृथग् निर्देशो न्याय्य इति। तिस्रः कथाः-वादो जल्पो वितण्डा चेति, तत्र प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः, स च तत्त्वज्ञानार्थं शिष्याचार्ययोर्भवति, स एव विजिगीषुणा सार्धं जातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः, स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डेति, तत्रासां तिसृणामपि कथानां भेद एव नोपपद्यते, यतस्तत्त्वचिन्तायां तत्त्वनिर्णयार्थं वादो विधेयो, न छलजल्पादिना तत्त्वावगमः कर्तुं पार्यते, छलादिकं हि परवञ्चनार्थमुपन्यस्यते, न च तेन तत्त्वावगतिः इति सत्यपि भेदे नैवासां पदार्थता, यतो यदेव परमार्थतो वस्तुवृत्त्या वस्त्वस्ति तदेव परमार्थतयाऽभ्युपगन्तुं युक्तम्,

---

ज्ञानोंके भेद अनेक प्रकारके होते है। संशय होनेके पश्चात् किसी पदार्थके होनेकी संभावना करना तर्क है वह तर्क सत् अर्थका पर्य्यालोचन स्वरूप है। जैसे कि—यहाँ स्थाणु अथवा पुरुष होना संभव है। परन्तु यह तर्क भी एक प्रकारका ज्ञान ही है अत ज्ञातासे अभिन्न ज्ञानके भेदोंको अलग पदार्थ मानना विद्वान् पसन्द नही करते है। संशय और तर्कके पश्चात् होनेवाला जो निश्चयात्मक ज्ञान है उसे निर्णय कहते है यह भी पहलेके समान ही ज्ञानसे भिन्न नहीं है तथा यह निर्णय निश्चयरूप है इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें ही अन्तर्भूत हो जाता है अत इसे अलग पदार्थ कहना ठीक नहीं है। तथा कथाये तीन प्रकारकी होती है वाद, जल्प और वितण्डा। इनमे प्रमाण और तर्कके द्वारा जहाँ अपने पक्षका साधन और प्रतिवादीके पक्षका खण्डन किया जाता है तथा सिद्धान्तसे अविरुद्ध और पाँच अवयवोंसे युक्त जो पक्ष और प्रतिपक्षको स्वीकार करना है वह वाद है। यह वाद शिष्य और आचार्य्यमे तत्त्व अर्थका निर्णय करनेके लिये होता है। वही यदि प्रतिवादीको पराजित करनेकी इच्छासे छल जाति और निग्रहस्थानके द्वारा अपने पक्षका साधन और परपक्षका खण्डनके सहित हो तो जल्प कहलाता है। वही प्रतिपक्षकी स्थापना से हीन होनेपर वितण्डा कहलाता है। (अब जैनाचार्य्य कहते है कि—) इन तीन कथाओंका भेद हो ही नही सकता है क्योंकि तत्त्वके विचारके प्रसङ्गमे तत्त्वका निर्णय करनेके लिये वाद करना चाहिये परन्तु छल और जल्प आदिसे तत्त्वका निर्णय नही होता है वे तो दूसरेको ठगनेके लिये प्रयुक्त किये जाते हैं उनसे तत्त्वका ज्ञान नही होता है। यदि इनमें भेद हो तो भी ये पदार्थ नही है क्योंकि—जो वस्तुत पदार्थरूपसे वस्तु है उसीको वस्तु मानना

वादास्तु पुरुषेच्छावशेन भवन्तोऽनियता वर्तन्ते (तत्) न तेषां पदार्थतेति, किञ्च-पुरुषेच्छानुविधायिनो वादाः कुक्कुटलावकादिष्वपि पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण भवन्त्यतस्तेषामपि तत्त्वप्राप्तिः स्यान्न चैतदिष्यत इति । असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः, हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासाः, तत्र सम्यग्घेतूनामपि न तत्त्वव्यवस्थितिः किं पुनस्तदाभासानां ?, तथाहि-इह यन्नियतं वस्त्वस्ति तदेव तत्त्वं भवितुमर्हति, हेतवस्तु क्वचिद्वस्तुनि साध्ये हेतवः क्वचिदहेतव इत्यनियतास्त इति । अथ 'छलम्' अर्थविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्येति, तत्रार्थविशेषे विवक्षितेऽभिहिते वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलं, यथा नवकम्बलोऽयं देवदत्तः, अत्र च नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायो विग्रहे च विशेषो न समासे, तत्रायं छलवादी नव कम्बला अस्येत्येतद्भवताऽभिहितमिति कल्पयति, न चायं तथेत्येवं प्रतिषेधयति, तत्र मित्यसदर्थाभिधानं, तद्यदि छलं न तर्हि तत्त्वं, तत्त्वं चेन्न तर्हि छलं, परमार्थरूप

चाहिये वाद तो पुरुषके इच्छाधीन होनेके कारण नियत नहीं है इसलिये वह पदार्थ नही है। तथा वाद पुरुषकी इच्छानुसार होता है वह मूर्गा और लावक पक्षी आदिमें भी पक्ष और प्रतिपक्षको लेकर होता है इसलिये वह भी पदार्थरूपसे माना जाना चाहिये परन्तु यह तुमको इष्ट नही है।

असिद्ध, अनैकान्तिक और विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास है (यह नैयायिक कहते है) जो हेतुके समान प्रतीत होते है वे हेत्वाभास कहलाते है । (यहां जैनाचार्य्य कहते है कि–) जो सम्यक् हेतु है वह भी तत्त्व नही है फिर हेत्वाभास कैसे तत्त्व हो सकते है ? । जो वस्तु नियत है वही तत्त्वरूप हो सकती है परन्तु हेतु किसी साध्य वस्तुके प्रति हेतु होता है और किसीके प्रति अहेतु हो जाता है इसलिये वह नियत नही है ।

अव छल बतलाते है–अर्थका भेद हो सकनेसे वादीके वचनकी हत्या करना यानी उसका अर्थ बदल देना छल है । जहाँ वक्ताने किसी दूसरे अभिप्रायसे शब्दका प्रयोग किया है वहाँ उसके अभिप्रेत अर्थसे भिन्न अर्थकी कल्पना करना वाक्छल है । जैसे वादीने कहा कि– " नवकम्बलो देवदत्त " अर्थात् नया कम्बलवाला देवदत्त है । यहाँ वादीके अभिप्रायके अनुसार "नव· कम्बलोऽस्य" यह विग्रह है क्योकि विग्रहमें ही यहां भेद है समासमें नहीं है । यहाँ छलवादी कल्पना करता है कि–देवदत्तके पास नौ कम्बल है यह आपने कहा है परन्तु देवदत्तके पास नौ कम्बल नहीं है इसलिये आपका कथन अयुक्त है ।

इस विषयमे जैनाचार्य्य कहते है कि–जो वात नहीं है उसे कहना छल है अत. यदि वह छल है तो तत्त्व नहीं हो सकता है और यदि तत्त्व है तो वह छल नहीं हो सकता है क्योंकि वह सत्य है इसलिये छल तत्त्व है यह कथन परस्पर विरुद्ध है ।

त्वात्तत्त्वस्येति, तदेवं छलं तत्त्वमित्यतिरिक्ता वाचोयुक्तिः। दूषणाभासास्तु जा :, सम्यग्दूषणस्यापि न तत्त्वव्यवस्थितिः, अनियतत्वात्, अनियतत्त्वं च यदेवैकस्मिन् सम्यग्दूषणं तदेवान्यत्र दूषणाभासं, पुरुपशक्त्यपेक्षत्वाच्च दूषणदूषणाभासव्यवस्थितेरनियतत्वमिति कुतः पुनर्दूषणाभासरूपाणां जातीनाम्?, अवास्तवत्वात्तासामिति। वादकाले वादो प्रतिवादी वा येन निगृह्यते तन्निग्रहस्थानं, तच्च वादिनोऽसाधनाङ्गवचनं प्रतिवादिनस्तद्दो(श्च तत्तदो)षोद्भावनं विहाय यदन्यदभिधीयते नैयायिकैस्तत्प्रलापमात्रमिति, तच्च प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोध इत्यादिकम्, एतच्च विचार्यमाणं न निग्रहस्थानं भवितुमर्हति, भवदपि च पुरुषस्यैवापराधं कर्तुमलं, न त्वेतत्तत्त्वं भवितुमर्हति, वक्तृगुणदोषौ हि परार्थेऽनुमानेऽधिक्रियेते न तु तत्त्वमिति, तदेवं न नैयायिकोक्तं तत्त्व तत्त्वेनाश्रयितुं युज्यते, तस्योक्तनीत्या सदोषत्वादिति॥ नापि वैशेपिकोक्तं तत्त्वमिति, तथाहि-द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायास्तत्त्वमिति, तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि, तदत्र पृथित्यप्तेजोवायूनां पृथग्द्रव्यत्वमनुपपन्नं, तथाहि-

---

जो दोपका आभास है उसे 'जाति' कहते है। जैनाचार्य्य कहते है कि-जो सच्चा दूषण है वह भी तत्त्व नहीं है क्योकि वह नियत नही है। कारण यह है कि जो एक स्थानमें सम्यक् दूषण है वही दूसरे स्थानमे दूषणाभास है। दूषण और दूपणाभासकी व्यवस्था पुरुपकी शक्तिके आधीन है इसलिये वह नियत नहीं होनेके कारण तत्त्व नहीं है फिर दूपणाभास रूप जाति कैसे तत्त्व हो सकता है क्योकि वह वस्तुत' है ही नही। वादके समय वादी या प्रतिवादी जिसके द्वारा पकड लिये जाते है उसे निग्रहस्थान कहते है। जैसे वादी यदि अपने साध्य अर्थको सिद्ध न करनेवाले अर्थको बतावे और प्रतिवादी उसके दोपको पकडले तो वादी पकड़ लिया जाता है इसलिये यही एक निग्रहस्थान है इसके सिवाय जो नैयायिकोंने दूसरी वातें कहीं है वे सब प्रलाप मात्र है, जैसे कि प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर और प्रतिज्ञाविरोध इत्यादि। परन्तु विचार करनेपर यह निग्रहस्थान नहीं हो सकता है यदि हो तो भी यह पुरुपकाही अपराध है परन्तु तत्त्व नहीं हो सकता है क्योंकि परार्थानुमानमे वक्ताके गुण और दोपोंका निरूपण होता है तत्त्वका निरूपण नही होता है इसलिये नैयायिकोका कहा हुआ तत्त्व, तत्त्वरूपसे स्वीकार करने योग्य नहीं है।

इसीतरह वैशेपिकोंका कहा हुआ तत्त्व भी तत्त्वरूपसे स्वीकार करने योग्य नही है। जैसे कि-वे कहते है-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेप और समवाय तत्त्व है। इनमें पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा और आत्मा ये नौ द्रव्य है। इनमे पृथिवी जल तेज और वायुको अलग अलग पदार्थ मानना वैशेपिकोका ठीक नहीं है क्योकि-वेही परमाणु प्रयोग

त एव परमाणवः प्रयोगविस्रसाभ्यां पृथिव्यादित्वेन परिणमन्तोऽपि न स्वकीयं द्रव्यत्वं त्यजन्ति, न चावस्थाभेदेन द्रव्यभेदो युक्तः, अतिप्रसङ्गादिति। आकाशकालयोश्च ाभिरपि द्रव्यत्वमभ्युपगतमेव, दिशस्त्वाकाशाव मूताया अनुपपन्नं पृथग्द्रव्यत्वमति ङ्गदोषादेव, आत्मनश्च स्वशरीरमात्रव्यापिन उपयोगलक्षणस्याभ्युपगतमेव द्रव्यत्वमिति, सश्च पुद्गलविशेषतया पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भाव इति [परमाणुवत्], भावमन जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भाव इति। यदपि तैरभिधीयते, यथा पृथि ीत्वयोगात्पृथि ीति, तदपि स्वप्रक्रियामात्रमेव, यतो न हि पृथिव्याः पृथग्भूतं पृथिवीत्वमपि येन तद्योगात्पृथिवी भवेद्, अपितु सर्वमपि यदस्ति तत्सामान्यविशेषात्मकं नरसिंहाकारमुभयस्वभावमिति, तथा चोक्तम्-"नान्वयः स हि भेदत्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः। मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्तिजा (र्जा) त्यन्तरं ः॥१॥" तथा-"न नरः सिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपतः। शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः॥१॥" इत्यादि। अथ रूपरसगन्धस्पर्शा रूपिद्रव्यवृत्तेर्विशेषगुणाः, तथा सङ्ख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे इत्येते सामान्यगुणाः सर्व-

(बनावट) और विस्रसा (कुदरती संयोग)से पृथिवी आदि रूपोमें परिणत होते है इसलिये वे अपने द्रव्यत्वको नहीं छोडते है। अवस्थाभेद होनेसे द्रव्यका भेद माननेसे अतिप्रसङ्ग होगा। आकाश और कालको तो हम जैनोंनेभी द्रव्य माना है। दिशा आकाशका अवयव है इसलिये वह भी अलग द्रव्य नही कही जा सकती है क्योकि ऐसा कहनेसे अतिप्रसङ्ग होगा। आत्मा, जोकि शरीरमात्रव्यापी और उपयोगस्वभाव है उसको तो हम जैनोने भी द्रव्य माना है। तथा मन पुद्गल विशेप है इसलिये पुद्गल द्रव्यमें उसका अन्तर्भाव समझना चाहिये। भावमन जीवका गुण है इसलिये उसका आत्मामें अन्तर्भाव है। तथा वैशेषिकमतवाले जो यह कहते हैं कि पृथिवीत्व रूप धर्मके योगसे पृथिवी है इत्यादि, वह भी अपने शास्त्रकी व्याख्यामात्र है क्योकि पृथिवीसे भिन्न पृथिवीत्व नामका कोई दूसरा पदार्थ नही है जिसके योगसे पृथिवी द्रव्य बनेगी। किन्तु जगत् में जो कुछ पदार्थ देखा जाता है वह सभी सामान्य और विशेष उभयस्वरूप है। जैसे नरसिहका आकार उभयस्वरूप है इसीतरह ससारके समस्त पदार्थ सामान्य और विशेष उभयस्वरूप है। अतएव जैनाचार्योंने कहा है कि-'नान्वय'। अर्थात् घटका मिट्टीके साथ एकान्त अभेद नहीं ह क्योकि इनमें भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। तथा एकान्त भेद भी नहीं है क्योंकि घटमे मिट्टी वर्तमान है अतः मिट्टीके साथ कथंचित् भेद और कथञ्चित् अभेद रखनेवाला घट एक दूसरी जातिका पदार्थ है। तथा नर नहीं है क्योंकि उसमे सिंहका रूप भी मौजूद है और वह सिह भी नहीं है क्योकि उसमे नरका भी रूप है अत शब्द, विज्ञान और कार्य्योंके भेद होनेसे नरसिंह एक भिन्न जातिवाला पदार्थ है। वैशेपिको मत है कि-"रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, रूपी द्रव्यमे रहते है इसलिये ये रूपी द्रव्यके विशेप गुण हैं तथा संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग और परत्व तथा अपरत्व ये सामा-

इह च रक्ताख्यः को गुणो ? यत् सद्भावात्, कतरच्च तद् द्रव्यं यत्र शब्दनिवेशो येन भावप्रत्ययः स्यादिति ?। किमिदानीं रक्तस्य भावो रक्तत्वमिति न भवितव्यं ?, भवितव्यमुपचारेण, तथाहि-रक्त इत्येतद्द्रव्यत्वेनो यं तस्य [1]सामान्यं भाव इति रक्तत्वमिति, न चोपचारस्तत्त्वचिन्तायामुपयुज्यते, शब्दसिद्धावेव तस्य [2]कृतार्थत्वादिति । शब्दश्चाकाशस्य गुण न भवति, तस्य पौद्गलिकत्वाद्, आकाशस्य चामूर्तत्वादिति । शेषं तु प्रक्रियामात्रं न साधनदूषणयोरङ्गम् । क्रियाऽपि द्रव्यसमवायिनी गुणवत्पृथगाश्रयितुं न युक्तेति । अथ सामान्यं, तद्द्विधा-परमपरं च, परं महासत्ताख्यं द्रव्यादिपदार्थव्यापि, तथाचोक्तम्-"सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" अपरं च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वात , तत्र न महासत्तायाः पृथक्पदार्थता युज्यते, स्तस्यां यः सदिति प्रत्ययः स किमपरसत्तानिबन्धन

यदि जूदा है तो वह कौन है जिसके होनेसे घट शब्दसे भाव प्रत्यय होता है तथा वह द्रव्यभी उस गुणसे अतिरिक्त कौन है जिसमें घट शब्दका प्रयोग होता है ? उत्तर यही हो सकता है कि इनदोनोंमें एकान्त भेद नहीं है) (अत द्रव्यसे गुणोको पृथक् ग्रहण करना अयुक्त है) यहां शङ्का होती है कि यदि रक्तगुण द्रव्यसे भिन्न नहीं है तो क्या "रक्तस्य भावो रक्तत्वं" यह प्रयोग न होना चाहिये ? समाधान यह है कि अवश्य होना चाहिये परन्तु उपचार (आरोप) से होना चाहिये, जैसेकि रक्तकोही द्रव्य मानकर उसके भाव अर्थमें त्व प्रत्यय करके रक्तत्व पद बनना चाहिये परन्तु उपचार (आरोप) तत्त्वके विचारका उपयोगी नहीं है किन्तु शब्दका साधन मात्र ही उसका फल है । तथा शब्द भी आकाशका गुण हो ही नही सकता क्योंकि वह पौद्गलिक है और आकाश अमूर्त्त है । वैशेषिकोंके कहे हुए शेष पदार्थ तो उनके शास्त्रकी व्याख्या मात्र है इसलिये वे किसी अर्थके साधक या दूषक नहीं है । तथा द्रव्यमें रहनेवाली क्रियाभी गुणके समान ही अलग न माननी चाहिये । अब सामान्य बताया जाता है—वैशेषिक कहते है कि—सामान्य दो प्रकारका है एक परसामान्य और दूसरा अपरसामान्य । इनमें द्रव्यगुण और कर्ममे व्याप्त रहनेवाली महासत्ताको वे परसामान्य कहते है जैसेकि—उनका वचन है—"सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्ममें सत् यह प्रतीति होती है इसलिये इनमें रहनेवाली सत्ता जाती है । तथा द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व रूप जाति अपर जाति है । यहां जैनाचार्य्य कहते है कि—महासत्ताको अलग पदार्थ मानना ठीक नहीं है क्योकि—उस सत्तामे जो सत् होनेकी प्रतीति होती है वह किसी दूसरी वस्तुके होनेसे होती है अथवा स्वत होती है ?। यदि कहोकि दूसरी वस्तुके होनेसे उसमें सत्की प्रतीति होती है तो फिर उस दूसरी वस्तुमे भी किसी तीसरी वस्तुके होनेसे सत्की प्रतीति

१ समानस्य भावो भाव' । २ गुणस्य ...

उत स्वत एव ?, तत् यद्यपरसत्तानिबन्धनस्तत्राप्ययमेव विकल्पोऽतोऽनवस्था, अथ स्वत एव ततस्तद्वद् द्रव्यादिष्वपि स्वत सत्प्रत्ययो भविष्यतीति [1]किमपरसत्ताऽजागलस्तनकल्पया विकल्पितया ?, किञ्च–द्रव्यादीनां कि सतां सत्तया सत्प्रत्यय उतासतां ?, तत् यदि सतां स्वत एव सत्प्रत्ययो भविष्यति किं तया ? असत्पक्षे तु शशविषाणादिष्वपि सत्तायोगात्सत्प्रत्ययः स्यादिति, तथा चोक्तम्–"स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत्सत्तया किं सदात्मम् ? । असदात्मसु नैषा स्यात्सर्वथाऽतिप्रसङ्गतः ॥१॥" इत्यादि । एतदेव दूषणमपरसामान्येऽप्यायोज्यं, तुल्ययोगक्षेमत्वात् । किञ्च–अस्माभिरपि सामान्यविशेषरूपत्वाद्वस्तुनः कथञ्चित्तदिष्यत एवेति, तस्य च कथञ्चित्तदव्यतिरेकाद् द्रव्यग्रहणेनैव ग्रहणमिति । अथ विशेषा, ते चात्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वेन परैराश्रीयन्ते, तत्रेदं चिन्त्यते–या तेषु विशेषबुद्धिः सा नापर-

होनी चाहिये तथा उस तीसरी वस्तुमे चौथी वस्तुके होनेसे सत्की प्रतीति होनी चाहिये इस-प्रकार अनवस्था दोष आता है । यदि कहो कि महासत्तामे स्वत. सत् होनेकी प्रतीति होती है दूसरी वस्तुके होनेसे नहीं तो फिर इसीतरह द्रव्यादिमें भी स्वयमेव सत्ताकी प्रतीति होगी फिर बकरीके गलेके स्तनके समान व्यर्थ एक दूसरी सत्ताकी कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता है ? । तथा द्रव्यादि पदार्थोंको सत् मानकर उनमें सत्ताके योगसे तुम सत् की प्रतीति मानते हो अथवा असत् मानकर ? । यदि सत् मानकर कहो तब तो स्वयमेव सत् की प्रतीति होगी फिर सत्ताकी क्या आवश्यकता है ? । और यदि द्रव्यादिको असत् मानकर उनमे सत्ताके योगसे सत्की प्रतीति कहो तब तो शशविषाण आदिमें भी सत्ताके योगसे सत्की प्रतीति होनी चाहिये । अतएव विद्वानोंने कहा है कि–"स्वतोऽर्था सन्तु" अर्थात् पदार्थ स्वयमेव सत् है इसलिये सत्स्वरूप पदार्थोंको सत्ताकी क्या आवश्यकता है । जो पदार्थ असत् है उनमे सत्ता मानी नहीं जाती क्योंकि शशविषाण आदिमें अतिप्रसङ्ग होता है । महासत्ताके पक्षमें जो दूषण दिये गये हैं वे ही दूषण अपरसामान्य (द्रव्यत्व आदि)में भी देना चाहिये क्योंकि इन दोनोंकी रीति एकही है । दूसरी बात यह है कि–वस्तु सामान्य और विशेष उभय स्वरूप है इसलिये हमभी कथ-ञ्चित् सामान्यको स्वीकार करते है । परन्तु वह सामान्य कथंचित् द्रव्यसे अभिन्न है इसलिये द्रव्यके ग्रहणसे उसका भी ग्रहण हो जाता है अत· उसे अलग पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं है । अब विशेष बताये जाते है–वैशेषिक विशेष नामका एक पदार्थ मानते है वे कहते है कि–द्रव्यादिमे विशेष नामके पदार्थके कारणही इतर पदार्थोंसे उसकी व्यावृत्ति होती है । इस विषयमे यह विचार किया जाता है कि उन विशेषोंमें जो विशेष बुद्धि होती है वह किसके कारणसे होती है ? उनमें भी दूसरा विशेष रहता है यह तुम नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा कहनेसे अनवस्था होगी इसलिये जैसे दूसरे विशेषोंके बिना भी विशेषोंमें विशेष बुद्धि होती है इसी तरह द्रव्यादिमें भी होगी फिर द्रव्यादिसे अतिरिक्त विशेष

१ द्रव्यादिभिन्नया ।

विशेषहेतुकाऽऽश्रयितव्या, अनवस्थाभयात्, तः समाश्रयणे च तद्वद् द्रव्यादिष्वपि विशेषबुद्धिः स्यात्किं द्रव्यादिव्यतिरिक्तैर्विशेषैरिति ?, द्रव्याव्यतिरिक्तास्तु विशेषा अस्माभिरप्याश्रीयन्ते, सर्वस्य सामान्यविशेषात्मकत्वादिति । [1]एतत्तु प्रक्रियामात्रं, तद्यथा-नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः, नित्यद्रव्याणि च चतुर्विधाः परम ो मुक्तात्मानो मुक्त ंसि च, [2]इति [3]निर्युक्तिकत्वादपकर्णयितव्यमिति । समस्तु-अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां य इह प्रत्ययहेतुः स समवाय इत्युच्यते, असावपि नित्यश्चैकश्चाश्रीयते, तस्य च नित्यत्वात्समवायिनोऽपि नित्या आपद्येरन्, तदनित्यत्वे च तस्याप्यनित्यत्वापत्तिः, तदाधाररूपत्वात्तस्य, तदेकत्वाच्च सर्वेषां समवायिनामेकत्वापत्तिः, तस्य चानेकत्वमिति । किञ्च-अयं समवायः संबन्धः, तस्य च द्विष्ठत्वाद् [4]युतसिद्धत्वमेव दण्डदण्डिनोरिव, वीरणानां च टोत्पत्तौ पतया विनाशः रूपतयोत्पत्तिरन्वयरूपतया व्यवस्थानमिति दुग्धदध्नोरिवेत्येवं वैशेषिकमतेऽपि न सम्यक् पदार्थावस्थितिरिति ॥ साम्प्रतं साङ्ख्यदर्शने तत्त्वनिरूपणं प्रक्रम्यते-तत्र प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिरुपजायते, प्रकृतिश्च सत्त्वरजस्त ां

नामक पदार्थ माननेकी क्या आवश्यकता है ?। द्रव्यसे अभिन्न विशेषको तो हमभी मानते है क्योकि सभी पदार्थ सामान्य और विशेष उभयस्वरूप है । वैशेषिक जो यह कहते है कि-" नित्य द्रव्यमें रहनेवाला और सबके अन्तमें रहनेवाला विशेष नामक पदार्थ है । नित्य द्रव्य चार प्रकारके परमाणु, मुक्तात्मा, और मुक्त मन हैं इनमें विशेष पदार्थ रहता है इत्यादि" परन्तु यह बात युक्तिरहित होनेके कारण सुनने योग्य नहीं है । वैशेषिक समबाय नामक एक पदार्थ मानते है । वे कहते हैं कि परस्पर एक दूसरेको छोडकर नहीं रहनेवाले और आधार एवं आधेय स्वरूप जो पदार्थ है उनमे जो " यह यहां है " इस प्रतीतिका कारण है वह समवाय है । उस समवायको वैशेषिक नित्य और एक मानते है । परन्तु समवाय नित्य होनेसे जितने समवायी है सभी नित्य हो जायँगे यदि समवायियोको अनित्य कहो तो समवाय भी अनित्य हो जायगा क्योकि समवायका आधार समवायी ही है । तथा समवाय एक है इसलिये सभी समवायी भी एक हो जायँगे । परन्तु यदि समवायियोको अनेक कहो तो फिर समवाय भी अनेक होगा । तथा वैशेषिकोने इस समवायको सम्बन्ध माना है और सम्बन्ध दोमे रहता है इसलिये दण्ड और दण्डीके समान भिन्न भिन्न होनेसे उसके आश्रयभूत पदार्थ युतसिद्ध ठहरते है अयुतसिद्ध नहीं । वीरणोका कटकी उत्पत्ति होनेपर, वीरणरूपसे नाश और कटरूपसे उत्पत्ति होती है । जैसे दहींमे दूध अन्वय रूपसे स्थित रहता है इसीतरह कटमे वीरण अन्वय रूपसे स्थित रहता हे इसलिये वैशेषिक मतमें भी पदार्थोंकी व्यवस्था ठीक नहीं की गई है । अव सांख्यवादियोके तत्त्वका निरूपण आरम्भ करते हैं-साख्यवादी कहते हैं कि प्रकृति और पुरुषके सयोगसे सृष्टि उत्पन्न होती है । सत्व, रज, और

---

१ वक्ष्यमाण । २ एतन्निरूपण । ३ अपरविशेषभावयोर्दोषात् । ४ युगमयोर्भिन्नत्वेन ।

भूतोत्पत्तिरिष्यते, तद्यथा—गन्धतन्मात्रात्पृथिवी रसतन्मात्रादापः रूपतन्मात्रात्तेजः स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दतन्मात्रादाकाशमिति, साऽपि न युक्तिक्षमा, यतो यदि बाह्यभूताश्रयेणैतदभिधीयते, तदयुक्तं, तेषां सर्वदा भावात्, न कदाचिदनीदृशं दितिकृत्वा, अथ प्रतिशरीराश्र दितदुच्यते, तत्र किल त्वगस्थि नलक्षणा पृथ्वी श्लेष्मासृग् द्र क्षणा आपः पक्तिलक्षणं तेजः प्राणापानलक्षणो वायुः शुषिरलक्षणमाकाशमिति, तदपि न युज्यते, यतोऽत्रापि केषाञ्चिच्छरीराणां शुक्रासृक्प्रभवोत्पत्तिः, न तत्र तन्मात्राणां [1]गन्धोऽपि समुपलक्ष्यते, [2]अदृष्टस्यापि कारणत्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, अण्डजोद्भिज्जाङ्कुरादीनामप्यन्यत एवोत्पत्तिर्भवन्ती समुपलक्ष्यते, तदेवं व्यवस्थिते प्रधा हदहङ्कारादिकोत्पत्तिर्या सांख्यैः स्वप्रक्रिययाऽऽभ्युपगम्यते तत्तैर्निर्युक्तिकमेव स्वदर्शनानुरागेणाभ्युपगम्यत इति। आत्मनश्चाकर्तृ भ्युपगमे कृतनाशोऽकृतागमश्च स्यात् बन्धमोक्षाभावश्च, निर्गुणत्वे च ज्ञानशून्यतापत्तिरित्यतो बालप्रलापमात्रं, प्रकृतेश्चाचेतनाया आत्मार्थं प्रवृत्तिर्युक्ति-

रसतन्मात्रासे जल एव रूपतन्मात्रासे तेज और स्पर्शतन्मात्रासे वायु तथा शब्दतन्मात्रासे आकाश उत्पन्न होता है" यह सांख्यवादियोका मन्तव्य युक्तियुक्त नही है क्योकि पाँच तन्मात्राओसे यदि बाह्य पॉच भूतोकी उत्पत्ति बताते हो तो ठीक नहीं है क्योंकि बाह्यभूत सदा वर्तमान है कभीभी यह जगत् दूसरी तरहका नहीं था। यदि प्रतिशरीरके भूतोकी उत्पत्ति पॉच तन्मात्राओसे कहो तो यहभी ठीक नहीं है क्योकि शरीरमें जो चर्म और हड्डियॉ है वे कठिन स्वरूप पृथिवी है और श्लेष्मा, तथा रक्त द्रवरूप जल हैं तथा अन्नको पकानेवाली अग्नि, तेज है तथा प्राण और अपान वायु है और शरीरमें जो छिद्र है वह आकाश है। ऐसे शरीरकी तन्मात्राओंसे उत्पत्ति भी ठीक नहीं है क्योंकि कई शरीरोंकी उत्पत्ति तो शुक्र और शोणितसे होती है इसलिये उनमे तन्मात्राओका गन्ध भी नहीं है। जो वस्तु देखी नहीं जाती है उसकोभी कारण स्वीकार करनेसे अतिप्रसङ्ग दोष होगा। तथा अण्डज, उद्भिज्य और अङ्कुर आदिकी भी दूसरेसे ही उत्पत्ति देखी जाती है इसलिये सांख्यवादी जो अपनी प्रक्रियाके अनुसार प्रधानसे महत् और महत्से अहङ्कार इत्यादि क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्ति कहते है वह निर्युक्तिक केवल अपने दर्शनके अनुरागसे कहते है। तथा आत्माको अकर्ता माननेपर कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष आते है और बन्ध तथा मोक्षका भी अभाव होता है तथा आत्माको निर्गुण मानने पर वह ज्ञानरहित सिद्ध होता है इसलिये सांख्यवादियोंका कथन केवल बालकके प्रलापके समान निरर्थक है। तथा प्रकृति अचेतन है वह आत्माके लिये प्रवृत्ति करती है यह कथनभी युक्ति रहित है।

अब बौद्ध मत बताते है—बौद्धमतमे पदार्थ बारह आयतन है जैसेकि—चक्षु आदि पाँच

१ गन्ध. सबन्धलेशयो। २ तन्मात्रापञ्चकस्य।

विकलेति । अथ बौद्धमतं निरूप्यते-तत्र हि पदार्था द्वादशायतनानि, तद्यथा-चक्षुरादीनि पञ्च रूपादयश्च विषयाः पञ्च [1]शब्दायतनं धर्मायतनं च, ः-सुखादयो द्वादशायतनपरिच्छेदके प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे, तत्र चक्षुरादी(दिद्रव्ये)न्द्रियाण्यजीवग्रहणेनैवोपात्तानि, भावेन्द्रियाणि तु जीवग्रहणेनेति, रूपादयश्च विषया अजीवोपादानेनोपात्ता न पृथगुपादातव्याः, शब्दायतनं तु पौद्गलिकत्वाच्छाब्दस्याजीवग्रहणेन गृहीतं, न च प्रतिव्यक्ति पृथक्पदार्थता युक्तिसंगतेति, धर्मात्मकं सुखं दुःखं च यद्यसा(तासा)तोदयरूपं तो जीवगुणत्वाज्जीवेऽन्तर्भावः, अथ तत्कारणं कर्म ततः पौद्गलिकत्वादजीव इति । प्रत्यक्षं च तैर्निर्विकल्पकमिष्यते, तच्चानिश्चयात्मकतया प्रवृत्तिनिवृत्त्योरनङ्गमित्य णमेव, तदप्रामाण्ये तत्पूर्वकत्वादनुमानमपीति, शेषस्त्वाक्षेपपरिहारोऽन्यत्र सुविचारित इति नेह न्यत इत्यनया दिशा मीमांसकलोकायतमताभिहिततत्त्वनिराकरणं स्वबुद्ध्या विधेयं, तयोरत्यन्तलोकविरुद्धपदार्थानां श्रयणान्न साक्षादुपन्‍ : कृत इति । तस्मात्पारिशेष्यसिद्धा अर्हदुक्ता वा पदार्थाः सत्याः तत्परिज्ञानं च क्रियावादे हेतुः नापरपदार्थपरिज्ञानमिति ॥२१॥

इन्द्रिय और रूप आदि पॉच विषय और शब्दायतन तथा धर्मायतन । यहॉ सुख आदिको धर्म कहते हैं । इन बारह आयतनोंको निश्चय करनेवाले प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण है । अब जैनाचार्य्य कहते है कि इनमें चक्षुरादि इन्द्रियोंको हमने अजीवके ग्रहणसे ग्रहण किया है और भावेन्द्रियोको जीवके ग्रहणसे ग्रहण किया है । तथा रूपादि विषयभी अजीवके ग्रहणसेही गृहीत हैं इसलिये उन्हे भी अलग ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है । तथा शब्दायतनभी शब्द पौद्गलिक होनेसे अजीव के ग्रहणसे ही गृहीत है । अतः प्रत्येक व्यक्तिको अलग अलग पदार्थ मानना ठीक नहीं है । धर्मस्वरूप सुख और दुःख यदि साता और असाताके उदयरूप है तबतो वे जीवके गुण होनेसे जीवमें ही अन्तर्भूत हो जाते है यदि वह सुख दुःखके कारण रूप कर्म है तबतो पौद्गलिक होनेसे वह अजीव है । बौद्धलोग प्रत्यक्षको निर्विकल्पक कहते है इसलिये अनिश्चयरूप होनेके कारण वह प्रवृत्ति और निवृत्तिका कारण नहीं है इसलिये वह प्रमाण नहीं हो सकता है । इसप्रकार प्रत्यक्षके अप्रमाण होनेसे प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है । शेष बाते दूसरी जगह खूब विचारी गई है इसलिये यहा विस्तारकी आवश्यकता नहीं है । इसीतरह मीमांसक और लोकायतिकके कहे हुए तत्त्वोको अपनी बुद्धिसे निराकरण करना चाहिये । मीमांसक और लोकायतमतवाले अत्यन्त लोकविरुद्ध पदार्थ मानते है इसलिये उनका साक्षात् उल्लेख यहां नहीं किया गया है। इसप्रकार सबसे बॅचेहुए अर्हदुक्त नव या सात पदार्थ ही सत्य है इसलिये उनको जाननाही क्रियावादी होनेका कारण है परन्तु दूसरे दर्शनोके पदार्थोंको जानना नहीं । २१

१ मानसमिति शब्दान्तर, तस्य शब्दमयविचारात्मकत्वात् ।

द्दे रूवे णो, ंधे रसे अदुस ा े ।
ो ीवि ं णो रणाहि ंखी, आया गुत्ते व ा विमुक्के ॥
॥२२॥ त्तिबेमि ॥

छाया–शब्देषु रूपेष्वसज्जमानो गन्धेषु रसेषु चाद्विषन् ।
नो जीवितं नो मरणावकांक्षी, आदानगुप्तो वलयाद् विमु इति ब्रवीमि

अन्वयार्थ–(सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे) शब्द और रूपमें आसक्त न होता हुआ (गधेसु रसेसु अदुस्समाणे) तथा गन्ध और रसमें द्वेष न करता हुआ (नो जीवित णो मरणावकखी) तथा जीने और मरनेकी इच्छा न करता हुआ साधु (आयाणगुत्ते) सयम से गुप्त (वलयाविमुक्के) और माया से रहित होकर रहे (त्तिबेमि) यह मै कहता हू ।

भावार्थ–साधु मनोहर शब्द और रूपमें आसक्त न हो, तथा अमनोज्ञ गन्ध और रसमें द्वेष न करे एवं वह जीने या मरनेकी इच्छा न करे किन्तु सयमसे युक्त तथा मायारहित होकर विचरे यह मै कहता हूँ ।

साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुः यग्वादपरि फलमादर्शयन्नाह–'शब्देषु' वेणुवीणादिषु श्रुतिसुखदेषु 'रूपेषु च' नयनानन्दकारिषु 'आसङ्गमकुर्वन्' गार्ध्यमकुर्वाणः, अनेन रागो गृहीतः, तथा 'गन्धेषु' कुथितकलेवरादिषु 'रसेषु च' अन्तप्रान्ताशनादिषु अदुष्यमाणोऽमनोज्ञेषु द्वेषमकुर्वन्, इदमुक्त भवति-शब्दादिष्विन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेतरेषु रागद्वेषाभ्यामनपदिश्यमानो 'जीवितम्' असंय ीवितं नाभिकाङ्क्षेत्, नापि परीषहोपसर्गैरभिद्रुतो मरणमभिकाङ्क्षेत्, यदिवा जीवितमरणयोरनभिलाषी संयममनुपालयेदिति । तथा मोक्षार्थि ऽऽदीयते गृह्यत इत्यादानं-संयम-

---

टीकार्थ–अब शास्त्रकार इस अध्ययनको समाप्त करने की इच्छा करते हुए सम्यग्वादको जाननेका फल दिखाने के लिये कहते है–कानोको आनन्द देनेवाले वेणु और वीणा आदिके शब्दोमें तथा नेत्रको आनन्द देनेवाले रूपोमें साधु आसक्त न हो, अर्थात् उसमें गृद्धि न करे। यह कहकर रागके त्यागका उपदेश किया है । तथा सडेहुए शरीर आदिके अमनोज्ञ गन्धोमें और अन्त प्रान्त आहार आदिके अमनोज्ञ रसोंमें साधु द्वेष न करे । आशय यह है कि–अच्छे और बुरे जो इन्द्रियोके विषय शब्दादि है उनमें साधु रागद्वेष न करता हुआ असंयम जीवनकी इच्छा न करे । तथा परीषह और उपसर्गोंसे पीडित होकर मरणकी इच्छा न करे। अथवा साधु जीवन और मरणकी इच्छारहित होकर संयमका पालन करे । मोक्षार्थी पुरुष जिसको ग्रहण करते है उसे आदान कहते है वह संयम है उसके द्वारा साधु गुप्त होकर रहे ।

॥ थ ोदशं श्रीयाथा थ्याध्ययनं ारभ ते ॥

समाप्तं स ाख्यं द्वादशमध्ययनं, तदनन्तरं त्रयोदशमारभ्यते, अस्य मभिसंबन्धः-इहानन्तराध्ययने परवादि ानि निरूपि नि तन्निराकरणं चाकारि, तच्च याथातथ्येन ति, तदिह प्रति ाद्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि न्ति, तत्राप्युपक्रमद्वारान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, था-शिष्यगुणदी , अन्यच्च- न्तराध्ययनेषु धर्मसमाधिमार्गसमवसरणाख्येषु यदवितथं याथातथ्येन व्यवसि यच्च विपरीत वितथं तदपि लेशतोऽत्र प्रतिपादयिष्यत इति। नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे याथातथ्यमिति नाम, तदधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

णामतहं ठवणतहं दव्वतहं चेव होइ भा हं।
दव्वतहं पुण जो ज सभावो होती दव्व ॥१२२॥
भा हं पुण नियमा णायव्वं छव्विहंमि भावंमि।
अहवाऽवि नाणदंसणचरित्तविणएण अज्झप्पे ॥१२३॥
जह सुत्तं तह अत्थो चरणं चारो तहत्ति यव्व।
संतंमि [य] पसंसाए असती पगयं दुगुंछाए ॥१२४॥
आयरियपरंपरएण आगयं जो उ छेयवुद्धीए।
कोवेइ छेयवाई जमालिनासं स णासिहिति ॥१२५॥
ण करोति दुक्खमोक्खं उज्जममाणोऽवि संजमतवेसुं।
तम्हा अत्तुक्करिसो वज्जेअव्वो जतिजणेणं ॥१२६॥

समवसरण नामक बारहवाँ अध्ययन समाप्त होचुका अब तेरहवाँ आरम्भ किया जाता है। इसका पूर्व अध्ययनके साथ सम्बन्ध यह है—बारहवें अध्ययनमें परवादियोके मत कहे गये है और उनका खण्डनभी किया गया है परन्तु वह खण्डन सत्यवचनके द्वारा होता है यह इस अध्ययनमे बताया जाता है। इस सम्बन्धसे आये हुए अध्ययनके चार अनुयोगद्वार है। उनमे उपक्रममें अर्थाधिकार यह है—इसमें शिष्योका गुण बताया गया है तथा धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण नामक पहलेके अध्ययनोमे जो वस्तु सत्य और यथार्थ तत्त्व है तथा जैनेतरोके जो असत्य और विपरीत तत्त्व है वे दोनोही सक्षेपसे यहाँ बताये जायँगे। नामनिष्पन्न निक्षेपमे इस अध्ययनका नाम याथातथ्य है। इसके विषयमे निर्युक्तिकार कहते है—

भावलक्षण', तथा कर्मोपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः-कर्मानुदयलक्षण इत्यर्थः, तथा क्षया :क्षायिकः-[1]अप्रतिपातिज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणः, तथा क्षयादुपशमाच्च : क्षायोपशमिको-देशोदयोपशमलक्षणः, परिणामेन निर्वृत्तः पारिणामिको-जीवाजीव-भव्यत्वादिलक्षणः, पञ्चानामपि भावानां द्विकादिसंयोगान्निष्पन्नः सान्निपातिक इति। यदिवा-'अध्यात्मनि' आन्तरं चतुर्धा भावतथ्यं द्रष्टव्यं, तद्यथा-ज्ञानदर्शनचारित्र-विनयतथ्यमिति, तत्र ज्ञानतथ्यं मत्यादिकेन ज्ञानपञ्चकेन यथास्वमवितथो विषयो-पलम्भः दर्शनतथ्यं शङ्काद्यतिचाररहितं जीवादितत्त्वश्रद्धानं चारित्रतथ्यं तु तपसि द्वादशविधे संयमे सप्तदशविधे सम्यगनुष्ठानं, विनयतथ्यं [2]द्विचत्वारिंशद्भेदभिन्ने विनये ज्ञानदर्शनचारित्रतपऔ ारिकरूपे यथायोगमनुष्ठानं, ज्ञानादीनां तु वितथा-ऽऽसेवनेनातथ्यमिति । अत्र च भावतथ्येनाधिकारः, यदिवा भावतथ्यं प्रशस्ता-प्रशस्तभेदाद्द्विधा, तदिह प्रशस्तेनाधिकारं दर्शयितुमाह-'यथा' येन प्रकारेण यथा पद्धत्या सूत्रं व्यवस्थितं 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'अर्थो' व्याख्येयोऽनुष्ठेयश्च, एत-

---

उपशमसे उत्पन्न होता है उसे औपशमिक कहते है । अर्थात् कर्मका उदय न होना औपश-मिकभाव है । एव कर्मके क्षय होनेसे जो आत्माका गुण प्रकट होता है उसे क्षायिकभाव कहते है, वह अप्रतिपाती ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप है । जो कर्मके क्षय और उपशमसे उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक है । वह देशसे उदय और देशसे उपशमरूप है । जो परिणामसे उत्पन्न होता है वह पारिणामिक भाव है वह जीवत्व अजीवत्व और भव्यत्व आदि है । इन पॉच भावोके दो, तीन आदिके संयोगसे उत्पन्न भाव सान्निपातिक कहलाता है (इन्ही छः भेदोंमें भाव तथ्य समा जाता है) अथवा आत्माके अन्दर रहनेवाला भावतथ्य चार प्रकारका है, जैसेकि-ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और विनयतथ्य । इनमे मति आदि पांच ज्ञानोके द्वारा जो वस्तु जैसी है उसे उसीतरह सत्य समझना ज्ञानतथ्य है । तथा शङ्का आदि अतिचारोसे रहित जीवादि तत्त्वोमें विश्वास करना दर्शनतथ्य है । एवं बारह प्रकारके तप और सत्रह प्रकारके सयमकी अच्छीतरह क्रिया करना चारित्रतथ्य है । तथा बेयालीस प्रकारका विनय जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और औपचारिक रूप है उसकी यथायोग्य क्रिया करना विनयतथ्य है । इन ज्ञान आदिका योग्य रीतिसे सेवन न करना अतथ्य है । इनमे यहॉ 'भावतथ्यका वर्णन है । अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त भेदसे भावतथ्य दो प्रकारके हैं उनमे यहॉ प्रशस्तभाव-तथ्यका अधिकार है यह दिखानेके लिये निर्युक्तिकार कहते है । जिस प्रकारसे और जिस रीतिसे सूत्र बनाये गये है उसी तरहसे उनके अर्थकी व्याख्या करनी चाहिये और उसीतरहसे उनका अनुष्ठान करना चाहिये यह निर्युक्तिकार दिखाते हैं-आचरण यानी क्रियाको चरण

---

१ ज्ञानाद्यनुगतत्वान्न वीर्यादि' पृथगुपादानम् । २ ज्ञानेऽष्टौ दर्शने चारित्रे च तपसि विनयस्य विधेयत्वादेकादश औपचारिके सप्तभेदरूपे यद्वा क्रमेण पञ्चैकसप्तदशद्वादशसप्तभेदरूपे ।

वक्ति च-न हि मृत्पिण्डक्रियाकाल एव घटो निष्पद्यते, कर्मगुणव्यपदेशानामनुपलब्धेः, स एवं 'छेकवादी' निपुणोऽहमित्येवंवादी पण्डिताभिमानी 'जमालिनाशं' जमालिनिह्नववत् सर्वज्ञमतविकोपको 'विनङ्क्ष्यति' अरघट्टीयन्त्रन्यायेन संसारचक्रवाले वंभ्रमिष्यतीति, न चासौ जानाति वराको यथा अयं लोको घटार्थाः क्रिया मृत्खननाद्या घट एवोपचरति, (तत्त्वतः) तासां च क्रियाणां क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेककालत्वात् क्रियमाणमेव कृत भवति, दृश्यते चायं व्यवहारो लोके, यथा-अद्यैव देवदत्ते निर्गते कान्यकुब्जं देवदत्तो गत इति व्यपदेशः, (लोकोक्त्या) तथा दारुणि छिद्यमाने प्रस्थकोऽयं (इति) व्यपदेश इत्यादि । साम्प्रतमन्यथावादिनोऽपायदर्शनद्वारेणोपदेश दातुकाम आह-यो हि दुर्गृहीतविद्यालवदर्पाध्मातः सर्वज्ञवचनैकदेशमप्यन्यथा व्याचष्टे स एवभूतः सन् संयमतपस्सूद्यमं कुर्वाणोऽपि शारीरमानसानां दुःखानामसातोदयजनितानां मोक्षं-विनाशं न करोति आत्मगर्वाध्मातमानसो, यत एवं तस्मादात्मोत्कर्षः-अहमेव सिद्धान्तार्थवेदी नापरः कश्चित् मत्तुल्योऽस्तीत्येवंरूपोऽभिमानो नीयः-त्याज्यो 'यतिजनेन' साधुलोकेन,

---

वस्तु की जा रही है उसे की गई न कहना चाहिये किन्तु जो की जा चुकी है उसीको की गई कहना चाहिये क्योंकि जिस समय घट बनानेके लिये मृत्पिण्डमें क्रिया की जाती है उसी समय घट नही बन जाता है क्योंकि उस समय न तो उस मृत्पिण्डमें जलाहरण क्रिया होती है और न घटका वर्तुलत्वादि गुण होता है और न उसका घट यह नामही होता है" इस प्रकार जो अपनेको निपुण माननेवाला तथा अपनेको पण्डित समझनेवाला पुरुष सर्वज्ञके मतको दूषित करता है वह जामालि निन्हवकी तरह नाशको प्राप्त होता है। वह अरहट यन्त्रकी तरह संसारसागरमें भ्रमण करता रहेगा। वह यह नहीं जानता है कि- "यह लोक, घट बनानेके लिये जो मिट्टी खोदना आदि क्रियाये करता है उन्हें घटमेंही आरोप करता है। वस्तुतः विचार करने पर उन क्रियाओका काल और उनकी समाप्तिका काल एक ही है इसलिये किया जाता हुआ भी किया हुआ कहा जाता है। यह व्यवहार लोकमे भी देखा जाता है जैसेकि-आज ही कान्यकुब्ज जानेके लिये देवदत्तके निकलनेपर कहते हैं कि "देवदत्त कान्यकुब्ज गया"। एवं पायली बनानेके लिये लकडी काटते समयही कहते है कि-"यह पायली है" अब निर्युक्तिकार सर्वज्ञके मतको दूषित करनेवाले पुरुषोंका नाश होना बताते हुए उपदेश देते है-जो मनुष्य थोडीसी विद्याके घमण्डसे उत्तेजित होकर सर्वज्ञके वचनके अंश मात्रकी भी अन्यथा व्याख्या करता है वह संयम और तपमें उद्योग करता हुआ भी शारीरिक और मानसिक दु.खोसे मुक्ति नहीं प्राप्त करता है। आत्मगर्वसे जिसका मन विगड गया है वह दु खसे मुक्त नहीं होता है इसलिये साधु पुरुष "मैही सिद्धान्त अर्थको जानता हूं, मेरे समान दूसरा कोई पुरुष नहीं है" इसप्रकारका अभिमान छोड़ देवे।

सूत्रस्य व्याख्या प्रतन्यते-यथातथाभावो याथातथ्यं-तत्त्वं परमार्थः, तच्च परमार्थचिन्तायां सम्यग्ज्ञानादिकं, तदेव दर्शयति-'ज्ञानप्रकार'मिति प्रकारशब्द आद्यर्थं, आदिग्रहणाच्च सम्यग्दर्श रित्रे गृह्येते, तत्र सम्यग्दर्शनम्-औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकं गृह्यते, चारित्रं तु व्रतसमितिकषायाणां धारणरक्षणनिग्रहादिकं गृह्यते, एतत्सम्यग्ज्ञानादिकं 'पुरुषस्य' जन्तोर्यज्जातम्-उत्पन्नं तदहं 'प्रवेदयिष्यामि' कथयिष्यामि, तुशब्दो विशेषणे, वितथाचारिणस्तद्दोषांश्चाविर्भावयिष्यामि, 'नानाप्रकारं' वा विचित्र पुरुषस्य स्वभावम्-उच्चावचं प्रशस्ताप्रशस्तरूपं प्रवेदयिष्यामि। नानाप्रकारं स्वभावं फलं च पश्चार्धेन दर्शयति-'सतः' सत्पुरुषस्य शोभनस्य सदनुष्ठायिनः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवतो 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं दुर्गतिगमनधरणलक्षणं वा तथा 'शीलम्' उद्युक्तविहारित्वं तथा 'शान्तिं' निर्वृतिमशेषकर्मक्षयलक्षणां 'करिस्सामि पाउ'त्ति प्रादुष्करिष्ये प्रकटयिष्यामि यथावद् उद्भावयिष्यामि, [ग्रन्थाग्रं. ७०००] तथा 'असतः' अशोभनस्य परतीर्थिकस्य गृहस्थस्य वा पार्श्वस्थादेर्वा, ब्दसमु मधर्मं-पापं तथा 'अशीलं' कुत्सितशीलमशान्तिं च-अनिर्वाणरूपां संसृतिं प्रादुर्भावयिष्यामीति। अत्र च सतो धर्मं शीलं शान्तिं च प्रादुष्करिष्यामि, असतश्चाधर्ममशीलमशान्तिं चेत्येवं पद ना योजनीया, अनुपात्तस्य [च] चशब्देनाक्षेपो द्रष्टव्य इति ॥१॥

इस सूत्रकी व्याख्या की जाती है-सच्चे तत्त्वको याथातथ्य कहते है अर्थात् जो परमार्थ है वह याथातथ्य है। वह विचार करनेपर सम्यग्ज्ञान आदि है, उसीको शास्त्रकार दिखाते है "ज्ञानप्रकारम्" यहां प्रकार शब्द आद्यर्थक है। आदि ग्रहणसे सम्यग्दर्शन और चारित्र लिये जाते हैं। उनमें सम्यग्दर्शन, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप लिये जाते है और चारित्र, व्रतका धारण समितिका रक्षण, और कषायोका निग्रह रूप लिया जाता है। ये सम्यग्ज्ञान आदि जो जीवको उत्पन्न होते हैं सो मैं बताऊगा। यहॉ तु शब्द विशेषणार्थक है इसलिये विपरीत आचार करनेवाले पुरुषोके दोषोको भी प्रकट करूंगा। पुरुषोका स्वभाव नानाप्रकारका यानी विचित्र होता है वह प्रशस्त तथा अप्रशस्त दोनोही प्रकारका होता है उसे भी मै बताऊंगा। पुरुषोके स्वभाव और फल नाना प्रकारके होते हैं यह इस गाथाके उत्तरार्धसे बताते है-जो पुरुष सज्जन है अर्थात् शोभन अनुष्ठान करता है और ज्ञान दर्शन तथा चारित्रसे युक्त है उसका जो दुर्गतिमें जानेसे रोकनेवाला श्रुत और चारित्र रूप धर्म है तथा वह जो योग्य रीतिसे विहार करनेमें तत्परता रखता है एवं उसे जो समस्त कर्मोका क्षय स्वरूप शान्ति प्राप्त होती है सो मै आपको बताऊगा। एवं जो पुरुष असत् यानी अशोभन है वे परतीर्थी, गृहस्थ तथा पार्श्वस्थ आदि हैं उनके अधर्म यानी पाप, कुशील और ससारभ्रमणरूप अशान्तिको प्रकट करूंगा। यहां "सज्जन पुरुषके धर्म, शील, और शान्तिको प्रकट करूंगा और असज्जनके अधर्म, अशील, और अशान्तिको प्रकट करूगा" इसप्रकार पदकी योजना करनी चाहिये। इस गाथा मे जो बात नहीं कही है उसका च शब्दसे आक्षेप समझना चाहिये। १

परिग्रहान्मोक्षमार्गमाविर्भावयति, एवं सर्वज्ञोक्तमश्रद्दधानाः श्रद्धानं कुर्वन्तोऽप्यपरे धृतिसंहननदुर्बलतया यथाऽऽरोपितं संयमभारं वोढुमसमर्थाः क्वचिद्विषीदन्तोऽपरेणाचार्यादिना वत्सलतया चोदिताः सन्तस्तं 'शास्तारम्' अनुशासितारं चोदकं पुरुषं वदन्ति 'कर्कशं' निष्ठुरं प्रतीपं चोदयन्तीति ॥२॥

सर्वज्ञ नही हो सकता" ऐसा कहते हुए वे सर्वज्ञके मार्गमे श्रद्धा नही करते है। कोई सर्वज्ञके मार्गमें श्रद्धा रखते हुए भी मन या शरीरकी कमजोरीसे शिरपर लिये हुए संयमरूपी भारको वहन करनेमें समर्थ नही होते है, वे जब संयमपालनमें ढीलाई करते है तब आचार्य्य आदि उन्हे प्रेमके कारण वैसा न करनेके लिये शिक्षा देते है परन्तु वे शिक्षा देनेवालेको ही कटुवाक्य कहने लगते हैं। २

विसोहियं ते अणु ा यंते, जे आतभावेण वियागरेज्जा।
अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं, जे णाणसं ाइ सं वदेज्जा ॥३॥

छाया–विशोधितन्तेऽनुकथयन्ति, ये आत्मभावेन व्यागृणीयुः।
अस्थानिको भवति बहुगुणानां ये ज्ञानशङ्कया मृषा वदेयुः॥

अन्वयार्थ-(ते विसोहिय अणुकाहयते) वे जामालि आदि निन्हव, अच्छी तरह से शोधित इस जिनमार्गकी आचार्य्य परम्परागत व्याख्या से विपरीत प्ररूपणा करते है (जे आतभावेण वियागरेज्जा) जो अपनी रुचिके अनुसार आचार्य्य परम्परा से विरुद्ध सूत्रों का अर्थ करते है वे (बहुगुणाण अट्ठाणिए होइ) उत्तम गुणोंके भाजन नहीं होते है (जे णाणसकाइ मुस वदेज्जा) जो वीतरागके ज्ञानमें शका करके मिथ्या भाषण करते हैं वे उत्तम गुणोंके भाजन नहीं होते हैं।

भावार्थ-वीतरागका मार्ग सब दोषोंसे रहित है तथापि अहंकारके कारण निन्हव आदि उसमें दोषारोपण करते हैं। जो पुरुष अपनी रुचिके अनुसार परम्परागत व्याख्यानसे भिन्न व्याख्यान करता है तथा वीतरागके ज्ञानमें शंका करके मिथ्या भाषण करता है वह उत्तम गुणोंका भाजन नहीं होता है।

किञ्च-विविधम्-अनेकप्रकारं शोधितः-कुमार्गप्ररूपणापनयनद्वारेण निर्दोषतां नीतो विशोधितः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यो मोक्षमार्गस्तमेवंभूत मोक्षमार्गं 'ते' स्वाग्रहग्रहग्रस्ता गोष्ठामाहिलवदनु-पश्चादाचार्यप्ररूपणातः कथयन्ति-अनुकथयन्ति। ये चैवंभूता आत्मोत्कर्षात्स्वरुचिविरचितव्याख्याप्रकारव्यामोहिता 'आत्मभावेन'

टीकार्थ-जो विविध प्रकारसे शोधन किया हुआ है अर्थात् कुमार्गकी प्ररूपणासे हटाकर जो निर्दोष बनाया गया है वह विशोधित मार्ग है। वह सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मोक्ष मार्ग है परन्तु अपने आग्रहमे गोष्ठामाहिलकी तरह फँसे हुए लोग आचार्य्योंकी परम्परागत प्ररूपणासे विपरीत प्ररूपणा करते है। जो लोग अपने अहङ्कारके कारण अपनी इच्छाके अनुसार

ज्ञानशङ्कया पाण्डित्याभिमानेन मृषावादं वदेयुर्यथाऽहं ब्रवीमि तथैव युज्यते नान्यथेति ॥३॥

सकता अथवा इसका अर्थ दूसरा है"। अथवा जो अपने पाण्डित्यके अभिमानसे झूठ बोलते है कि–"मै जैसा कहता हूं उसीतरह अर्थ ठीक होता है और तरह नहीं होता है। ३

जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति, ाया ट्ठं लुवंचयि (यन्ति)।
ाहुणो ते इह ाहु ाणी, ा ण्णि ए ंति अणंत ातं ॥४॥

छाया–येचाऽपि पृष्टाः परिकुञ्चयन्ति, आदानमर्थं खलु वञ्चयन्ति।
असाधवस्ते इह साधुमानिनो मायान्विता एष्यन्त्यनन्तघातम् ॥

अन्वयार्थ–(जेयावि पुट्ठा पलिउंचयति) जो लोग पूछनेपर अपने गुरुका नाम छिपाते हैं (आयाणमट्ठ खलु वचयति) वे मोक्ष से स्वय वञ्चित होते हैं (ते असाहुणो इह साहुमाणी) वे वस्तुत असाधु है परन्तु अपनेको साधु मानते हैं (मायण्णि अणतघात एस्सति) वे मायावी पुरुष अनन्तवार ससार में घातको प्राप्त करते हैं।

भावार्थ–जो पुरुष पूछनेपर अपने गुरुका नाम छिपाते है और दूसरे किसी वडे आचार्य्य आदिका नाम वताते हैं वे मोक्षसे अपनेको वञ्चित करते है। वे वस्तुतः साधु नही है तथापि अपनेको साधु मानते है। वे मायावी जीव अनन्तवार संसारके दुःखोके पात्र होते है।

किञ्चान्यत्–ये केचनाविदितपरमार्थाः स्वल्पतया समुत्सेकिनोऽपरेण पृष्टाः–कस्मादाचार्यात्सकाशादधीतं श्रुतं द्भिरिति, ते तु स्वकीयमाचार्यं ज्ञानावलेपेन निह्नुवाना अपरं प्रसिद्धं प्रतिपादयन्ति. यदिवा मयैवैतत्स्वत उत्प्रेक्षितमित्येव ज्ञानावलेपात् 'पलिउंचयति'त्ति निह्नुवते, यदिवा-सदपि प्रमादस्खलितमाचार्यादिनाऽऽलोचनादिके अ रे पृष्टाः सन्तो मातृस्थानेनावर्णवादभयान्निह्नुवते। त एवं पलिकुञ्चका-निह्नवं कुर्वाणा आदीयत इत्यादानं-ज्ञानादिकं मोक्षो वा तमर्थं

टीकार्थ–जो जीव सत्य तत्त्वको नहीं जानते है और थोडासा ज्ञान पाकर वहुत अभिमान रखते है तथा "आपने किस आचार्य्यसे शास्त्र पढे है" इसप्रकार किसीके पूछनेपर ज्ञानके गर्वसे अपने सच्चे गुरुका नाम छिपाकर दूसरे किसी प्रसिद्ध आचार्यका नाम लेते है अथवा "मैने स्वय इन शास्त्रोंका अध्ययन किया है" यह कहकर ज्ञानके गर्वसे गुरुका नाम छिपाते है अथवा जो स्वयं प्रमादवश भूल करते हैं और आलोचनाके समय गुरु आदिके पूछनेपर "मेरी निन्दा होगी" इस भयसे मिथ्या भाषण करते है वे गुरुका नाम छिपानेवाले पुरुष ज्ञान आदिसे तथा मोक्षसे अपनेको वञ्चित करते है। खलु शब्द निश्चयार्थक है इसलिये वे अवश्य अपनेको वञ्चित

१ ज्ञानहीनत्वाविर्भावशङ्कया। २ तुच्छतया। ३ ज्ञात।

वञ्चयन्ति-भ्रंशयन्त्यात्मनः, खलुरवधारणे वञ्चयन्त्येव। एवमनुष्ठायिनश्चासाधवस्ते परमार्थतस्तत्त्वचिन्तायाम् 'इह' अस्मिन् ति साधुविचारे वा 'साधुमानिन' आत्मोत्कर्षात् सदनुष्ठानमानिनो मायान्वितास्ते 'एष्यन्ति' यास्यन्ति 'अनन्तशो' बहुशो 'घातं' विनाशं संसार वा अनवदग्रं संसारकान्तारमनुपरिवर्तयिष्यन्तीति, दोषद्वयदुष्टत्वात्तेषाम्, एकं तावत्स्वय धवो द्वितीयं साधुमा :, उक्तंच-[1]"पावं काऊण सयं अप्पाणं सुद्धमेव वाहरइ। दुगुणं करेइ पावं बीयं स्स मदत्तं ॥१॥" तदेवमात्मोत्कर्षदोषाद्बोधिलाभमप्युपहत्यानन्तसंसारभाजो न्त्यसुमन्त इति स्थितम् ॥४॥ मानविपाकमुपदर्श्याधुना क्रोधादिकषायदोपमुद्भावयितुमाह—

करते है यह अर्थ है। इस प्रकारका कार्य्य करनेवाले वे साधु नही है। सत्य बात तो यह है कि—इस जगत्मे अथवा साधुपनाका विचार करनेपर वे अपने गर्वके कारण अपने अनुष्ठानको उत्तम समझते हैं परन्तु है वे मायावी, वे साधु नहीं है। वे अनन्तकाल नाशको या संसारको प्राप्त करेंगे। वे दो दोषोंसे दूषित है इसलिये अनन्त कालतक संसाररूपी वनमे भ्रमण करेंगे। एक दोष उनका यह है कि—वे स्वय असाधु है और दूसरा यह है कि वे अपनेको साधु मानते है अतएव कहा है कि—"जो स्वयं पाप करके भी अपनेको शुद्ध ही बताता है वह द्विगुण पाप करता है यह मूर्ख जीवकी दूसरी मूर्खता है।" इसप्रकार निन्हव पुरुष अपने गर्वके कारण बोधिलाभका भी नाश करते है और अनन्त संसारी भी होते है यह सिद्ध हुआ। ४

मान करनेका फल दिखाकर अब शास्त्रकार क्रोध आदि कषायोंका दोष दिखानेके लिये कहते है—

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा।
अंधे वसे दंडपहं गहाय, अविओसिए धासति पाव म्मी ॥५॥

छाया—यः क्रोधनो भवति, जगदर्थभाषी व्यवसितं यस्तूदीरयेत्।
अन्ध इवासौ दण्डपथं गृहीत्वाऽव्यवसितो धृष्यते पापकर्मा ॥

अन्वयार्थ-(जे कोहणे जगट्ठभासी होइ) जो पुरुष क्रोधी है और दूसरे के दोषको कहनेवाला है (जे उ विओसिय उदीरएज्जा) और जो शान्त हुए कलहको फिर जगाता है (पावकम्मी) वह पापकर्म करनेवाला जीव (अविओसिए) सदा कलहमें पडा हुआ (दंडपह गहाय अंधे व) लघुमार्ग से जाता हुआ अन्धे की तरह (धासति) दु खका भागी होता है।

भावार्थ—जो पुरुष सदा क्रोध करता है और दूसरेके दोषोको कहता है एवं शान्त हुए

---

१ पाप कृत्वा स्वय आत्मान शुद्धमेव व्याहरति द्विगुण करोति पाप द्वितीय बालस्य मदत्वम् ॥१॥

यो ह्यविदितकषायविपाकः प्रकृत्यैव क्रोधनो भवति तथा 'जगदर्थभाषी' यश्च भवति, जगत्यर्था जगदर्था ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थास्तानाभाषितुं शीलमस्य जगदर्थभाषी, तद्यथा-ब्राह्मणं डोडमिति ब्रूयात्तथा वणिजं किराटमिति शूद्रमाभीरमिति श्वपाकं चाण्डालमित्यादि तथा काणं काणमिति तथा खञ्जं कुब्जं वडभमित्यादि तथा कुष्ठिनं क्षयिणमित्यादि यो यस्य दोषस्तं तेन परुषं ब्रूयात् यः स जगदर्थभाषी, यदिवा जयार्थभाषी यथैवाऽऽत्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलश्च-येन केनचित्प्रकारेणासदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थः । 'विओसियं'ति विविधमवसितं-पर्यवसितमुपशान्तं द्वन्द्वं-कलहं यः पुनरप्युदीरयेत्, एतदुक्तं भवति-कलहकारिभिर्मिथ्यादुष्कृतादिना परस्परं क्षामितेऽपि तत्तद् ब्रूयाद्येन पुनरपि तेषां क्रोधोदयो भवति । साम्प्रतमेतद्विपाकं दर्शयति-यथा ह्यन्धः-चक्षुर्विकलो 'दण्डपथं' गोदण्डमार्गं [लघुमार्गं] प्रमुखोज्ज्वलं 'गृहीत्वा' आश्रित्य व्रजन् सम्यगकोविदतया 'धृष्यते' कण्टकश्वापदादिभिः पीड्यते, एवमसावपि केवलं लिङ्गधार्यनुपशान्तक्रोधः कर्कशभाष्यधिकरणोद्दीपकः, तथा 'अविओसिए'त्ति अनुपशान्तद्वन्द्वः पापम्-अनार्यं कर्म-अनुष्ठानं यस्यासौ पाप ि धृष्यते चतुर्गतिके संसारे यातनास्थानगतः पौनःपुन्येन पीड्यत इति ॥५॥

कलहको जो फिर प्रदीप्त करता है वह पुरुष पापकर्म करनेवाला है तथा वह बराबर झगडेमें पडा रहता है । वह छोटे मार्गसे जाते हुए अन्धेकी तरह अनन्त दु खोंका भाजन होता है ।

टीकार्थ—जो पुरुष कषायोके फलको नही जानता है और स्वभावसे ही क्रोध करता रहता है तथा जगत्का जो पदार्थ जैसा है उसे जो वैसाही कहता है अर्थात् जो ब्राह्मणको 'डोड' और वनियेको 'किराट' शूद्रको आभीर, श्वपाकको चाण्डाल तथा काणेको काण लॅंगडेको लॅंगडा, कुबडेको कुबड़ा, कुष्टवालेको कुष्टवाला और क्षयीको क्षयी, इसप्रकार जिसका जो दोष है उसे कडे शब्दोंमें कहता है अथवा जैसा कहनेसे अपनी जीत होती है वह चाहे मिथ्याभी हो उसे अपनी जीतके लिये कहता है आशय यह है कि मिथ्याभाषण आदि जिस किसी उपायसे अपनी जीत चाहता है तथा जो सब प्रकारसे मिटे हुए कलहको फिरसे जगाता है, भाव यह है कि—कलह करनेवाले लोग "मिच्छामि दुक्कडं" कहकर परस्पर क्षमापना कराकर शान्त हो चुके है तो भी जो ऐसी वातें कहता है जिनसे उनका शान्त क्रोध फिर भडक उठता है उस पुरुषको जो फल प्राप्त होता है उसे दिखानेके लिये शास्त्रकार कहते है—जैसे अन्धा मनुष्य छोटे मार्गसे जाता हुआ अच्छीतरह मार्ग न जाननेके कारण कॉंटा और जङ्गली जानवर आदिसे पीडित किया जाता है इसीतरह केवल साधुके लिङ्गको धारण करनेवाला जो क्रोधको शान्त किया हुआ नहीं है तथा कटुभाषी और कलहको जगानेवाला है वह पापी पुरुष चारगतिवाले संसारमे यातना स्थानको प्राप्त होकर वारवार क्लेश भोगता है । ५

यदिवा-अनाचारं कुर्वन्नाचार्यादिभ्यो लज्जते स एवमुच्यते, तथैकान्तेन तत्त्वेषु-जीवादिषु पदार्थेषु दृष्टिर्यस्यासावेका ष्टिः, ान्तर वा 'एगंतसड्ढि'त्ति एकान्तेन श्रद्धावान् मौनीन्द्रोक्तमार्गे एकान्तेन श्रद्धालुरित्यर्थः, चकारः पूर्वोक्तदोषविपर्यस्तगुणसमुच्चयार्थः, तद्यथा-ज्ञानापलिकुञ्चकोऽक्रोधीत्यादि तावदझञ्झाप्राप्त इति, एवत एवाह-'अमाइरूवे'त्ति अमायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपोऽशेषच्छद्मरहित इत्यर्थः, न गुर्वादीन् छद्मनोपचरति नाप्यन्येन केनचित्सार्धं व्यवहारं विधत्त इति ॥६॥

और उत्तरगुणके पालन करनेमें चित्त रखता है अथवा अनाचार करता हुआ गुरु आदिसे लज्जित होता है तथा जीवादि तत्त्वोंमें एकान्तदृष्टि रखता है तथा "एगंत सड्ढि" इस पाठान्तरके अनुसार मौनीन्द्रके कहे हुए मार्गमें पूरी श्रद्धा रखता है एवं पूर्वोक्त दोषोंसे विपरीत अर्थका सूचक चकार होनेसे जो अपने गुरुका नाम छिपाता नही है तथा क्रोध नहीं करता है एवं कलह नहीं करता है वही पुरुष समस्त मायासे रहित उत्तम साधु है । वह कपटसे गुरुकी सेवा नही करता है और दूसरे किसीके साथ भी वह कपटके साथ कोई व्यवहार नहीं करता है । ६

से पे ले हुमे रि जाए, न्निए चेव उज्जुयारे ।
ब ंपि अणु ारि ए जे च्चा, मे हु से होइ अझं प ॥७॥

छाया-स पेशलः सूक्ष्मः पुरुषजातः जात्यन्वितश्चैव सुऋज्वाचारः ।
बह्वप्यनुशास्यमानो यस्तथार्चः, समः स भवत्यझझाप्राप्तः ॥

अन्वयार्थ-(वहुपि अणुसासिए जे तहच्चा) भूल होने पर आचार्य आदिके द्वारा शासन किया हुआ जो पुरुष अपनी चित्तवृत्तिको शुद्ध रखता है (से पेसले सुहमे पुरिसजाए) वही पुरुष विनयादि गुणों से युक्त है तथा वही सूक्ष्म अर्थको देखनेवाला है और वही पुरुषार्थ करनेवाला है। (जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे) तथा वही उत्तम जातिवाला और सयमको पालन करनेवाला है (से समे हु अझझपत्ते होइ) तथा वही समभाव और अमायाको प्राप्त है।

भावार्थ-किसी विषयमे प्रमादवश भूल हो जानेके कारण जो गुरु आदिके द्वारा शिक्षा दिया हुआ चित्तवृत्तिको पवित्र रखता है अर्थात् क्रोध न करता हुआ फिर शुद्ध संयमपालनमें प्रवृत्त हो जाता है वही विनयादि गुणोसे युक्त है तथा वही सूक्ष्म अर्थको देखनेवाला और पुरुपार्थ करनेवाला है एवं वही जातिसम्पन्न और संयमको पालनेवाला है । वह पुरुष वीतराग पुरुषोंके समान मानने योग्य है ।

पुनरपि सद्गुणोत्कीर्तनायाह-यो हि कटुसंसारोद्विग्नः क्वचित्प्रमादस्खलिते सत्याचार्यादिना बह्वपि 'अनुशास्यमान' चोद्यमानस्तथैव-सन्मार्गानुसारिण्यर्चा-

टीकार्थ-फिरभी शास्त्रकार सद्गुणोको बतानेके लिये कहते है-जो पुरुष दु खरूप ससारसे घबरा गया है और प्रमादवश किसी विषयमे भूल होनेपर गुरुके द्वारा बहुत शिक्षा देनेपर भी

लेश्या चित्तवृत्तिर्यस्य स भवति तथार्चः, यश्च शिक्षां ग्राह्यमाणोऽपि तथार्चो भवति स 'पेशलो' मिष्टवाक्यो विनयादिगुणसमन्वितः 'सूक्ष्म.' सूक्ष्मदर्शित्वात्सूक्ष्मभाषि (वि) त्वाद्वा सूक्ष्मः 'स एव पुरुषजातः' स एव परमार्थतः पुरुषार्थकारी नापरो योऽनायुधतपस्विजनपराजितेनापि क्रोधेन जीयते, तथाऽसावेव 'जात्यन्वितः' सुकुलोत्पन्नः, सच्छीलान्वितो हि कुलीन इत्युच्यते, न सुकुलोत्पत्तिमात्रेण, तथा स एव सुष्ठु–अतिशयेन ऋजुः–संयमस्तत्करणशीलः-ऋजुकरः, यदिवा 'उज्जुचारे' त्ति यथोपदेशं यः प्रवर्तते न तु पुनर्व याऽचार्यादिवचनं विलोमयति-प्रतिकूलयति, यश्च तथार्चः पेशलः सूक्ष्मभाषी जात्यादिगुणान्वितः क्वचिदवक्रः 'समो' मध्यस्थो निन्दायां पूजायां च न रुष्यति नापि तुष्यति तथा अझं -अक्रोधोऽमाया वा तां प्राप्तोऽझंझाप्राप्त', यदिवाऽझंझाप्राप्तै -वीतरागैः 'समः' तुल्यो भवतीति ॥७॥

पूर्ववत् ही सन्मार्गमें चित्तवृत्ति रखनेवाला है अर्थात् जो गुरुकी शिक्षा पाकर पूर्ववत् ही अपनी चित्तवृत्तिको शुद्ध रखता है वह पुरुष मीठा बोलनेवाला और विनय आदि गुणोसे युक्त है तथा सूक्ष्म अर्थको देखनेवाला अथवा सूक्ष्म अर्थको कहनेवाला होनेके कारण वह सूक्ष्म है एवं वही वस्तुत' पुरुषार्थ करनेवाला है परन्तु जो पुरुष शस्त्ररहित तपस्वियोंसे भी हारे हुए क्रोधके द्वारा जीत लिया जाता है वह पुरुषार्थ करनेवाला नहीं है । तथा वही पुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न है क्योकि जिसका शील अच्छा है वही कुलीन कहा जाता है परन्तु उत्तम कुलमें उत्पन्न होने मात्रसे कुलीन नहीं कहा जाता । एवं वही पुरुष संयमको पालन करनेवाला है । अथवा इस गाथाकी व्याख्या इसप्रकार करनी चाहिये–जो पुरुष गुरुके उपदेशके अनुसार आचरण करता है परन्तु वक्रतासे गुरुके वचनका खण्डन नहीं करता है तथा अपनी चित्तवृत्तिको शुद्ध रखता है और सूक्ष्म अर्थको कहता है एव जाति आदि गुणोसे युक्त है तथा किसी विषयमें कभी कपट नहीं करता है एव अपनो निन्दा सुनकर क्रोधित और प्रशसा सुनकर हर्षित नहीं होता है किन्तु निन्दा और पूजा दोनोहीमें सम होकर रहता है वही पुरुष क्रोधरहित है तथा वही मायावर्जित है अथवा वही पुरुष वीतराग पुरुषोके समान है । ७

जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता, संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउत्ति मत्ता, अण्णं जणं पस्स ति बिंबभूयं ॥८॥

छाया–यश्चाऽप्यात्मानं वसुमन्तं मत्वा, संख्यावन्तं वादमपरीक्ष्य कुर्यात् ।
तपसाऽहं सहित इति मत्वाऽन्यं जनं पश्यति विम्बभूतम् ॥

अन्वयार्थ–(जे यावि अप्प वसुमति सखाय मत्ता) जो अपनेको सयमी और ज्ञानी मानकर (अपरिक्ख वाय कुज्जा) विना परीक्षा किये अपनी बडाई करता है (तवेण वाह सहिउत्ति मत्ता) तथा मैं बडा तपस्वी हू यह मानकर (अण्ण जण बिंबभूय पस्सति) दूसरे जनको जलमें पडी हुई चन्द्रमाकी छायाके समान निरर्थक देखता है ।

भावार्थ-जो अपनेको संयमी ज्ञानवान् और तपस्वी मानता हुआ अपनी वडाई करता है और दूसरेको जलमें पडेहुए चन्द्रबिम्बके समान निरर्थक देखता है वह अभिमानी जीव अविवेकी है।

प्रायस्तपस्विनां ज्ञानतपोऽवलेपो भवतीत्यतस्तमधिकृत्याह-यश्चापि कश्चिल्लघुप्रकृतिरल्पतयाऽऽत्मानं वसु-द्रव्यं तच्च परमार्थचिन्तायां संयमस्तद्वन्तमात्मानं मत्वाऽहमेवात्र संयमवान् मूलोत्तरगुणानां सम्यग्विधायी नापरः कश्चिन्मत्तुल्योऽस्तीति, तथा संख्यायन्ते-परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्था येन तज्ज्ञानं संख्येत्युच्यते तद्वन्तमात्मान मत्वा तथा सम्यक्-परमार्थमपरीक्ष्यात्मोत्कर्षाभिमानीति 'अन्यं ' साधुलोकं गृहस्थकोक वा 'बिम्बभूतं' जलचन्द्रवत्तदर्थशून्यं कूटकार्षापणवद्वा लिङ्गमात्रधारिणं पुरुषाकृतिमात्रं वा 'पश्यति' अवमन्यते । तदेवं यद्यन्मदस्थानं जात्यादिकं तत्तदात्मन्येवारोप्यापरमवधूतं पश्यतीति ॥८॥ किञ्चान्यत्—

टीकार्थ-प्राय. तपस्वियोंको ज्ञान और तपका गर्व होता है इसलिये शास्त्रकार इस विषय को लेकर उपदेश करते है-जो हल्की प्रकृतिवाला पुरुष अपनी तुच्छताके कारण अपनेको वसुमान् मानता है, वसुनाम द्रव्यका है वह परमार्थत' संयम है इसलिये वह अपनेको सयमी मानता है और समझता है कि मूल और उत्तम गुणोको अच्छीतरह पालन करनेवाला मै ही हूं मेरे समान दूसरा कोई संयमी नही है, तथा जिसके द्वारा जीवादि पदार्थोका निश्चय किया जाता है उसे संख्या कहते है वह ज्ञान है उससे युक्त भी अपनेको ही मानता हुआ तथा सच्ची बातकी परीक्षा किये विना ही अपनी वडाई करता है तथा यहभी समझता है कि " वारह प्रकारकी तपस्यासे युक्त मै ही हूं मेरे समान दूसरा कोई उत्कृष्ट तपसे शरीरको तपाया हुआ नही है " एव ऐसा मानकर जो अपने उत्कर्षका अभिमान रखता हुआ दूसरे साधु अथवा गृहस्थ लोगों को जलचन्द्रकी तरह तथा नकली सिक्केकी तरह अर्थरहित केवल लिङ्ग मात्रको धारण करनेवाला अथवा पुरुषके आकार मात्र देखता है तथा जो जो जाति आदि मदके स्थान है उन सवोंको अपनेमें ही आरोप करके दूसरेको तिरस्कार दृष्टि से देखता है । ९

एगंतकूडेण उ से पलेइ, ण विज्जती मोणपयंसि गोत्ते ।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसु मन्नतरेण अबुज्झमाणे ॥९॥

छाया-एकान्तकूटेन तु स पर्य्येति, न विद्यते मौनपदे गोत्रे ।
यो मननार्थेन व्युत्कर्षयेत् वसुमदन्यतरेणाबुध्यमानः ॥

अन्वयार्थ-(से एगत कुडेण परेइ) पूर्वोक्त अहङ्कारी साधु एकान्तरूप से मोहमे फँसकर ससारमें भ्रमण करता है । (मोणपयसि गोत्तेण विज्जति) तथा वह समस्त आगमोंके आधाररूप सर्वज्ञके मतमें नहीं है । (जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा) तथा जो मानपूजा आदिको पाकर मद करता है

वहभी सर्वज्ञ के मार्गका अनुगामी नहीं है । (वसुमन्नतरेण अवुज्झमाणे) तथा वह सयमी होकरभी ज्ञान आदिका मद करता हुआ परमार्थको नही जानता है ।

भावार्थ—अहङ्कारी पुरुष एकान्त मोहमें पडकर संसारमें भ्रमण करता है तथा वह सर्वज्ञ प्रणीत मार्गका अनुगामी भी नही है एवं जो मानपूजा की प्राप्तिसे अभिमान करता है तथा संयम लेकर भी ज्ञान आदिका मद करता है वह वस्तुतः मूर्ख है पण्डित नहीं है ।

कूटवत्कूटं यथा कूटेन मृगादिर्बद्धः परवशः सन्नेकान्तदुःखभाग्भवति एवं भावकूटेन स्नेहमयेनैकान्ततोऽसौ संसारचक्रवालं पर्येति तत्र वा प्रकर्षेण लीयते ीयते-अनेकप्रकारं संसार वंभ्रमीति, तुशब्दात्कामादिना वा मोहेन मोहितो बहुवेदने संसारे प्रलीयते, यश्चैवंभूतोऽसौ 'न विद्यते' न कदाचन संभवति मुनीनामिदं मौनं तच्च तत्पदं च मौनपदं-संयमस्तत्र मौनीन्द्रे वा पदे-सर्वज्ञप्रणीतमार्गे नासौ विद्यते, सर्वज्ञमतमेव विशिनष्टि-गां-वाचं त्रायते-अर्थाविसंवादनतः पालयतीति गोत्रं तस्मिन् समस्तागमाधारभूत इत्यर्थः, उच्चैर्गोत्रे वा वर्तमानस्तदभिमानग्रहग्रस्तो मौनीन्द्रपदे न वर्तते, यश्च माननं-पूजनं सत्कारस्तेनार्थः-प्रयोजनं तेन माननार्थेन विविधमुत्कर्षयेदात्मानं, यो हि माननार्थेन-लाभपूजासत्कारादिना मदं कुर्यान्नासौ सर्वज्ञपदे विद्यत इति पूर्वेण संबन्धः, तथा वसु-द्रव्यं तच्चेह संयमस्तमादाय तथाऽन्यतरेण ज्ञानादिना मदस्थानेन परमार्थमबुध्यमानो माद्यति पठन्नपि सर्वशास्त्राणि तदर्थं वावगच्छन्नपि नासौ सर्वज्ञमतं परमार्थतो जानातीति ॥९॥

टीकार्थ—जो कूट यानी पाशवन्धनके तुल्य है उसे कूट कहते है । जैसे मृग आदि पशु पाशवन्धनसें बॅधकर परवश हो जाता है और एकान्त दु खका भाजन होता है इसीतरह पूर्वोक्त अभिमानी साधु भी स्नेहरूप भावकूटमे फॅसकर संसारमे भ्रमण करता है अथवा वह संसारमे लीन हो जाता है वह अनेक प्रकारसे वार वार संसारमें भ्रमण करता है। तु शब्दसे यह वताया जाता है कि—यह काम आदिसे अथवा मोहसे मोहित होकर वहुत वेदनावाले संसारमें लीन होता है । जो पुरुष पूर्वोक्तरूपसे अभिमानी है वह सयममे या सर्वज्ञ प्रणीत मार्गमें स्थित नही है । अब सर्वज्ञमतका विशेषण वताते है—जो सत्य अर्थको वताकर वाणीकी रक्षा करता है उसे गोत्र कहते है । वह सर्वज्ञमत गोत्र है यानी वह समस्त आगमोंका आधारभूत है । अथवा जो उच्च गोत्रमे उत्पन्न होकर उसका अभिमान करता है वह सर्वज्ञके मार्गमे स्थित नहीं है । तथा जो पुरुष मान यानी पूजा सत्कार पाकर खूब गर्व करता है वह भी सर्वज्ञके मार्गमें स्थित नही है । एवं जो पुरुष सयम लेकर भी ज्ञान आदि मदस्थानोका मद करता है वह परमार्थको नहीं जानता है वह सब शास्त्रोंको पढकर तथा उसका अर्थ समझकर भी वस्तुत. सर्वज्ञ मतको नहीं जानता है । ९

भावार्थ–जो अपनेको संयमी ज्ञानवान् और तपस्वी मानता हुआ अपनी वडाई करता है और दूसरेको जलमें पडेहुए चन्द्रबिम्बके समान निरर्थक देखता है वह अभिमानी जीव अविवेकी है।

प्रायस्तपस्विनां ज्ञानतपोऽवलेपो भवतीत्यतस्तमधिकृत्याह-यश्चापि कश्चिल्लघुप्रकृतिरल्पतयाऽऽत्मानं वसु-द्रव्यं तच्च परमार्थचिन्तायां संयमस्तद्वन्तमात्मानं मत्वाऽहमेवात्र संयमवान् मूलोत्तरगुणानां सम्यग्विधायी नापरः कश्चिन्मत्तुल्योऽस्तीति, तथा संख्यायन्ते-परिच्छिद्यन्ते जीवादय पदार्था येन तज्ज्ञानं संख्येत्युच्यते तद्वन्तमात्मान मत्वा तथा सम्यक्-परमार्थमपरीक्ष्यात्मोत्कर्षाभिमानीति 'अन्यं जनं' साधुलोकं गृहस्थलोक वा 'बिम्बभूतं' जलचन्द्रवत्तदर्थशून्यं कूटकार्षापणवद्वा लिङ्गमात्रधारिणं पुरुषाकृतिमात्रं वा 'पश्यति' अवमन्यते। तदेवं यद्यन्मदस्थानं जात्यादिकं तत्तदात्मन्येवारोप्यापरमवधूतं पश्यतीति ॥८॥ किञ्चान्यत्—

टीकार्थ–प्राय' तपस्वियोंको ज्ञान और तपका गर्व होता है इसलिये शास्त्रकार इस विषयको लेकर उपदेश करते है–जो हल्की प्रकृतिवाला पुरुष अपनी तुच्छताके कारण अपनेको वसुमान् मानता है, वसुनाम द्रव्यका है वह परमार्थत' संयम है इसलिये वह अपनेको सयमी मानता है और समझता है कि मूल और उत्तम गुणोको अच्छीतरह पालन करनेवाला मै ही हू मेरे समान दूसरा कोई सयमी नही है, तथा जिसके द्वारा जीवादि पदार्थोंका निश्चय किया जाता है उसे संख्या कहते है वह ज्ञान है उससे युक्त भी अपनेको ही मानता हुआ तथा सच्ची बातकी परीक्षा किये विना ही अपनी वडाई करता है तथा यहभी समझता है कि "वारह प्रकारकी तपस्यासे युक्त मै ही हूं मैरे समान दूसरा कोई उत्कृष्ट तपसे शरीरको तपाया हुआ नहीं है" एव ऐसा मानकर जो अपने उत्कर्षका अभिमान रखता हुआ दूसरे साधु अथवा गृहस्थ लोगोंको जलचन्द्रकी तरह तथा नकली सिक्केकी तरह अर्थरहित केवल लिङ्ग मात्रको धारण करनेवाला अथवा पुरुषके आकार मात्र देखता है तथा जो जो जाति आदि मदके स्थान है उन सवोंको अपनेमें ही आरोप करके दूसरेको तिरस्कार दृष्टि से देखता है। ९

एगंतकूडेण उ से पलेइ, ण विज्जती मोणपयंसि गोत्ते।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसु न्नतरेण अबुज्झमाणे ॥९॥

छाया–एकान्तकूटेन तु स पर्य्येति, न विद्यते मौनपदे गोत्रे।
यो मननार्थेन व्युत्कर्षयेत् वसुमदन्यतरेणाबुध्यमानः ॥

अन्वयार्थ-(से एगत कुडेण पलेइ) पूर्वोक्त अहङ्कारी साधु एकान्तरूप से मोहमें फँसकर ससारमें भ्रमण करता है। (मोणपयसि गोत्तेण विज्जति) तथा वह समस्त आगमोंके आधाररूप सर्वज्ञके मतमें नहीं है। (जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा) तथा जो मानपूजा आदिको पाकर मद करता है

जे ाहणो रियजा ए वा, हुग्गपुत्ते ह लेच्छ ई वा।
जे पव्वईए परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति (थंभभि) ाणबद्धे॥१०

छाया—यो ब्राह्मणः क्षत्रियजातको वा, तथोग्रपुत्रस्तथा लेच्छको वा।
यः प्रव्रजितः परदत्तभोजी गोत्रे न यः स्तभ्नात्यभिमानबद्धे।

अन्वयार्थ-(जे माहणो) जो ब्राह्मण है (खत्तिय जायएवा) तथा जो क्षत्रियजाति है (तहुग्ग-पुत्ते) तथा जो उग्रपुत्र है (तह लेच्छई वा) एव जो लेच्छक यानी क्षत्रिय विशेष है (जे पव्वईए परदत्तभोई) जो दीक्षा लेकर दूसरेका दिया हुआ आहार खाता है (जे अभिमाणबद्धे गोत्ते ण थब्भति) जो अभिमानयुक्त होकर गोत्रका गर्व नहीं करता है (वही सच्चा साधु है)

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र अथवा म्लेच्छ जातिवाला जो पुरुष दीक्षा लेकर दूसरेका दिया हुआ आहार खाता है और अपने उच्च गोत्रका अभिमान नही करता है वही पुरुष सर्वज्ञके मार्गका अनुगामी है।

सर्वेषां मदस्थानानामुत्पत्तेरारभ्य जातिमदो बाह्यनिमित्तनिरपेक्षो यतो भव-त्यस्तमधिकृत्याह-यो हि जात्या ब्राह्मणो भवति क्षत्रियो वा-इक्ष्वाकुवंशादिकः, तद्भेदमेव दर्शयति-'उग्रपुत्रः' क्षत्रियविशेषजातीयः तथा 'लेच्छइ'त्ति क्षत्रियविशेष एव, तदेवमादिविशिष्टकुलोद्भूतो यथावस्थितसंसारस्वभाववेदितया यः ' जितः' त्यक्तराज्यादिगृहपाशबन्धनः परैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी-सम्यक्संयमानु-ष्ठायी 'गोत्रे' उच्चैर्गोत्रे हरिवंशस्थानीये समुत्पन्नोऽपि नैव 'स्तम्भं' गर्वमुपेयादिति, किंभूते गोत्रे ?-'अभिमानबद्धे' अभिमानास्पदे इति, एतदुक्तं भवति-विशिष्टजाती-यतया सर्वलोकाभिमान्योऽपि जितः सन् कृतशिरस्तुण्डमुण्डनो भिक्षार्थं परगृ-हाण्यटन् कथं ह ास्पदं कुर्यात् ?, नैवासौ मानं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः॥१०॥

टीकार्थ—मदके जितने स्थान है सभीमें जातिमद प्रधान है क्योकि वह जन्म लेनेमात्रसे होता है और दूसरे किसी बाह्य कारणकी अपेक्षा नहीं करता है इसलिये शास्त्रकार उसीके विषयमें उपदेश करते है जो पुरुष ब्राह्मण जातिमे उत्पन्न है अथवा इक्ष्वाकुवंश आदि क्षत्रिय जातिमें जन्मा है तथा जो उग्रनामक क्षत्रिय विशेष जातिमें पैदा हुआ है एव जो म्लेच्छ नामक क्षत्रियोंकी विशेष जातिमे जन्म लिया है इसप्रकार विशिष्ट जातिमे उत्पन्न होकर जो संसारके यथार्थ स्वभावको जानकर राज्य आदि पाशवन्धनको जानकर राज्य आदि पाशवन्धनको छोडकर दीक्षाधारी हो गया है और दूसरेका दिया हुआ आहार आदि भोगता है वह शुद्ध संयमको पालन करनेवाला पुरुष हरिवंशके समान उच्चकुलमे उत्पन्न होकरभी अभिमानके स्थान रूप गोत्रका मद न करे। आशय यह है कि—जो पुरुष विशिष्टकुलमे उत्पन्न होनेके कारण सब लोगोंका माननीय है वह दीक्षा लेकर भिक्षाके लिये दूसरेके घरोमें जाता हुआ किस प्रकार हास्यका स्थान गर्व कर सकता है? उसे कदापि गर्व न करना चाहिये यह तात्पर्य्यार्थ है। १०

तस्स जाई व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं।
णिक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मं, ण से पारए होइ विमोयणाए॥

छाया—न तस्य जातिश्च कुलं न त्राणं, नाऽन्यत्र विद्याचरणं सुचीर्णम्।
निष्क्रम्य स सेवतेऽगारिकर्म, न स पारगो भवति विमोचनाय॥

अन्वयार्थ-(तस्स जाई व कुलंव ताण न) जाति आदिका मद करनेवाले पुरुषकी जाति या कुल उसकी रक्षा नहीं करता है (णण्णत्थ विज्जाचरण सुचिण्ण) अच्छी तरह सेवन किया हुआ ज्ञान और चारित्रके सिवाय कोईभी पदार्थ जीवकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। (णिक्खम्म से सेवइ अगारिकम्म) जो प्रव्रज्या लेकर भी फिर गृहस्थ कर्मका सेवन करता है (से विमोयणाए ण पारए होइ) वह अपने कर्मोंको क्षपण करनेके लिये समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ—जाति और कुल मनुष्यको दुर्गतिसे नही बॅचा सकते। वस्तुत· अच्छीतरह सेवन किये हुए ज्ञान और चारित्रके सिवाय दूसरी कोई वस्तु भी मनुष्यको दु खसे नहीं बॅचाती है। जो मनुष्य प्रवज्या लेकर भी फिर गृहस्थके कर्मोका सेवन करता है वह अपने कर्मोंको क्षपण करनेमें समर्थ नहीं होता है।

न चासौ मानः क्रियमाणो गुणायेति दर्शयितुमाह—न हि 'तस्य' लघुप्रकृते-रभिमानोद्धुरस्य जातिमदः कुलमदो वा क्रियमाणः संसारे पर्यटतस्त्राणं भवति, न ह्यभिमानो जात्यादिक ऐहिकामुष्मिकगुणयोरुपकारीति, इह च मातृसमुत्था जाति पितृसमुत्थं कुलम्, एतच्चोपलक्षणम्, अन्यदपि मदस्थानं न संसारत्राणा-येति, यत्पुनः संसारोत्तारकत्वेन त्राणसमर्थं तद्दर्शयति—ज्ञानं च चरणं च ज्ञानचरणं तस्मादन्यत्र संसारोत्तारणत्राणाशा न विद्यते, एतच्च सम्यक्त्वोपबृंहितं सत् सुष्ठु चीर्णं संसारादुत्तारयति, 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष' इति वचनात्, एवंभूते सत्यपि मोक्षमार्गे 'निष्क्रम्यापि' प्रव्रज्या गृहीत्वापि कश्चिदपुष्टधर्मा संसारोन्मुखः 'सेवते'

टीकार्थ—जाति आदिका मान करना किसी गुणके लिये नहीं होता है यह शास्त्रकार बताते हैं—जो तुच्छ प्रकृतिवाला पुरुष अभिमानसे उद्धत होता है उसका जातिमद या कुलमद संसारमें भ्रमण करनेसे रक्षा नहीं करते है। जाति आदिका अभिमान इस लोकमें या परलोकमें कोई उपकार नहीं करता है। यहाँ मातासे उत्पन्न होनेवाली जाति है और पितासे उत्पन्न कुल है। यह जाति और कुल उपलक्षण है इसलिये दूसरे भी मदके स्थान संसार से रक्षा करनेमे समर्थ नहीं है यह जानना चाहिये। संसारसे रक्षा करनेमे जो वस्तु समर्थ है उसे शास्त्रकार दिखाते है—ज्ञान और चारित्र ससारसे रक्षा करते है इनसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुसे संसारके पार करनेकी आशा नहीं है। ज्ञान और चारित्र, सम्यक्त्वसे युक्त होकर अच्छीतरह सेवन किये हुए संसारसे पार करते है क्योंकि ज्ञान और क्रियासे मोक्ष होता है यह वचन है। ऐसा होनेपर भी

अनुतिष्ठत्यभ्यस्यति पौनःपुन्येन विधत्ते अगारिणां-गृहस्थानामङ्गं-कारणं जात्यादिक मदस्थान, पाठान्तरं वा 'अगारिकम्म'त्ति ,अगारिणां कर्म अनुष्ठानं सावद्यमारम्भं जातिमदादिकं वा सेवते, न चासावगारिकर्मणां सेवकोऽशेषकर्ममोचनाय पारगो भवति, निःशेषकर्मक्षयकारी न भवतीति भावः। देशमोचना तु प्रायशः सर्वेषा-मेवासुमतां प्रतिक्षणमुपजायत इति ॥११॥

कोई धर्महीन और संसारभ्रमण करनेमे तत्पर पुरुष दीक्षा लेकरभी गृहस्थोके कार्य्य जाति आदि मदोको लेकर वार वार अभिमान करते हैं। अथवा पाठान्तरके अनुसार वे सावद्य कर्मका अनु-ष्ठान अथवा जातिमद आदिका सेवन करनेवाला पुरुष अपने समस्त कर्मोका क्षय करनेके लियेसमर्थ नही होता है। देशसे कर्मोका क्षय तो प्रायः सभी प्राणियोको प्रतिक्षण होता रहता है। ११

णिक्किचणे भिक्खु सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सलोगगामी।
आजीवमेयं अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥१२॥

छाया-निष्किञ्चनो भिक्षुः सुरूक्षजीवी यो गौरवो भवति श्लोककामी।
आजीवमेतत्त्वबुध्यमानः पुनः पुनो विपर्यासमुपैति॥

अन्वयार्थ-(जे भिक्खू णिक्किचणे) जो निष्किचन यानी पैसा आदि नहीं रखता है और भीखसे पेट भरता है (सुलूहजीवी) जो सूखा आहार खाकर जीता है (जे गारव स लोगगामी होइ) परन्तु वह यदि अभिमान करता है अथवा अपनी स्तुतिकी इच्छा रखता है (आजीव मेयंतु अबुज्झमाणे) तो उसके ये गुण उसकी जीविकाके साधन है और वह अज्ञानी है (पुणो पुणो विप्परियासुवेंति) वह वार वार ससारमे जन्म मरण आदि दु खोको भोगता है।

भावार्थ-जो पुरुष द्रव्य आदि न रखता हुआ भिक्षासे पेट भरता है और रूखा सूखा आहार खाकर जीता है परन्तु वह यदि अभिमान करता है और अपनी स्तुतिकी इच्छा करता है तो उसके ये पूर्वोक्त गुण उसकी जीविकाके साधन है और वह अज्ञानी वार वार जन्म जरा और मरण आदि दु खोंको भोगता है।

पुनरप्यभिमानदोषाविर्भावनायाह-बाह्येनार्थेन निष्किञ्चनोऽपि भिक्षणशीलो भिक्षुः-परदत्तभोजी तथा सुष्ठु रूक्षम्-अन्तप्रान्त वल्लचणकादि तेन जीवितुं-प्राणधारणं कर्तुं शीलमस्य स सुरूक्षजीवी, एवंभूतोऽपि यः कश्चिद्गौरवप्रियो भवति तथा 'श्लोककामी' आत्मश्लाघाभिलाषी भवति, स चैवंभूतः परमार्थम-

टीकार्थ-फिर शास्त्रकार अभिमानके दोषको बतानेके लिये कहते है-जो पुरुष बाह्य पदार्थ कुछभी नहा रखता है और भिक्षासे उदर पोषण करता है, वह दूसरेका दिया हुआ आहार खाता है तथा रूखा सखा चना आदि तथा अन्तप्रान्त आहार खाकर प्राणधारण करता है वह यदि अभिमान करता है तथा अपनी स्तुतिकी इच्छा करता है तो वह परमार्थको नहीं समझता है।

बुध्यमान एतदेवाकिञ्चनत्वं सुरूक्षजीवित्वं वाऽऽत्मश्लाघातत्परतया आजीवम्-आजीविकामात्मवर्तनोपायं कुर्वाणः पुनः पुनः संसारकान्तारे विपर्यासं-जातिजरा-मरणरोगशोकोपद्रवमुपैति-गच्छति, तदुत्तरणायाभ्युद्यतो वा तत्रैव निमज्जतीत्ययं विपर्यास इति ॥१२॥ यस्मादमी दोषाः समाधिमाख्यातमसेवमानानामाचार्यपरिभाषिणां वा तस्मादमीभिः शिष्यगुणैर्भाव्यमित्याह—

क्योंकि—अपनी स्तुतिकी इच्छा करनेके कारण यही उसका निष्किञ्चन होना और रूखा सूखा आहार खाकर रहना उसकी जीविकाके साधन हो जाते हैं इसलिये वह पुरुष इस संसाररूपी गहन वनमें वार वार जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक आदि उपद्रवोंको प्राप्त करता है। वह संसारको पार करनेके लिये तत्पर होकर भी उसीमें डूब जाता है यह उल्टी बात होती है। १२

जे भासवं भिक्खु सुसाहुवादी, पडिहाणवं होइ विसरए य।
आगाढपण्णे सुविभावियप्पा, अन्नं जणं पन्नया परिहवेज्जा॥१३॥

छाया—योभाषावान् भिक्षुः सुसाधुवादी, प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च।
आगाढप्रज्ञः सुविभावितात्माऽन्यंजनं प्रज्ञयाऽभिभवेत् ॥

अन्वयार्थ—(जे भिक्खू भासव सुसाहुवादी) जो साधु अच्छीतरह भाषाको जाननेवाला और मधुरभाषी है। (पडिहाणव विसारएय होइ) तथा अच्छी प्रतिभावाला और विशारद यानी बहुत प्रकारका अर्थ कहनेमें समर्थ है (आगाढपण्णे तथा गये तत्वमें जिसकी बुद्धि प्रवेश की हुई है (सुविभाविअप्पा) एव धर्मकी वासनासे जिसका हृदय वासित है वही साधु है। परन्तु जो (अन्नं जण पण्णया पडिहवेज्जा) इन्ही गुणोंका अभिमान रखकर दूसरेका तिरस्कार करता है वह साधु नहीं है।

भावार्थ—जो साधु अच्छीतरह भाषाके गुण और दोषोंको जानता है तथा मधुरभाषी बुद्धिमान् और शास्त्रके अर्थ करनेमें तथा श्रोताके अभिप्राय जाननेमें निपुण है एवं सत्य तत्वमें जिसकी बुद्धि प्रवेशकी हुई है और हृदय धर्मकी वासनासे वासित है वही सच्चा साधु है। परन्तु इतने गुणोंसे युक्त होकर भी जो इन गुणोंके मदसे दूसरे पुरुषका तिरस्कार करता है वह विवेकी नहीं है।

भाषागुणदोषज्ञतया शोभनभाषायुक्तो भाषावान् 'भिक्षुः' साधुः, तथा सुष्ठु साधु-शोभनं हित मित प्रियं वदितुं शीलमस्येत्यसौ सुसाधुवादी, क्षीरमध्वाश्रववादीत्यर्थः तथा प्रतिभा प्रतिभानम्-औत्पत्तिक्यादिबुद्धिगुणसमन्वितत्वेनोत्पन्नप्रतिभत्वं तत्प्रतिभानं विद्यते यस्यासौ प्रतिभानवान्-अपरेणाक्षिप्तस्तदनन्तरमेवो-

टीकार्थ—भाषाके गुण और दोषोंको जाननेके कारण जो पुरुष अच्छी भाषासे युक्त है तथा सुन्दर हितकारक परिमित और मिष्ट भाषण करता है अर्थात् दूध और मधुकी तरह मिष्ट बोलता है तथा औत्पातिकी आदि बुद्धिमें जो युक्त है अर्थात् जो दूसरेसे किये हुए आक्षेपका झटपट उत्तर देता है अथवा जो धर्मकथा कहनेके समय "यह पुरुष कौन है ? यह किस देवताका

त्तरदानसमर्थ यदिवा धर्मकथावसरे कोऽयं पुरुष कं च देवताविशेषं : कतरद्वा दर्शनमाश्रित इत्येवमासन्नप्रतिभ । (ऽवेत्य) यथायो चष्टे, तथा 'विशारदः' अर्थग्रहणसमर्थो बहुप्रकारार्थकथनसमर्थो वा, चशब्दाच्च श्रोत्रभिप्रायज्ञः, तथा आगाढा-अवगाढा परमार्थपर्यवसिता तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा-बुद्धिर्यस्यासावागाढप्रज्ञः, तथा सुष्ठु विविधं भावितो-धर्मवासनया वासित आत्मा यस्यासौ सुविभावितात्मा, तदेवमेभिः सत्यभाषादिभिर्गुणैः शोभनः साधुर्भवति, यश्चैभिरेव निर्जराहेतुभूतैरपि मदं कुर्यात्, तद्यथा-अहमेव भाषाविधिज्ञस्तथा साधुवाग्यहमेव च न मत्तुल्यः प्रतिभानवानस्ति नापि च म नोऽलौकिकः लोकोत्तरशास्त्रार्थविशारदोऽवगाढप्रज्ञः सुभावितात्मेति च, ए त्मोत्कर्षवानन्यं जनं स्वकीयया प्रज्ञया 'परिभवेत्' अवमन्येत, तथाहि-किमनेन वाक्कुण्ठेन दुर्दुरूढेन कुण्डिकाकार्पा ल्पेन खसूचिना कार्यमस्ति ? क्वचित्सभायां धर्मकथावसरे वेति, एवमात्मोत्कर्षवान् भवति, तथा चोक्तम्-"अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय । कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण ॥१॥" इत्यादि ॥१३॥

उपासक और किस दर्शनको माननेवाला है" इत्यादि बातोको अपनी चमत्कारवाली बुद्धिसे जानकर यथायोग्य उपदेश करता है तथा जो पदार्थोको समझनेमें समर्थ है अथवा जो बहुत प्रकार से शास्त्रकी व्याख्या करनेमें प्रवीण है और च शब्दसे जो श्रोताके अभिप्रायको जाननेमें निपुण है एवं सत्य तत्त्वमें जिसकी बुद्धि गडी हुई है तथा धर्मकी वासनासे जिसका हृदय वासित है वह पुरुष इनगुणोके कारण उत्तम साधु है । परन्तु जो पुरुष निर्जराके कारणरूप इन्हीं गुणोके कारण अभिमान करता है, जैसेकि-"मैही भाषाकी विधिको जानता हूं तथा मैही अच्छा वक्ता हूं एव मेरे समान कोई प्रतिभावाला नही है तथा मेरे समान लोकोत्तर शास्त्रके अर्थ करनेमें कोई प्रवीण नहीं है तथा मेरी ही बुद्धि सत्य तत्त्वमें प्रविष्ट है और मेर समान किसीका भी मन धर्मकी वासनासे वासित नहीं है" इसप्रकार अभिमान करता हुआ जो अपनी बुद्धिके मदसे दूसरेका अपमान करता है, जैसेकि-वह समझता है कि-किसी सभामें अथवा धर्मकथाके समय इस कुण्ठितवाणी वाले दुर्दुरुट (मूर्ख) घडेमे भरेहुए कपासके समान साररहित तथा आकाशको देखनेवाले पुरुषकी क्या आवश्यकता है । इसप्रकार वह अपनेको श्रेष्ठ मानता है अतएव कहा है कि-दूसरोके द्वारा इच्छानुसार बनाये हुए थोडे विषयोको परिश्रमसे जानकर अभिमानी पुरुष समझता है कि सब शास्त्र इतना ही है और अभिमानसे दूसरेके अङ्गोको खाता है । १३

एवं ण से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खु विउ सेज्जा ।
अहवाऽवि जे लाभमयावलित्ते, अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ॥१४॥

छाया-एवं न स भवति समाधिप्राप्तः, यः प्रज्ञावान् भिक्षु र्व्युत्कर्षेत् ।
अथवाऽपि यो लाभमदावलिप्तः अन्य जनं निन्दति बालप्रज्ञः ॥

अन्वयार्थ-(जे एवं भिक्खू विउक्कसेज्जा) जो साधु बुद्धिमान होकर गर्व करता है (अहवावि जे लाभमयावलित्ते) अथवा जो अपने लाभके मदसे मत्त होकर (अन्न जन खिसति) दूसरे जनकी निन्दा करता है (से बालपन्ने समाहिपत्ते न होइ) वह मूर्ख समाधिको प्राप्त नहीं करता है।

भावार्थ-जो साधु बुद्धिमान् होकर भी अपनी बुद्धिका गर्व करता है अथवा जो लाभके मदसे मत्त होकर दूसरेकी निन्दा करता है वह मूर्ख समाधिको नहीं प्राप्त करता है।

साम्प्रतमेतद्दोषाभिधित्सयाऽऽह-'एवम्' अनन्तरोक्तया प्रक्रियया परपरिभवपुरःसरमात्मोत्कर्षं कुर्वन्नशेषशास्त्रार्थविशारदोऽपि तत्त्वार्थावगाढप्रज्ञोऽप्यसौ 'समाधिं' मोक्षमार्गं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं धर्मध्यानाख्यं वा न प्राप्तो भवति, उपर्येवासौ परमार्थोदन्वतः प्लवते, क एवंभूतो भवतीति दर्शयति-यो ह्यविदितपरमार्थतयाऽऽत्मानं सच्छेमुषीकं मन्यमानः स्वप्रज्ञया भिक्षुः 'उत्कर्षेद्' गर्वं कुर्यात्, नासौ समाधिं प्राप्तो भवतीति प्राक्तनेन संबन्ध, अन्यदपि मदस्थानमुद्घट्टयति-'अथवे'ति पक्षान्तरे, यो ह्यल्पान्तरायो लब्धिमानात्मकृते परस्मै चोपकरणादिकमुत्पादयितुमलं स लघुप्रकृतितया लाभमदावलिप्तो भवति, तदवलिप्तश्च समाधिमप्राप्तो भवति, स चैवंभूतोऽन्यं जनं कर्मोदयादलब्धिमन्तं 'खिसइ'त्ति निन्दति परिभवति, वक्ति च-न मत्तुल्यः सर्वसाधारणशय्यासंस्तारकाद्युपकरणोत्पादको विद्यते, किमन्यैः स्वोदरभरणव्यग्रतया काकप्रायैः कृत्यमस्तीत्येवं 'बालप्रज्ञो' मूर्खप्रायोऽपरजनापवादं विदध्यादिति ॥१४॥

टीकार्थ-अब शास्त्रकार पूर्वोक्त दोषका फल बताते हैं-जो पुरुष पूर्वोक्त रीतिसे दूसरेका तिरस्कार करके अपनी बडाई करता है वह समस्त शास्त्रोंके अर्थ ज्ञानमें निपुण तथा तत्त्व अर्थमें निष्ठित बुद्धिवाला होकर भी ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप मोक्षमार्गको अथवा धर्मध्यानको नही प्राप्त करता है। वह परमार्थरूपी सागरके ऊपर ऊपर तैरता है परन्तु अन्दरमे प्रविष्ट नही है। वह पुरुष कौन है? सो शास्त्रकार दिखाते है-जो पुरुष परमार्थ (सत्यतत्त्व) को न जानता हुआ भी अपनेको उत्तम बुद्धि सम्पन्न मानकर अपनी बुद्धिका गर्व करता है वह समाधिको प्राप्त नहीं करता है यह पहली गाथासे सम्बन्ध मिला लेना चाहिये। अब शास्त्रकार दूसरा मदका स्थान बताते है-'अथवा' शब्द पक्षान्तर यानी दूसरे पक्ष अर्थमें आया है। जिस पुरुषका लाभान्तराय कम है और लाभवाला है वह अपने तथा दूसरेके लिये उपकरण आदि उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है परन्तु वह यदि हल्की प्रकृतिका हो तो वह अपने लाभका गर्व करता है इसप्रकार वह मदके कारण समाधिको प्राप्त नहीं करसकता है। वह पुरुष, कर्मके उदयसे जिसको लाभ नहीं होता है ऐसे दूसरे पुरुषकी निन्दा करता है तथा उसका अनादर करता है। वह कहता है कि-मेरे समान सबके लिये शय्या और संथारा आदिको उत्पन्न करनेवाला कोई भी नहीं है दूसरे तो कौए की तरह अपना ही पेट भरने मे व्यग्र रहते है, अतः इनकी क्या आवश्यकता है? । इसप्रकार मूर्ख पुरुष दूसरेका तिरस्कार करता है। १४

पन्ना यं चेव वोमयं च, णि । ए गोयम ं च भिक्खू ।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उ मपोग्गले से ॥१५॥

छाया–प्रज्ञामदश्चैव तपोमदश्च, निर्नामयेद् गोत्रमदश्च भिक्षुः ।
आजीवगश्चैव चतुर्थमाहुः स पण्डित उत्तमपुद्गलः स ॥

अन्वयार्थ–(भिक्खू पन्नामय चेव तवोमय च) साधु बुद्धिके गर्वको तथा तपके मदको (गोय-मयं च) एव गोत्रके मदको (चउत्थं आजीवग चेव) तथा चौथे आजीविकाके मदको (णिन्नामए) त्याग देवे । (से पंडिए से उत्तमपोग्गले) जो ऐसा करता है वही पण्डित है और वही सबसे प्रधान है ।

भावार्थ–साधु, बुद्धिमद, तपोमद, गोत्रमद और आजीविकाका मद न करे । जो ऐसा करता है वही पण्डित है तथा वही सबसे श्रेष्ठ है ।

तदेवं प्रज्ञामदावलेपादन्यस्मिन् जने निन्द्यमाने बालसदृशैर्भूयते यतोऽतः प्रज्ञामदो न विधेयो, न केवलमयमेव न विधेयः अन्यदपि मदस्थानं संसारजिहीर्षुणा न विधेयमिति तद्दर्शयितुमाह–प्रज्ञया–तीक्ष्णबुद्ध्या मदः प्रज्ञामदस्तं च, तपोमदं च निश्चयेन नामयेन्निर्नामयेद्–अपनयेद्, अहमेव यथाविधशास्त्रार्थस्य वेत्ता तथा-ऽहमेव विकृष्टतपोविधायी नापि च तपसो ग्लानिमुपगच्छामीत्येवंरूपं मदं न कुर्यात्, तथा उच्चैर्गोत्रे इक्ष्वाकुवंशहरिवंशादिके संभूतोऽहमित्येवमात्मकं गोत्रमदं च नामयेदिति । आ–समन्ताज्जीवन्त्यनेनेत्याजीवः–अर्थनिचयस्तं गच्छति–आश्रय-त्यसावाजीवगः–अर्थमदस्तं च चतुर्थं नामयेत्, चशब्दाच्छेषानपि मदान्नामयेत्, तन्नामनाच्चासौ 'पण्डितः' तत्त्ववेत्ता भवति, तथाऽसावेव समस्तमदापनोदक उ : पुद्गल–आत्मा भवति, प्रधानवाची वा पुद्गलशब्दः, ततश्चायमर्थः–उत्तमोत्तमो-महतोऽपि महीयान् भवतीत्यर्थः ॥१५॥

टीकार्थ–जो पुरुष बुद्धिके मदसे दूसरेकी निन्दा करता है वह बालकके समान अज्ञानी है इसलिये साधु बुद्धिका गर्व न करे । केवल बुद्धिका मद ही नहीं किन्तु संसारको पार करने की इच्छावाला पुरुष दूसरे मदोंको भी न करे यही शास्त्रकार दिखाते है–बुद्धिकी तीक्ष्णताके मदको प्रज्ञामद कहते है उसे साधु न करे तथा तपके मदको भी साधु निश्चय हटा देवे, अर्थात् " मै ही शास्त्रके यथार्थ अर्थको जानता हूं तथा मैं ही उत्कृष्ट तपस्या करनेवाला हूं, एव मै ही तपसे ग्लानिको प्राप्त नहीं होता" इस प्रकार साधुको मद न करना चाहिये । तथा "मै इक्ष्वाकु और हरिवंश आदि उच्च गोत्रमे उत्पन्न हुआ हूं" इस प्रकार गोत्र मद भी न करे । जिसके द्वारा प्राणी जीते है उसे 'आजीव' कहते है वह अर्थसमूह है उसका मद भी साधु न करे । च शब्दसे शेप मदोको भी साधु त्याग करे । मदोंके त्याग करनेसे ही पुरुप पण्डित यानी तत्त्वज्ञानी होता है वही उत्तम आत्मावाला है । यहां पुद्गल शब्द प्रधान अर्थमें आया है इसलिये इसका अर्थ यह है कि वही पुरुष उत्तमसे भी उत्तम यानी बडासे भी बडा होता है । १५

भिक्खू मुयच्चे तह दिट्ठधम्मे, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा।
से एसणं जाणमणेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥१७॥

छाया–भिक्षुर्मुदर्चस्तथा दृष्टधर्मा, ग्रामञ्च नगरञ्चानुप्रविश्य ।
स एषणां जानन्ननेषणाञ्च, अन्नस्य पानस्यानुनुगृद्धः ॥

अन्वयार्थ-(मुयच्चे तह दिट्ठधम्मे भिक्खू) उत्तम लेश्यावाला तथा धर्मको देखा हुआ साधु (गाम च णगर च अणुपविस्सा) भिक्षाके लिये ग्राममें और नगरमें प्रवेश करके (से एसण जाण अणेसण च) वह एषणाको तथा अनेषणाको जानता हुआ (अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे) अन्न और पानमें गृद्ध न होता हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करे ।

भावार्थ–उत्तम लेश्यावाला तथा धर्मको देखा हुआ साधु भिक्षाके लिये ग्राम या नगरमें प्रवेश करके एषणा और अनेषणाका विचार रखकर अन्न और पानमें गृद्धिरहित होकर शुद्ध भिक्षा लेवे ।

स एवं मदस्थानरहितो भिक्षणशीलो भिक्षुः, तं विशिनष्टि-मृतेव स्नानविलेपनादिसंस्काराभावादर्चा-तनुः शरीरं यस्य स मृतार्चः यदिवा मोदनं मुत् तद्भूता शोभनाऽर्चा-पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदर्चः-प्रशस्तलेश्यः, तथा दृष्टः-अवगतो यथावस्थितो धर्मः-श्रुतचारित्राख्यो येन स तथा, स चैवंभूतः क्वचिदवसरे ग्रामं नगरमन्यद्वा मडम्बादिकमनुप्रविश्य भिक्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहननोपपन्नः सन्नेषणां-गवेषणग्रहणैषणादिकां 'जानन्' सम्यगवगच्छन्ननेषणां च-उद्गमदोषादिकां तत्परिहारं विपाकं च सम्यगवगच्छन् अन्नस्य पानस्य वा 'अननुगृद्धः' अनध्युपपन्नः सम्यग्विहरेत्, तथाहि-स्थविरकल्पिका द्विचत्वारिंशद्दोषरहितां भिक्षां गृह्णीयुः; जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रहो द्वयोर्ग्रहः, ताश्चेमाः-[1]"संसट्ठमसंसट्ठा

टीकार्थ–पूर्वोक्त प्रकारसे मदस्थानोंसे रहित तथा भिक्षासे शरीरका निर्वाह करनेवाला साधु होता है । उसका विशेषण बताते है–जो मरे हुए की तरह स्नान और विलेपन आदि शरीरका संस्कार नही करता है उसे मृतार्च कहते है अथवा सुन्दर अर्चा यानी पद्मादि लेश्या जिसकी है उसे मुदर्च कहते है अर्थात् साधु मृत शरीरकी तरह अपने शरीरका स्नान विलेपन आदि सस्कार नहीं करता है अथवा वह प्रशस्त लेश्यावाला होता है तथा श्रुत और चारित्र रूप धर्मको वह ठीक ठीक जानता है वह किसी समय भिक्षाके लिये ग्राम नगर और मडम्ब आदिमे प्रवेश करके उत्तम धृति और सहननसे युक्त होकर गवेषणा और ग्रहणैषणा आदिको अच्छीतरह जानता हुआ तथा उद्गम आदि दोष और उनके त्याग तथा ग्रहणका फल जानता हुआ अन्न और पानमे गृद्धिरहित होकर शुद्ध आहार ग्रहण करे । स्थविरकल्पी साधु बेयालीस दोषोंसे रहित भिक्षा ग्रहण करे और जिनकल्पी साधु पॉचका अभिग्रह और दोका ग्रहण करे । वह इसप्रकार

१ संसृष्टाऽसंसृष्टा उद्धृता तथा भवत्यल्पलेपा च । उद्गृहीता प्रगृहीता उज्झितधर्मा च सप्तमिका ॥१॥

मप्यश्रुतमित्येवंभावयुक्ततया च मृतकल्पदेहस्य सुदृष्टधर्मेण एषणानेषणाभिज्ञस्या-न्नपानादावमूर्छितस्य :क्वचिद् ग्रामनगरादौ प्रविष्टस्यासंयमे रतिररतिश्च संयमे कदाचित्प्रादुष्ष्यात् सा चापनेतव्येत्येतदाह-महामुनेरप्यस्नानतया म्लानि स्यान्त-प्रान्तवल्लचणकादिभोजिनः कदाचित्कर्मोदयादरतिः संयमे समुत्पद्येत तां चोत्पन्ना-मसौ भिक्षुः संसारस्वभावं परिगणय्य तिर्यङ्नारकादिदुःखं चोत्प्रेक्षमाणः स्वल्पं च संसारिणामायुरित्येवं विचिन्त्याभिभवेद्, अभिभूय चासावेकान्तमौनेन व्या-गृणीयादित्युत्तरेण संबन्धः, तथा रतिं च 'असंयमे' सावद्यानुष्ठाने अनादिभवा-भ्यासादुत्पन्नामभिभवेदभिभूय च संयमोद्युक्तो भवेदिति। पुनः साधुमेव विशिनष्टि-बहवो जनाः-साधवो गच्छवासितया संयमसहाया यस्य स बहुजनः, तथैक चरति तच्छीलश्चैकचारी, स च प्रतिमाप्रतिपन्न एकल्लविहारी जि कल्पादिर्वा स्यात्, स च बहुजन एकाकी वा केनचित्पृष्टोऽपृष्टो वैकान्तमौनेन-संयमेन करणभूतेन व्यागृणीयात् धर्मकथावसरे, अन्यदा संयमाबाधया किञ्चिद्धर्मसंबद्धं ब्रूयात्, किं परिगणय्यैतत्कुर्यादित्याह, यदिवा किमसौ ब्रूयादिति दर्शयति-'एकस्य' असहायस्य जन्तोः शुभाशु हायस्य 'गति' गमनं परलोके भवति, तथा आगतिः-आगमनं भवान्तरादुपजायते कर्मसहायस्यैवेति, उक्तं च-"एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च

मुर्देकी तरह अपने शरीरका संस्कार नहीं करता है एव धर्मका अच्छी तरह ज्ञान रखता है तथा एषणा और अनेषणाके विवेकसे युक्त है और अन्न पान आदिमें मूर्च्छित नही होता है उसको किसी ग्राम या नगरमे प्रवेश करने पर यदि असंयम में रति (प्रेम) और संयममें अरति (अप्रेम) उत्पन्न हो तो वह उसे दूर करे यह शास्त्रकार बताते है—जो पुरुष महामुनि है और स्नान न करनेसे उसका शरीर मलसे भरा हुआ है तथा जो रूखा सूखा अन्नपानी आदि आहार खाकर अपना निर्वाह करता है उसको यदि कर्मके उदयसे संयममे अरति उत्पन्न हो तो वह साधु ससारके स्वभावको जानकर तथा नरक और तिर्य्यञ्च भवके दु खोंको सोचकर एवं संसारी प्राणि-योकी आयु थोडी है यह विचारकर उस अरतिको त्याग देवे और उसे त्यागकर एकान्त संयम युक्त वचन वोले यह आगे के साथ सम्बन्ध करना चाहिये। एवं उस साधुको अनादिकालके अभ्याससे यदि असंयममें अर्थात् सावद्यानुष्ठानमें रति उत्पन्न हो तो उसे भी दबा देवे और उसे दबाकर संयम पालन मे तत्पर हो जाय। फिर शास्त्रकार साधुका विशेषण बताते हैं—गच्छमें रहनेके कारण वहुतसे साधु जिसके सयमके सहायक है ऐसा वह साधु हो अथवा अकेला विचरनेवाला वह प्रतिमाको प्राप्त अथवा जिनकल्पी आदि हो, उससे यदि कोई कुछ पूछे अथवा न पूछे तो वह संयमके साथही धर्मकथाके समय अथवा दूसरे समयमे कुछ कहे आशय यह है कि—जिससे संयममे कोई बाधा न आवे ऐसा धर्मसम्बन्धी ही वात कहे। क्या विचार कर साधु ऐसा करे सो शास्त्रकार बताते है—जीव अकेला ही अपने शुभाशुभ कर्मको लेकर परलोकमें जाता है और वह उसी कर्मको लेकर दूसरे भवसे आता भी है अतएव कहा है कि—प्राणी अकेलाही

तत्फलम् । जायते म्रियते चैक, को याति भवान्तरम् ॥१॥" इत्यादि । तदेवं संसारे परमार्थतो न कश्चित्सहायो धर्ममेकं विहाय, एतद्विगणय्य मुनीनामय मौनः-संयमस्तेन तत्प्रधानं वा ब्रूयादिति ॥१८॥

कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है, वह अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है तथा दूसरे भवमें भी वह अकेला ही जाता है । अतः इस संसारमें धर्मको छोड़कर वस्तुत कोई दूसरी वस्तु सहायक नहीं है यह सोचकर साधु संयमप्रधान वाक्य बोले ।

यं मेच्चा अदुवाऽवि ो ा, भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया णिया प्पओगा, ण ाणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥१९॥

छाया—स्वयं समेत्याऽथवाऽपि श्रुत्वा, भाषेत धर्मं हितकं प्रजानाम् ।
मे गर्हिताः सनिदानप्रयोगाः न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माणः ॥

अन्वयार्थ—(सय समेच्चा) अपने आप धर्मको जानकर (अदुवावि सोच्चा) अथवा दूसरेसे सुनकर (पयाण हियय धम्म भासेज्जा) प्रजाओंके हितकारक धर्मका भाषण करे । (जे गरहिया सणिया णप्पओगा) जो कार्य्य निन्दित है अथवा जो फलकी प्राप्तिके लिये किया जाता है (सुधीरधम्मा ताणि ण सेवंति) धीरपुरुष उसका सेवन नही करते है ।

भावार्थ—धर्मको अपने आप जानकर अथवा दूसरेसे सुनकर प्रजाओंका हितके लिये उपदेश करे तथा जो कार्य्य निन्दित है और जो पूजा लाभ और सत्कार आदि के लिये किया जाता है उसे धीर पुरुष नहीं करते है ।

किञ्चान्यत्-'स्वयम्' आत्मना परोपदेशमन्तरेण 'समेत्य' ज्ञात्वा चतुर्गतिकं ससारं तत्कारणानि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि तथाऽशेषकर्मक्षय-लक्षणं मोक्षं तत्कारणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येतत्सर्वं स्वत एवाववुध्या-न्यस्माद्वाऽऽचार्यादेः सकाशाच्छ्रुत्वाऽन्यस्मै मुमुक्षवे 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं भाषेत, किंभूत ?-प्रजायन्त इति प्रजा -स्थावरजङ्गमा. जन्तवस्तेभ्यो हितं सदुपदेशदानतः सदोपकारिणं धर्मं ब्रूयादिति । उपादेयं प्रदर्श्य हेयं प्रदर्शयति-ये 'गर्हिता' जुगु-

टीकार्थ—दूसरेके उपदेशके विना ही अपने आप समझकर अर्थात् संसार चार गतिवाला है और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग उसके कारण है तथा समस्त कर्मोका क्षय-स्वरूप मोक्ष है और सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र उसके कारण है इन बातोंको अपने आप जानकर अथवा दूसरे आचार्य्य आदिसे सुनकर साधु मोक्षार्थी पुरुषको श्रुत और चारित्र रूप धर्मका भाषण करे । कैसे धर्मका भाषण करे सो कहते हैं—जो जगत्में उत्पन्न होते हैं उन्हें प्रजा कहते है वे स्थावर और जङ्गमरूप प्राणी है उनका जिस सदुपदेश देनेसे हित यानी सदा उपकार हो ऐसा धर्म कहे । ग्रहण करने योग्य विषयको बताकर अब त्याग करने योग्य

ि । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा कर्मबन्धहेतव सह निदानेन वर्तन्त इति सनिदाना प्रयुज्यन्त इति प्रयोगा-व्यापारा धर्मकथाप्रबन्धा वा ममास्मात्सकाशात्किञ्चित् पूजालाभसत्कारादिकं भविष्यतीत्येवंभूतनिदानाऽऽशंसारूपास्तांश्चारित्रविघ्नभूतान् महर्षयः सुधीरधर्माणो 'न सेवन्ते' नानुतिष्ठन्ति । यदिवा ये गर्हिता' सनिदाना वाक्प्रयोगा, था-कुतीर्थिका' सावद्यानुष्ठानरता नि शीला नि कुण्टलवेण्टलकारिण इत्येवभूतान् परदोषोद्घट्टनया मर्मवेधिनः सुधीरधर्माणो वाक्कण्टकान् 'न सेवन्ते' न त इति ॥१९॥

विषयको बताते है-जो वस्तु निन्दित है अर्थात् जो कर्मबन्धके कारण है जैसे कि-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग निन्दित है, इनका सेवन धीर पुरुष नहीं करते है तथा जो धर्मकथा आदि व्यापार निदान के साथ किये जाते है अर्थात् मुझको इससे कुछ पूजा सत्कार आदि प्राप्त होगा इस आशासे किये जाते है वे चारित्रके विघ्नरूप है इसलिये सुधीरधर्मा यानी महर्षि पुरुष उसका सेवन नहीं करते है । अथवा जो वचन निन्दामय है और निदानके सहित है उसे साधु न बोले, जैसे कि-कुतीर्थी, सावद्य अनुष्ठानमें रत रहते है, वे शीलरहित व्रतरहित तथा कुण्टल वेण्टल करनेवाले है इत्यादि दूसरेके दोषको प्रकट करनेवाला तथा दूसरेके मर्मको पीडित करनेवाला कण्टकके समान वचन धीर पुरुष न बोले । १९

केसिंचि त इ अबुज्झ भावं, खुद्दंपि च्छे द्दहाणे ।
आउस्स ालाइयारं वघाए, द्धाणु ाणे परे ट्ठे ॥२०॥

छाया-केषाञ्चित्तर्कयाऽबुद्ध्वा भावं, क्षुद्रत्वमपि गच्छेदश्रद्दधानः ।
आयुषः कालातिचारं व्याघातं, लब्धानुमानः परेष्वर्थान् ॥

अन्वयार्थ-(केसिंचि भाव तक्काइ अबुज्झ) अपनी बुद्धिके द्वारा दूसरेका अभिप्राय न समझकर साधु यदि उपदेश देवे तो (असद्दहाणे खुद्दंपि गच्छेज्ज) वह उस उपदेशमें श्रद्धा न करता हुआ क्रोधको प्राप्त होता है (आउस्स कालाइयारं वघाए) और वह उपदेश देनेवालेकी आयुको भी घटा सकता है अर्थात् उसे मार सकता है (लद्धाणुमाणे परेसु अट्ठे) इस लिये साधु अनुमानसे दूसरेका भाव जानकर पीछे धर्मका उपदेश करे ।

भावार्थ-अपनी बुद्धिसे दूसरेका अभिप्राय न समझकर धर्मका उपदेश करनेसे दूसरा पुरुष श्रद्धा न करता हुआ क्रोधित हो सकता है और क्रोध करके वह साधुका वध भी कर सकता है इसलिये साधु अनुमानसे दूसरेका अभिप्राय समझकर पीछे धर्मका उपदेश करे ।

किञ्चान्यत्-केषाञ्चिन्मिथ्यादृष्टीनां कुतीर्थिकभावितानां स्वदर्शनाऽऽग्रहिणा 'तर्कया' वितर्केण स्वमतिपर्यालोचनेन 'भावम्' अभिप्रायं दुष्टान्तःकरणवृत्तित्वम-

टीकार्थ-कुतीर्थिकोंके उपदेशसे जिनका हृदय वासित है तथा जो अपने दर्शनमें आग्रह रखते है ऐसे मिथ्यादृष्टियों की अन्त करणवृत्ति दुष्ट होती है उसे अपनी बुद्धिके द्वारा समझे

बुद्ध्वा कश्चि धु ो वा धर्मस्थापनेच्छया तीर्थिकतिरस्कारप्रायं वचो ब्रूयात्, स च तीर्थिकस्तद्वच 'अश्रद्दधानः' अरोचयन्नप्रतिपद्यमानोऽतिकटुकं भावयन् 'क्षुद्रत्वमपि गच्छेद्' तद्विरूपमपि कुर्यात्, पालकपुरोहितवत् स्कन्दकाचार्यस्येति। क्षुद्रत्वगमनमेव दर्शयति-स निन्दावचनकुपितो वक्तुर्यदायुस्तस्यायुषो 'व्याघातरूपं' परिक्षेप भावं कालातिचारं-दीर्घस्थितिकमप्यायुः संवर्तयेत्, एतदुक्तं भवति-धर्मदे । हि पुरुषविशेषं ज्ञात्वा विधेया, था-कोऽयं पुरुषो राजादिः? कं च देवताविशेषं :? द्धा दर्शनमाश्रितोऽभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वाऽयमित्येवं क् परिज्ञाय यथार्हं धर्मदेशना विधेया, यश्चैतदबुद्ध्वा किञ्चिद्धर्मदे द्वारेण परविरोधकृद्वचो ब्रूयात् स परस्मादैहिकामुष्मिकयोर्मरणादि - पकारं प्राप्नुयादिति, एव ततो लब्धमनुमानं येन पराभिप्रायपरिज्ञाने स लब्धानुमान 'परेषु' प्रतिपाद्येषु यथायोगं यथार्हप्रतिपत्त्या 'अर्थान्' सद्धर्मप्ररूपणादिकान् जीवादीन् वा परोपकाराय दिति ॥२०॥ अपि च—

विना जो साधु या श्रावक अपने धर्मको स्थापन करनेके लिये कुतीर्थिको का तिरस्कार प्रधान वचन बोलता है उसके वचनमें वह कुतीर्थिक श्रद्धा नहीं करता है किन्तु उसे वह अति कटुक समझता हुआ क्रोधित होता है और वह उस साधुको विरूप भी कर सकता है जैसे पालक पुरोहितने स्कन्दकाचार्य्य को विरूप किया था। तथा वह पुरुष अपने धर्मकी निन्दासे कुपित होकर उस साधुके चिरकाल की आयुका भी विनाश कर सकता है। आशय यह है कि-पुरुष-विशेष को जानकर धर्मका उपदेश करना चाहिये, जैसेकि-यह राजा आदि पुरुष कौन है? तथा यह किस देवताको नमस्कार करनेवाला और किस दर्शनको माननेवाला है तथा इसको किसी मतका आग्रह है या नहीं है यह अच्छीतरह जानकर तब धर्मका उपदेश करना चाहिये। जो पुरुष इन बातोको जाने विना धर्मोपदेशके द्वारा दूसरेका विरोधी वचन बोलता है वह दूसरेके द्वारा मरण आदि अपकारको प्राप्त करता है जिससे उसका यह लोक तथा परलोक विगड़ता है अतः अनुमान के द्वारा दूसरे का अभिप्राय जानकर दूसरे जीवको सच्चे धर्मकी प्ररूपणा करनी चाहिये अथवा अपना और दूसरेका उपकार के लिये जीव आदि पदार्थोंको वताना चाहिये। २०

कम्मं च दं च विगिंच धीरे, विणइज्ज उ सव्वओ (हा) आयभावं।
रूवेहिं लुप्पंति वहेहिं, विज्जं गहाया थावरेहिं ॥२१॥

छाया- च छन्दश्च विवेचयेद्धीरः, विनयेत्तु सर्वत आत्मभावम्।
रूपैर्लुप्यन्ते भयावहैः विद्वान् गृहीत्वा त्रसस्थावरेभ्यः॥

अन्वयार्थ-(धीरे कम्म च छंद च विगिंच) धीर पुरुष सुननेवालोंके कर्म और अभिप्रायको जानकर (ो आयभाव विणइज्ज) सुननेवालों के मिथ्यात्व आदिको सब तरहसे दूर करे।

(भयावहेहिं रूवेहिं लुप्पति)-और इन्हें समझावे कि स्त्रियोंका रूप भय देनेवाला है इसलिये उसमें लुब्ध जीव नाशको प्राप्त होते हैं (विज्ज गहाया तसथावरेहिं) इस प्रकार विद्वान् पुरुष दूसरेका अभिप्राय जानकर त्रस और स्थावरोंका जिससे कल्याण हो ऐसे धर्मका उपदेश करे।

भावार्थ—धीर पुरुष सुननेवाले लोगोंका कर्म और अभिप्रायको जानकर धर्मका उपदेश करे और उपदेशके द्वारा उनके मिथ्यात्व को दूर करे। उन्हे समझावे कि—हे बान्धवों! तुम स्त्रीके रूपमें मोहित होते हो परन्तु स्त्रीका रूप भय देनेवाला है, उसमें लुब्ध मनुष्य नाशको प्राप्त होता है। इसप्रकार विद्वान् पुरुष सभाके अभिप्राय को जानकर त्रस और स्थावरो की जिससे भलाई हो ऐसे धर्मका उपदेश करे।

'धीरः' अक्षोभ्यः सद्बुद्ध्यलङ्कृतो वा देशनावसरे धर्मकथाश्रोतुः 'कर्म' अनुष्ठानं गुरुलघुकर्मभावं वा तथा 'छन्दः' अभिप्रायं सम्यक् 'विवेचयेत्' जानीयात्, ज्ञात्वा च पर्षदनुरूपामेव धर्मकथिको धर्मदेशनां कुर्यात् सर्वथा यथा श्रोतुर्जीवादिपदार्थावगमो भवति यथा च मनो न दूष्यते, अपि तु प्रसन्नतां व्रजति, एतदभिसंधिमानाह–विशेषेण नयेद्–अपनयेत् पर्षदः 'पापभवम्' अशुद्धमन्तःकरणं, तुशब्दाद्विशिष्टगुणारोपणं च कुर्यात्, 'आयभावं' ति क्वचित्पाठः, तस्यायमर्थः– 'आत्मभावः' अनादिभवाभ्यस्तो मिथ्यात्वादिकस्तमपनयेत्, यदिवाऽऽत्मभावो–विषयगृध्नुताऽतस्तमपनयेदिति। एतद्दर्शयति–'रूपैः' नयनमनोहारिभिः स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गार्द्धकटाक्षनिरीक्षणादिभिरल्पसत्त्वा 'विलुप्यन्ते' सद्धर्माद्भ्राश्यन्ते, किंभूतै रूपैः?–'भयावहैः' भयमावहन्ति भयावहानि, इहैव तावद्रूपादिविषयासक्तस्य साधुजनजुगुप्सा नानाविधाश्च कर्णनासिकाविकर्तनादिका विडम्बनाः प्रादुर्भवन्ति।

टीकार्थ—विषय और कषायोसे क्षोभको प्राप्त न होनेवाला अथवा उत्तम बुद्धिसे सुशोभित पुरुष धर्मोपदेशके समय धर्मकथा सुननेवाले पुरुषके कर्म यानी अनुष्ठानको अथवा यह पुरुष गुरुकर्मी है अथवा लघुकर्मी है एवं इसका अभिप्राय क्या है इस बातको अच्छीतरह सोचकर जानलेवे और जानकर सभाके अनुरूप ही धर्मका उपदेश करे। जिस प्रकार सुननेवाले को जीवादिपदार्थों का ज्ञान हो जाय और उसका चित्तभी न दुःखित हो किन्तु प्रसन्न रहे ऐसा उपदेश करे। इसी अभिप्रायसे शास्त्रकार कहते है—सुननेवालों के अन्तःकरणके पापको विशेषरूपसे हटावे और 'तु' शब्दसे उसमें विशेष गुणोका स्थापन करे। कहीं "आयभावं" यह पाठ है।—इसका अर्थ यह है कि—अनादिकालसे अभ्यास किया हुआ मिथ्यात्व आदि जो आत्मभाव है उसे उपदेश देकर साधु दूर कर दे अथवा विषयमे आसक्तिको आत्मभाव कहते है उसे साधु दूर कर देवे। यही शास्त्रकार दिखाते हैं—नेत्र और मनको हरण करनेवाले स्त्रियोके अङ्ग प्रत्यङ्ग और अर्धकटाक्ष निरीक्षण आदिसे अल्प पराक्रमी जीव धर्मसे भ्रष्ट हो जाते है परन्तु वह स्त्रीका रूप वस्तुतः भयङ्कर है। जो पुरुष स्त्रीके रूपमें आसक्त है उसकी इसी लोकमें साधुजन निन्दा करते है

जन्मान्तरे च तिर्यङ्नरकादिके यातनास्थाने प्राणिनो विषयासक्ता वेदनामनुभवन्तीत्येवं 'विद्वान्' पण्डितो धर्मदेशनाभिज्ञो गृहीत्वा पराभिप्रायं-सम्यगवगम्य पर्षदं त्रसस्थावरेभ्यो हितं ध र्मभावयेत् ॥२१॥

तथा नाक और कानका छेदन आदि दुःख उसे प्राप्त होता हैं और दूसरे जन्ममें नरक और तिर्य्यञ्च आदि गतियों में जाकर दुःख भोगता है। इसप्रकार उपदेश देने में निपुण पुरुष दूसरेके अभिप्राय को जानकर त्रस और स्थावरोंके हितकारक धर्मका उपदेश करे। २१

पूयणं चेव सिलोयकामी, पियमप्पियं कस्स इ णो करेज्जा।
अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले या अक स इ भिक्खू ॥२२॥

छाया—न पूजनञ्चैव श्लोककामी, प्रियमप्रियं कस्यापि नो कुर्य्यात्।
सर्वान् अनर्थान् परिवर्जयन् अनाकुलश्चाकषायी भिक्षुः ॥

अन्वयार्थ-(न पूयण चेव सिलोयकामी) साधु अपनी पूजा और स्तुतिकी इच्छा न करे (कस्सइ पियमप्पियं णो करेज्जा) तथा किसीका भी प्रिय अथवा अप्रिय न करे (सव्वे अणट्ठे परिवज्जयते) एव सव अनर्थोंको वर्जित करता हुआ (अणाउले अकसाइ भिक्खू) साधु आकुल न होता हुआ और कषाय रहित होकर धर्मोपदेश करे।

भावार्थ—साधु धर्मोपदेशके द्वारा अपनी पूजा और स्तुतिकी कामना न करे तथा किसीका प्रिय और किसीका अप्रिय न करे। एवं वह सव अनर्थोंको वर्जित करता हुआ आकुलतारहित और कषायरहित होकर धर्मोपदेश करे।

पूजासत्कारादिनिरपेक्षेण च सर्वमेव तपश्चरणादिकं विधेयं विशेषतो धर्मदेशनेत्येतदभिप्रायवानाह-साधुर्देशनां विदधानो न पूजनं-वस्त्रपात्रादिलाभरूपमभिकाङ्क्षन्नापि श्लोकं-श्लाघां कीर्तिम् आत्मप्रशंसां 'कामयेद्' अभिलषेत्, तथा श्रोतुर्यत्प्रियं राजकथाविकथादिकं छलितकथादिकं च तथाऽप्रियं च तत्समाश्रितदेवताविशेषनिन्दादिकं न कथयेद्, अरक्तद्विष्टतया श्रोतुरभिप्रायमभिसमीक्ष्य यथा-

---

टीकार्थ—साधु पूजा आदिसे निरपेक्ष होकर सभी तपस्या आदि कार्य्य करे और धर्मोपदेश तो विशेष रूपसे पूजा आदिकी इच्छासे रहित होकर ही करे. इस आशय को लेकर शास्त्रकार कहते है—धर्मका उपदेश करता हुआ साधु वस्त्र और पात्र आदिका लाभरूप पूजाकी इच्छा न करे तथा अपनी प्रशंसा की कामना भी न करे। तथा श्रोताको जो प्रिय लगती है ऐसी राजकथा और विकथा आदि तथा छलितकथा आदि एवं श्रोताका अप्रिय जो उसकी मानी हुई देवता की निन्दा आदि है उन्हें साधु न कहे। किन्तु रागद्वेष रहित होकर श्रोताके अभिप्रायको समझकर सम्यग्दर्शन आदि सच्चे धर्मका उपदेश करे। अव समाप्त करते हुए शास्त्रकार कहते

वस्थितं धर्म ग्दर्शनादिकं कथयेत्, उपसंहारमाह-'सर्वाननर्थान्' पूजासत्कारलाभाभिप्रायेण कृतान् परदूषणतया च परकृतान् 'वर्जयन्' परिहरन् कथयेद् 'अनाकुलः' सूत्रार्थादनुत्तरन् अकषायी भिक्षुर्भवेदिति ॥२२॥

है-साधु सब प्रकारके अनर्थोंको त्यागकर अर्थात् पूजा सत्कार आदिके लाभके लिये अपने किये हुए तथा दूसरे के मतको दूषित करनेके लिये दूसरे द्वारा किये हुए अनर्थोंको छोड़कर सूत्रके अर्थसे अलग न जाता हुआ और कषाय रहित होकर रहे । २२

ा हीयं समुपे णे हिं पाणेहिं णिहा दंडं ।
णो जीवि णो र ाहि ी, परि एज्जा व याविमुक्के
[मे ावी व्र विप्पमुक्के] ॥२३॥ त्तिबेमि ॥

छाया-याथातथ्यं समुत्प्रेक्षमाणः सर्वेषु प्राणिषु निधाय दण्डम् ।
नो जीवितं नो मरणावकाङ्क्षी, परिव्रजेद् वलयाद् विमु इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ-(आहत्तहीय समुवेहमाणे) साधु सत्य धर्मको देखता हुआ (सव्वेहिं पाणेहिं दंडे णिहाय) सब प्राणियोंको दण्ड देना छोडकर (णो जीविय णो मरणावकखी) जीवन और मरणकी इच्छा न रखता हुआ (वलयाविमुक्के परिव्वएज्जा) मायासे मुक्त होकर विचरे ।

भावार्थ-साधु सच्चे धर्मको देखता हुआ सब प्राणियोको दण्ड देना छोड़कर, अपने जीवन और मरणकी इच्छासे रहित होकर मायाको त्यागकर विचरे ।

ध्ययनोपसंहारार्थमाह-'आहत्तहीय' मित्यादि, यथातथाभावो याथातथ्यं-धर्ममार्गसमवसरणाख्याध्ययनत्रयोक्तार्थतत्त्वं सूत्रानुगतं सम्यक्त्वं चारित्रं वा तत् 'प्रेक्षमाणः' पर्यालोचयन् सूत्रार्थं सदनुष्ठानतोऽभ्यस्यन् 'सर्वेषु' स्थावरजङ्गमेषु सूक्ष्मबादरभेदभिन्नेषु पृथिवीकायादिषु दण्ड्यन्ते प्राणिनो येन स दण्डः-प्राणव्यपरोपणविधिस्तं 'निधाय' परित्यज्य, प्राणात्ययेऽपि याथातथ्यं धर्मं नोल्लङ्घयेदिति । एतदेव दर्शयति-'जीवितम्' असंयमजीवितं दीर्घायुष्कं वा स्थावरजङ्ग न्तुदण्डेन

टीकार्थ-अब शास्त्रकार समस्त अध्ययनको समाप्त करनेके लिये कहते है-साधु, धर्म, मार्ग और समवसरण नामक तीन अध्ययनो मे कहे हुए तत्त्वको विचार कर अथवा सूत्रके अनुरूप सम्यक्त्व और चारित्रको विचार कर और उत्तम अनुष्ठान के द्वारा सूत्र का अभ्यास करता हुआ सूक्ष्म और बादर भेदवाले पृथिवीकाय आदि स्थावर और जङ्गम प्राणियोंके प्राणका नाशरूप व्यापार न करे । तथा प्राण चले जानेपर भी सच्चे धर्मका उल्लङ्घन न करे । यही शास्त्रकार दिखाते है-साधु असंयमके साथ जीनेकी इच्छा न करे तथा स्थावर और जङ्गम प्राणियोंका नाश करके चिरकालतक जीनेकी इच्छा न करे । एव साधु परीषहसे पीडित होकर अथवा दूसरे

नाभिकाङ्क्षी स्या(क्षे)त् परीषहपराजितो वेदनासमुद्घात(समव)हतो वा तद्वेदनाम (भि)सहमानो नलसंपातापादितजन्तूपमर्दैन नापि मरणाभिकाङ्क्षी स्यात् । तदेवं याथातथ्यमुत्प्रेक्षमाणः सर्वेषु प्राणिषूपरतदण्डो जीवितमरणानपेक्षी संयमानुष्ठानं चरेद्-उद्युक्तविहारी भवेत् 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितो विदितवेद्यो वा वलयेन-मायारूपेण मोहनीयकर्मणा वा विविधं प्रकर्षेण मुक्तो विप्रमुक्त इति । इतिः परिसमाप्त्यर्थे ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२३॥ समाप्तं च याथातथ्यं त्रयोदशमध्ययनमिति ॥

अनेक दुःखोंसे दुःखित होकर उस वेदनाको न सह सकता हुआ जलमें डूबकर आगमें जलकर अथवा किसी हिंसक प्राणीके द्वारा अपना वध कराकर मरणकी इच्छा न करे । इसप्रकार वह सत्य धर्मपर दृष्टि रखता हुआ सब प्राणियोंको दण्ड देना छोड़कर तथा जीवन और मरणसे निरपेक्ष होकर संयमका अनुष्टान करे । शास्त्रोक्त मर्यादाके अनुसार विचरनेवाला जानने योग्य वस्तुको जाननेवाला साधु मायासे अथवा मोहनीय कर्मोंसे मुक्त होकर विचरे । इति शब्द समाप्त्यर्थक है ब्रवीमि पूर्ववत् है ।

यह याथातथ्य नामक तेरहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ।



॥ अथ ग्रन्थ नाम चतुर्दशमध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तं त्रयोदशमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्दशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः- इहानन्तराध्ययने याथातथ्यमि सम्यक्चारित्रमभिहितं, तच्च बाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरित्यागादवदातं भवति, तत्त्यागश्चानेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यत इत्यनेन संवन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराण्युपक्रमादीनि भवन्ति, तत्रोप क्रमद्वारान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा- बाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरित्यागो विधेय इति। नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे आदानपदाद्गुणनिष्पन्नत्वाच्च ग्रन्थ इति नाम, तं ग्रन्थमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

तेरहवाँ अध्ययन कहा चुका अब चौदहवाँ आरम्भ किया जाता है। इसका सम्बन्ध यह है-तेरहवे अध्ययनमे शुद्धचारित्रका वर्णन किया है परन्तु वह चारित्र बाहर और भीतरके ग्रन्थ (गाँठ) को छोड़नेसे निर्मल होता है इसलिये इस अध्ययनमें उस ग्रन्थ यानी गाँठके त्याग करनेका उपदेश किया जाता है, इस सम्बन्धसे आये हुए इस अध्ययनके उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार है उनमें उपक्रममे अर्थाधिकार यह है-जीवको बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रचारके ग्रन्थोंका त्याग करना चाहिये। नामनिष्पन्न निक्षेपमें आदान पदके हिसाबसे और गुणके अनुसार इस अध्ययनका नाम ग्रन्थ है। उस ग्रन्थके विषयमें निर्युक्तिकार कहते है—

गंथो पुव्वुद्दिट्ठो दुविहो सिस्सो य होति णायव्वो।
पव्वावण सिक्खावण पगय सिक्खावणाए उ ॥१२७॥

सो सिक्खगो य दुविहो गहणे आसेवणाय णायव्वो।
गहणंमि होति तिविहो सुत्ते अत्थे तदुभए य ॥१२८॥

आसेवणाय दुविहो मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
मूलगुणे पचविहो उत्तरगुण वारसविहो उ ॥१२९॥

आयरिओऽविय दुविहो पव्वावंतो व सिक्खवंतो य।
सिक्खावंतो दुविहो गहणे आसेवणे चेव ॥१३०॥

गाहावितो तिविहो सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव।
मूलगुण उत्तरगुणे दुविहो आसेवणाए उ ॥१३१॥

ग्रन्थो द्रव्यभावभेदभिन्नः, क्षुल्लकनैर्ग्रन्थ्यं नाम उत्तराध्ययनेष्वध्ययनं तत्र पूर्वमेव सप्रपञ्चोऽभिहितः, इह तु ग्रन्थं द्रव्यभावभेदभिन्नं य परित्यजति शिष्य आचारादिकं वा ग्रन्थं योऽधीतेऽसौ अभिधीयते, स शिष्यो 'द्विविधो' द्विप्रकारो ज्ञातव्यो भवति, था-प्रव्रज्यया शिक्षया च, यस्य प्रव्रज्या दीयते शिक्षां वा यो ग्राह्यते स द्वि रोऽपि शिष्यः, इह [तु] पुनः शिक्षाशिष्येण 'प्रकृतम्' अधिकारो यः शिक्षां गृह्णाति शैक्ष तच्छिक्षयेह प्रस इत्यर्थः ॥ यथाप्रतिज्ञातमधिकृत्याह-यः शिक्षां गृह्णाति शैक्षकः स द्विवधो द्विप्रकारो ति, तद्यथा-ग्रहणे प्रथममेवाचार्यादेः सकाशाच्छिक्षां इच्छामिच्छातहक्कारादिरूपां गृह्णाति, शिक्षति, तथा शिक्षितां भ्यस्यति-अहर्निशमनुतिष्ठति स एवंविधो ग्रहणासेवनाभेदभिन्नः शिष्यो ज्ञातव्यो भवति, तत्रापि ग्रहणपूर्वकमासेवनमितिकृत्वाऽऽदावेव ग्रहणशिक्षामाह-शि या 'ग्रहणे' उपादानेऽधिकृते त्रिविधो भवति शैक्षकः, तद्यथा-सूत्रेऽर्थे तदुभये च, सूत्रादी दावेव गृह्णन् सूत्रादिशिक्षको भवतीति भावः ॥ साम्प्रतं ग्रहणोत्तरकालभाविनीमासेवनामधिकृत्याह-यथावरि सूत्रानुष्ठानमासेवना तया करणभूतया द्विविधो भवति शिक्षकः, था-'मूलगुणे' मूलगुणविषये आसेवमानः-

टीकार्थ—द्रव्य और भावभेदसे ग्रन्थ दो प्रकारका है। वह उत्तराध्ययन सूत्रके क्षुल्लक नैर्ग्रन्थ्य नामक अध्ययनमें विस्तारके साथ कहा गया है परन्तु यहाँ जो शिष्य द्रव्य और भाव दोनो प्रकारके ग्रन्थोको त्याग देता है अथवा आचाराङ्ग आदि ग्रन्थोंको अध्ययन करता है उसे बताते हैं—वह शिष्य दो प्रकारका होता है। एक दीक्षा देनेसे और दूसरा शिक्षा देनेसे। जिसको दीक्षा देते है या शिक्षा देते हैं वह शिष्य दो प्रकारका है परन्तु यहाँ जिसे शिक्षा देते है उसी शिष्यके विषयमें कहा है। जो शिक्षाको ग्रहण करता है उसे शैक्षक कहते है उसके शिक्षा सम्बन्धी विषय इस अध्ययनमें कहा है। अब निर्युक्तिकार अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कहते है जो शिक्षाको ग्रहण करता है वह शिष्य दो प्रकारका होता है। एक वह है—जो आचार्य्य आदिसे पहले शिक्षा (इच्छा मिच्छातहक्कार आदि) लेता है और दूसरा वह है जो शिक्षाके अनुसार आचरण करता है। इसप्रकार शिक्षा लेने और उसके अनुसार अनुष्ठान करने रूप भेदसे शिष्य दो प्रकारके हैं। उनमें पहले शिक्षा ग्रहण की जाती है और पीछे उसके अनुसार आचरण किया जाता है इसलिये पहले शिक्षा ग्रहण करनेके विषयमें कहते हैं—शिक्षा ग्रहण करनेवाले शिष्य तीन प्रकारके होते है। एक वह है जो केवल सूत्र पढता है और दूसरा वह है जो अर्थ पढ़ता है और तीसरा सूत्र और अर्थ दोनो ही पढ़ता है। जो पहले सूत्र आदिको ही पढता है वह सूत्रादि शिक्षक कहलाता है। अब सूत्र आदि पढलेनेके पश्चात् किये जानेवाले अनुष्ठानके विषयमें निर्युक्तिकार कहते हैं—सूत्रमें जो वात जैसी है उसे उसीप्रकार अनुष्ठान करना आसेवना कहलाता है। उस आसेवनाको लेकर शिष्य दो प्रकारका होता है—एक वह है जो मूलगुणोंका अच्छीतरह सेवन करता है और दूसरा वह है जो उत्तर

सम्यग्मूलगुण मनुष्ठानं कुर्वन् तथा 'उत्तरगुणे च' उत्तरगुणवि यगनुष्ठानं कुर्वाणो द्विरूपोऽप्यासेवनाशिक्षको भवति, तत्रापि मूलगुणे पञ्चप्रकारः-प्राणाति- ।दिविरतिमासेबमानः पञ्चमहाव्रतधारणात्पञ्चविधो ति मूलगुणेष्वासेवना- शिक्षकः, तथो गुणविषये सम्यक्पिण्डविशुद्धयादिकान् गुणानासेवमान उत्तर- गुणासेवनाशिक्षको भवति, ते चामी उत्तरगुणाः-"[1]पिंडस्स जा विसोही समिईओ भावणा तवो दुविहो। पडिमा अभिग्गहावि य उत्तरगुणमो वियाणाहि ॥१॥' यदिवा '[2]सत्स्वप्यन्ये रगुणेषु प्रधाननिर्जराहेतुतया एव द्वादशविधमुत्तरगुणत्वेनाधि- कृत्याह-'उत्तरगुणे' उत्तरगुणविषये तपो द्वादशभेदभिन्नं यः यग् विधत्ते स आसेवनाशिक्षको तीति ॥ शिष्यो ह्याचार्यमन्तरेण न भवत्यत आचार्यनिरूप- ।(ण)ह-शिष्यापेक्षया हि आचार्यो "द्विविधो' द्विभेदः, एको यः प्रवज्यां ग्राहयत्यपरस्तु यः शिक्षामिति, शिक्षयन्नपि द्विविधः-एको यः शिक्षाशास्त्रं ग्राहयति- पाठ परस्तु तदर्थं दशविधच यनुष्ठानतः से ति-सम्यगनुष्ठानं कारयति।' तत्र सूत्रार्थतदुभयभेदाद्ग्राहयन्नप्याचार्यस्त्रिधा भवति। आसेवनाचा- र्योऽपि 'मूलोत्तरगुणभेदाद्द्विविधो ति। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनन्तरं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्-

---

गुणका भलीभाँति सेवन करता है इसप्रकार आसेवना शिष्य दो प्रकारके है। इनमें मूलगुणों की सेवा करनेवाला शिष्य प्राणातिपात आदि से विरतिरूप पाँच महाव्रतोंको धारण करनेके कारण पाँच प्रकारका होता है। तथा जो पिण्डविशुद्धि आदि उत्तरगुणोंका सेवन करता है वह उत्तरगुणासेवना शिक्षक है। वे उत्तरगुण ये है-पिण्डकी विशुद्धि, समिति, भावना दोनुं प्रकारके तप, प्रतिमा और अभिग्रह ये उत्तरगुण है। अथवा दूसरे भी उत्तरगुण है तो भी निर्जराके प्रधान कारण होनेके कारण बारह प्रकारके तपको ही निर्युक्तिकार उत्तरगुणरूपसे बताते है-जो बारह प्रकारके तपोंका अच्छीतरह अनुष्ठान करता है वह आसेवना शिक्षक है। आचार्य्यके विना शिष्य नहीं होता है इसलिये निर्युक्तिकार आचार्य्यका निरूपण करते है- शिष्यकी अपेक्षासे आचार्य्य वह है जो शिक्षा देता है। शिक्षा देनेवाला आचार्य्य भी दोनुं प्रकारका है। एक वह है जो शिक्षा शास्त्रको पढाता है और दूसरा वह है जो दशप्रकारकी साधु समाचारीको सेवन कराकर उसके अर्थका अनुष्ठान कराता है इनमें पढानेवाला आचार्य्य भी सूत्र अर्थ और इन दोनोके भेदसे तीन प्रकारका है। आसेवनाचार्य्य भी मूल गुण और उत्तरगुणके भेदसे दो प्रकारका है। नामनिक्षेप गत हुआ अब सूत्रानुगममे अस्खलित आदि गुणोके साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिये, वह सूत्र यह है-

---

१ पिण्डस्य या विशोधि समितयो भावनास्तपो द्विविधम्। प्रतिमा अभिग्रहा अपि चोत्तर- गुणा (इति) विजानीहि ॥१॥ २ सत्स्वप्येते प्र०।

गंथं विहाय इ सिक्ख माणो, उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा ।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेय विप्प मायं न कुज्जा ॥१॥

छाया-ग्रन्थं विहायेह शिक्षमाणः, उत्थाय सुब्रह्मचर्य्यं वसेत् ।
अवपातकारी विनयं सुशिक्षेत्, यश्छेका प्रमादं न कुर्य्यात् ।

अन्वयार्थ-(इह) इस लोकमें (गथ विहाय) परिग्रहको छोडकर (सिक्खमाणो) शिक्षाको ग्रहण और सेवन करता हुआ पुरुष (उट्ठाय) प्रव्रज्या लेकर (सुबभचेर वसेज्जा) ब्रह्मचर्य्यको अच्छी तरह पालन करे । (ओवायकारी विणय सुसिक्खे) आचार्य्यकी आज्ञा पालन करता हुआ विनय सीखे । (जे छेय विप्पमायं ण कुज्जा) जो पुरुष सयमके अनुष्ठानमें निपुण है वह कभी भी सयममें प्रमाद न करे ।

भावार्थ-इस लोकमें परिग्रहको छोड़कर शिक्षा पाताहुआ पुरुष दीक्षा लेकर अच्छीतरह ब्रह्मचर्य्यका पालन करे । तथा वह आचार्य्यकी आज्ञा पालन करता हुआ विनय सीखे । एवं संयमपालन करनेमें निपुण पुरुष कभी भी प्रमाद न करे ।

'इह' प्रवचने ज्ञातसंसारस्वभावः सन् सम्यगुत्थानेनोत्थितो ग्रथ्यते आत्मा येन स ग्रन्थो-धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदादि 'विहाय' त्यक्त्वा प्रव्रजितः सन् सदुत्थानेनोत्थाय च ग्रहणरूपामासेवनारूपां च शिक्षां [च] कुर्वाणः-सम्यगासेवमानः सुष्ठु-शोभनं नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिर्गुप्तमाश्रित्य ब्रह्मचर्यं 'वसेत्' तिष्ठेत्, 'सुब्रह्मचर्य' मिति संयमस्तम् आवसेत्-तं सम्यक् कुर्यात्, आचार्यान्तिके यावज्जीवं वसमानो यावदभ्युद्यतविहारं न प्रतिपद्यते तावदाचार्यवचनस्यावपातो-निर्देशस्तत्कार्यवपातकारी-वचननिर्देशकारी सदाऽऽज्ञाविधायी, विनीयते-अपनीयते कर्म येन स विनयस्तं सुष्ठु शिक्षेद्-विदध्यात् ग्रहणासेवनाभ्यां विनयं सम्यक् परिपालयेदिति । तथा यः 'छेको' निपुणः स संयमानुष्ठाने सदाचार्योपदेशे वा विविधं

टीकार्थ-इस प्रवचनमे संसारके (असार) स्वभावको जनताहुआ पुरुष आत्मकल्याणके लिये उद्यत होकर जिसके द्वारा आत्मा जालमें गूथ जाता है उस धन, धान्य, हिरण्य और द्विपद चतुष्पद आदिको त्याग करे और दीक्षालेकर आत्मकल्याणमें तत्पर होकर ग्रहणरूप और आसेवनरूप शिक्षाको अच्छीतरह पालन करता हुआ नव गुप्तियोसे गुप्त उत्तम ब्रह्मचर्य्यका पालन करे । अथवा संयमको सुब्रह्मचर्य्य कहते है उसका वह अच्छीतरह पालन करे । वह जीवनभर गुरुके निकट निवास करताहुआ जबतक एकलविहारी होनेकी प्रतिमा न स्वीकार करे तबतक गुरुकी आज्ञा सदा पालता रहे । जिससे कर्म हटाया जाता है उसे विनय कहते हैं उसको सदा सीखे और अच्छीतरह पालन करे । इसप्रकार जो पुरुप चतुर है वह संयम पालन करनेमें और गुरुके उपदेशमे कभी भी किसीप्रकारका प्रमाद न करे । जैसे रोगी पुरुष

प्रमादं न कुर्यात्, यथा हि आतुरः सम्यग्वैद्योपदेशं कुर्वन् श्लाघां लभते रोगोपशमं च एवं साधुरपि सावद्यग्रन्थपरिहारी पापकर्मभेषजस्थानभूतान्याचार्यवचनानि विदधदपरसाधुभ्यः साधुकारमशेषकर्मक्षयं चावाप्नोतीति ॥१॥

वैद्यके उपदेशको पालता हुआ प्रशंसाके योग्य होता है और रोगनिवृत्तिको भी प्राप्त करता है इसीतरह जो साधु सावद्य अनुष्ठानोंको त्यागकर पापकर्मके लिये औषधरूप गुरुके उपदेश वचनोंका पालन करता है वह दूसरे साधुओसे धन्यवादका पात्र होता है और समस्त कर्मोका क्षयरूप मोक्षको भी प्राप्त करता है। १

जहा दियापोत पत्तजातं, सावासगा पविउं न्न णं।
मचाइयं तरुण पत्तजातं, ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥२॥

छाया–यथा द्विजपोत मपत्रजात, स्वावासकात् प्लवितुं मन्यमानम्।
तमशक्नुवन्तं तरुणमपत्रजातं, ढङ्कादयोऽव्यक्तगमं हरेयुः ॥

अन्वयार्थ–(जहा दियापोतमपत्तजात) जैसे कोई पक्षीका बच्चा पूरा पक्ष आये विना (सावासगा पविउ मन्नमान) अपने स्थानसे उडकर अन्यत्र जानेकी इच्छा करता हुआ (अपत्तजाय तरुणमचाइय) पक्षके विना उडनेमें समर्थ नहीं होता है (ढकाइ अव्वत्तगम हरेज्जा) और उसे मासाहारी ढङ्क आदि पक्षी फडपडाते हुए देखकर हरलेते हैं और मार डालते हैं।

भावार्थ–जिसको अभी पूरा पक्ष नहीं आया है ऐसा पक्षीका बच्चा जैसे उड़कर अपने घोसलेसे अलग जाना चाहता हुआ उडनेमे समर्थ नहीं होता है किन्तु छटहो फडफड़ करता हुआ वह ढंक आदि मांसाहारी पक्षियोंसे मार दिया जाता है इसीतरह जो साधु आचार्य्यकी आज्ञा विना अकेला विचरता है वह नष्ट हो जाता है।

यः पुनराचार्योपदेशमन्तरेण स्वच्छन्दतया गच्छान्निर्गत्य एकाकिविहारितां प्रतिपद्यते स च वहुदोषभाग् भवतीत्यस्यार्थस्य दृष्टान्तमाविर्भावयन्नाह–'यथे'ति दृष्टान्तोपप्रदर्शनार्थः 'यथा' येन प्रकारेण 'द्विजपोतः' पक्षिशिशुरव्यक्तः, तमेव विशिनष्टि–पतन्ति–गच्छन्ति येनेति पत्र–पक्षपुटं न विद्यते पत्रजात–पक्षोद्भवो यस्यासावपत्रजातस्तं तथा स्वकीयादावासकात्–स्वनीडात् प्लवितुम्–उत्पतितुं

टीकार्थ–जो साधु आचार्य्यके उपदेशके विना स्वच्छन्द होकर गच्छसे निकलकर अकेला विहार करता है वह वहुत दोषोंका भाजन होता है इस विषयमे दृष्टान्त बतानेके लिये शास्त्रकार कहते है। यथा शब्द दृष्टान्तको बतानेके लिये आया है। जिसप्रकार कोई पक्षीका बच्चा उड़नेलायक नही हुआ है क्योंकि जिससे पक्षी उडते है उसे पत्र कहते है वह अभी उसको उत्पन्न नहीं हुआ है तथापि वह अपने घोसलेसे उड़कर दूसरी जगह जानेकी इच्छा करता हुआ

मन्यमानं तत्र तत्र पतन्तमुपलभ्य तं द्विजपोतं 'अचाइयं'ति पक्षाभावाद्गन्तुमसमर्थमपत्रजातमितिकृत्वा मांसपेशीकल्पं 'ढङ्कादयः' क्षुद्रसत्त्वाः पिशिताशिनः 'अव्यक्तगम' गमनाभावे नंष्टुमसमर्थं 'हरेयुः' चञ्च्वादिनोत्क्षिप्य नयेयुर्व्यापादयेयुरिति ॥२॥

पक्ष उत्पन्न न होनेके कारण उड़ नहीं सकता है किन्तु झूठ ही इधर उधर फडफड़ करता है, उसे ढंक आदि मासाहारी पक्षी मास समझकर हरलेते हैं। वह उडनेमे असमर्थ होनेके कारण कहीं छिप नहीं सकता है अत उसे वे पक्षी अपने चॉचके द्वारा उठाकर ले जाते है और मार डालते हैं। २

एवं सेहंपि अपुट्ठधम्मं, निस्सारियं वुसिमं मन्नमाणा।
दियस्स छायं व अपत्तजायं, हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे ॥३॥

छाया—एवन्तु शिष्यमप्यपुष्टधर्माणं, निःसारितं वश्यं मन्यमानाः।
द्विजस्य शावमिवापत्रजातं, हरेयुः पापधर्माणोऽनेके ॥

अन्वयार्थ—(एव तु) इसीतरह (अपुट्ठधम्म) जो धर्ममें अभी निपुण नहीं है (सेहपि) ऐसे शिष्यको (निस्सारिय) गच्छसे निकले हुए देखकर (वुसिम मन्नमाणा) उसे अपने वशीभूत समझते हुए (अणेगे पावधम्मा) वहुतसे पाषण्डी (अपत्तजाय दियस्स छायव) जिसको पक्ष उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसे पक्षीके बच्चेकी तरह (हरिंसु) हरलेते हैं।

भावार्थ—जैसे पक्षरहित पक्षीके बच्चेको मांसाहारी पक्षी हरलेते है इसीतरह धर्ममे अनिपुण शिष्यको गच्छसे निकलकर अकेला विचरते हुए देखकर वहुतसे पाषण्डी वहका कर धर्मभ्रष्ट कर देते है।

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं प्रदर्शयितुमाह-'एव' मित्युक्तप्रकारेण, तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषं दर्शयति, पूर्वं ह्यसंजातपक्षत्वादव्यक्तता प्रतिपादिता इह त्वपुष्टधर्मतयेत्ययं विशेषो, यथा द्विजपोतमसंजातपक्षं स्वनीडान्निर्गतं क्षुद्रसत्त्वा विनाशयन्ति एवं शिक्षकमभिनवप्रव्रजितं सूत्रार्थानिष्पन्नमगीतार्थम् 'अपुष्टधर्माणं' सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थं सन्तमनेके पापधर्माणः पाषण्डिकाः प्रतारयन्ति, प्रतार्य च

टीकार्थ—इसप्रकार दृष्टान्त वताकर अव दार्ष्टान्त वताते है। (यहां तु शब्द पूर्व गाथासे विशेषता वताता है) पूर्वगाथामे पक्ष उत्पन्न न होनेसे असमर्थता कही है और इस गाथामे धर्ममे परिपक्वता न होनेसे असमर्थता वताई है यह विशेषता है। जैसे अपने घोसलेसे वाहर निकले हुए पक्षरहित पक्षीके बच्चेको हिंसक पक्षी मार डालते है इसीतरह सूत्रके अर्थमे अनिपुण तथा धर्मके तत्त्वको अच्छीतरह न जाननेवाले नवदीक्षित शिष्यको वहुतसे

गच्छसमुद्रान्निः-सारयन्ति, निःसारितं च सन्तं विषयोन्मुखतामापादितमपगत-परलोकभयमस्माकं [1]वश्यमित्येवं मन्यमानाः यदिवा 'वुसिम'न्ति चारित्रं तद् असदनुष्ठानतो निःसारं मन्यमाना अजातपक्षं 'द्विजशावमिव' पक्षिपोतमिव ढङ्कादयः पापधर्माणो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायकलुषितान्तरात्मानः कुतीर्थिकाः स्व राजादयो वाऽनेके बहवो हृतवन्तो हरन्ति हरिष्यन्ति चेति, कालत्रयोपलक्षणार्थं भूतनिर्देश इति, तथाहि-पाषण्डिका एवमगीतार्थं प्रतारयन्ति, तद्यथा-युष्मद्दर्शने नाग्निप्रज्वा विषापहारशिखाच्छेदादिकाः प्रत्यया दृश्यन्ते, तथाऽणिमाद्यष्टगुणमैश्वर्यं च नास्ति, तथा न राजादिभिर्बहुभिराश्रितं, याऽप्यहिंसोच्यते भवदागमे साऽपि जीवाकुलत्वाल्लोकस्य दुःसाध्या, नापि भवतां स्नानादिकं शौचमस्तीत्यादिकाभि शठोक्तिभिरिन्द्रजालकल्पाभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति, स्वजनादयश्चैवं विप्रलम्भयन्ति, तद्यथा-आयुष्मन्! न भवन्तमन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति पोषकः पोष्यो वा, त्वमेवास्माक सर्वस्वं, त्वया विना सर्वं शून्यमाभाति, तथा शब्दादिविषयोपभोगामन्त्रणेन सद्धर्माच्च्यावयन्ति, एवं राजादयोऽपि द्रष्टव्या, तदेवमपुष्टधर्माणमेकाकिनं बहुभिः प्रकारैः प्रतार्यापहरेयुरिति ॥३॥

पाषण्डी प्रतारण करते है और प्रतारण करके गच्छसमुद्रसे बाहर निकाल लेते हैं। बाहर निकाले हुए उसे वे विषयी और परलोकके भयसे रहित बनादेते है। इसके पश्चात् उसे अपने वशीभूत मानतेहुए अथवा चारित्रको निःसार समझते हुए पक्षरहित पक्षीके बच्चेको ढंक आदि पक्षीकी तरह हरलेते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायसे जिनका हृदय मलिन है ऐसे कुतीर्थी, स्वजन, और राजा आदि बहुत पापियोने ऐसे शिष्यको हर लिया है और हर रहे है तथा हरेंगे। यहाँ भूतकालका निर्देश तीनों कालोंका उपलक्षण है। पाषण्डी पुरुष, धर्ममें अनिपुण साधुको इसप्रकार धोखा देते है वे कहते है कि तुम्हारे दर्शनमे आगजलाने, विष हरण करने और शिखाच्छेदन करने आदि नही कहे गये है तथा अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य्योका कथन भी नहीं है एवं राजा आदि बहुतसे लोग उसे मानते भी नही है। तथा आपके दर्शनमें जो अहिंसा कही है वहभी ससार जीवोंसे भराहुआ होनेके कारण साध्य नही है तथा स्नान आदि शौचभी आपलोगोंके दर्शनमे नहीं है इसप्रकार इन्द्रजालकी तरह शठतामय वचनोसे वे भोले जीवोंको ठगलेते है। एव उसके स्वजन वर्ग इसप्रकार उसे ठगते है कि—हे आयुष्मन्! आपके विना हमारा दूसरा पोषण करनेवाला या पोषण करने योग्य नहीं है। आपही हमारे सर्वस्व है आपके विना हमको सब शून्यसा दीखता है। तथा शब्दादि विषयोंके उपभोगका आमन्त्रण देकर वे उसे उत्तमधर्मसे भ्रष्ट करदेते है। इसीतरह राजा आदि भी करते है। इसप्रकार धर्ममें अनिपुण अकेले विचरनेवाले साधुको अनेकप्रकारसे ठगकर पापी जीव हरलेते है। ३

---

१ समासावितिस्तेन प्रथमा।

ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिए णंतकरिति णच्चा ।
ओभासमाणे दवियस्स वित्तं, ण णिक्कसे बहिया आसुपन्नो ॥४॥

छाया–अवसानमिच्छेन्मनुजः समाधि मनुषितो नान्तकर इति ज्ञात्वा ।
अवभासयन् द्रव्यस्य वृत्तं, न निष्कसेद्बहिराशुप्रज्ञः ॥

अन्वयार्थ—(मणुए) मनुष्य (अणोसिए णंतकरिति णच्चा) गुरुकुलमें निवास न करनेवाला कर्मोंका नाश नहीं कर सकता है यह जानकर (ओसाण समाहिं इच्छे) गुरुकुलमें निवास और समाधिकी इच्छा करे। (दवियस्स वित्तं ओभासमाणे) मुक्तिगमन योग्य पुरुषके आचरणको स्वीकार करता हुआ (आसुपन्ने बहिया ण णिक्कसे) बुद्धिमान् पुरुष गच्छसे बहार न निकले।

भावार्थ—जो पुरुष गुरुकुलमे निवास नहीं करता है वह अपने कर्मोंका नाश नहीं कर सकता है यह जानकर पुरुष सदा गुरुकुलमे निवास करे और समाधिकी इच्छा रखे। वह मुक्ति जाने योग्य पुरुषके आचरणको स्वीकार करे और गच्छसे बाहर न जाय।

तदेवमेकाकिनः साधोर्यतो बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्ति अत सदा गुरुपादमूले स्थातव्यमित्येतद्दर्शयितुमाह–'अवसानं' गुरोरन्तिके स्थान तद्यावज्जीवं 'समाधिं' सन्मार्गानुष्ठानरूपम् 'इच्छेद्' अभिलषेत् 'मनुजो' मनुष्यः साधुरित्यर्थः; स एव च परमार्थतो मनुष्यो यो यथाप्रतिज्ञात निर्वाहयति, तच्च सदा गुरोरन्तिके व्यवस्थितेन सदनुष्ठानरूपं समाधिमनुपालयता निर्वाह्यते नान्यथेत्येतद्दर्शयति-गुरोरन्तिके 'अनुषित.' अव्यवस्थितः स्वच्छन्दविधायी समाधेः सदनुष्ठानरूपस्य कर्मणो यथाप्रतिज्ञातस्य वा नान्तकरो भवतीत्येवं ज्ञात्वा सदा गुरुकुलवासोऽनुसर्तव्य., तद्रहितस्य विज्ञानमुपहास्यप्रायं भवतीति, उक्तं च–"न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् । प्रकटितपश्चाद्भागं पश्यत नृत्य मयूरस्य ॥१॥"

टीकार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे अकेले साधुमे बहुतसे दोष उत्पन्न होते है इसलिये सदा गुरुके चरणकी सेवामे ही रहना चाहिये यह शास्त्रकार दिखाते है—मनुष्य. जीवन पर्य्यन्त गुरुके निकट निवास करने और उत्तम मार्गके अनुष्ठान करनेकी इच्छा करे। वही पुरुष सच्चा मनुष्य है जो अपनी प्रतिज्ञाको पूर्णरूपेण पालन करता है। वह प्रतिज्ञा सदा गुरुके पास निवास करने और उत्तम अनुष्ठान करनेसे पाली जाती है अन्यथा नही यह शास्त्रकार दिखाते है—जो पुरुष गुरुके निकट निवास नहीं करता है और स्वच्छन्द होकर कार्य्य करता है वह प्रतिज्ञा किये हुए उत्तम अनुष्ठानरूप कार्य्यको पार नहीं लगाता है यह जानकर सदा गुरुकुलमे निवास करना चाहिये जो गुरुकुलमे निवास नहीं करता है उसका ज्ञान हास्यके लिये होता है। अतएव कहा है कि—गुरुकुलकी उपासना नहीं किये हुए पुरुषका विज्ञान उसकी रक्षा करनेके लिये समर्थ नहीं होता है क्योकि गुरुके उपदेशके विना अपने अनुभवसे नोंचनेवाले मयूरका पिछला भाग उघाड़ हो जाता है। तथा किसी बकरीके गलेमे लगीहुई रेतीको पैरसे मारकर झाडते हुए किसीको देखकर गुरुकी उपासना नहीं किया

तथाऽजां गलविलग्नवालुकां पार्ष्णिप्रहारेण प्रगुणां दृष्ट्वाऽपरोऽनुपासितगुरुरज्ञो राज्ञीं संजातगलगण्डां पार्ष्णिप्रहारेण व्यापादितवान्, इत्यादयः अनुपासितगुरोर्बहवो दोषाः संसारवर्धनाद्या भवन्तीत्यवगम्यानया मर्यादया गुरोरन्तिके स्थातव्यमिति दर्शयति-'अवभासयन्' उद्भासयन् सम्यगनुतिष्ठन् 'द्रव्यस्य' मुक्तिगमनयोग्यस्य सत्साधो रागद्वेषरहितस्य सर्वज्ञस्य वा वृत्तम्-अनुष्ठानं तत्सदनुष्ठानतोऽवभासयेद्, धर्मकथि : कथनतो वोद्भासयेदिति। तदेव यतो गुरुकुलवासो बहूनां गुणानामाधारो भवत्यतो 'न निष्कसेत्' न निर्गच्छेत् गच्छाद्गुर्वन्तिकाद्वा बहिः, स्वेच्छाचारी न भवेद्, 'आशुप्रज्ञ' इति क्षिप्रप्रज्ञः, तदन्तिके निवसन् विषयकषायाभ्यामात्मानं ह्रियमाणं ज्ञात्वा क्षिप्रमेवाचार्योपदेशात्स्वत एव वा 'निवर्तयति' सत्समाधौ व्यवस्थापयतीति ॥४॥ तदेवं प्रव्रज्यामभि उद्यतो नित्यं गुरुकुलवासमावसन् सर्वत्र स्थानशयनासनादावुपयुक्तो भवति तदुपयुक्तस्य च गुणमुद्भावयन्नाह—

हुआ किसी मूर्खने गलेके रोगकी निवृत्ति पैरके मारनेसे होती है यह जानकर गलेमें गण्डरोगसे पीडित किसी रानीके गलेमें पैर मारकर रानीको मारडाला था। इसप्रकार गुरुकी उपासना नहीं किये हुए पुरुषमे संसारकी वृद्धि आदि बहुतसे दोष उत्पन्न होते है अत· पुरुषको आगे कही जानेवाली मर्य्यादाके साथ गुरुके पास निवास करना चाहिये यह शास्त्रकार बताते है— विद्वान् पुरुष मुक्ति जानेयोग्य साधुके अथवा रागद्वेषरहित सर्वज्ञ पुरुषके अनुष्ठानको उत्तम आचरणके द्वारा प्रकाशितकर अथवा धर्मकथा कहकर उसे प्रकट करे। गुरुकुलमे निवास करना बहुत गुणके लिये होता है इसलिये साधु गच्छसे या गुरुके पाससे अलग न जावे तथा वह स्वेच्छाचारी न वने। बुद्धिमान् पुरुष गुरुके निकट निवास करता हुआ अपने आत्माको विषय और कषायोंसे हरण किया जाता हुआ जानकर आचार्य्यके उपदेशसे अथवा स्वयमेव उसे हटा लेता है और उसे समाधिमें स्थापित करता है। ४ इसप्रकार दीक्षा लेकर जो पुरुष सदा गुरुकुलमे निवास करताहुआ सदा स्थान, शयन और आसन आदिमे उपयोग रखता है उसको जो गुण प्राप्त होता है उसे वतानेके लिये शास्त्रकार कहते है।

जे ठाणओ य सयणासणे य, पर मे यावि सु हुजुत्ते।
समितीसु गुत्तीसु य आयप , वियागरिंते य पुढो वएज्जा ॥५॥

छाया-यः स्थानतश्च शयनासनाभ्याञ्च पराक्रमतश्च सुसाधुयुक्तः।
समितिषु गुप्तिषु चावगतप्रज्ञः, व्याकुर्वंश्च पृथग् वदेत् ॥

अन्वयार्थ—(ठाणओ सयणासणे य परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते) गुरुकुलमें निवास करनेवाला पुरुष स्थान, आसन शयन और पराक्रमके द्वारा उत्तम साधुके समान आचरण करता है तथा (समितिसु गुत्तिसुय आयुपन्ने) वह समिति और गुप्तिके विषयमें खूब ज्ञानवान् हो जाता है (वियागरितेय पुढो वएज्जा) तथा वह समिति और गुप्तिका यथार्थ स्वरूप दूसरेको भी बताता है।

भावार्थ–गुरुकुलमें निवास करनेवाला साधु स्थान शयन आसन और पराक्रमके विषयमें उत्तम साधुके समान आचरण करता है तथा वह समिति गुप्तिके विषयमें पूर्णरूपसे प्रवीण हो जाता है और दूसरेको भी उसका उपदेश करता है ।

यो हि निर्विण्णसंसारतया प्रव्रज्यामभि उद्यतो नित्यं गुरुकुलवासतः 'स्थानतश्च' स्थानमाश्रित्य तथा शयनत आसनतः, एकश्चकारः समुच्चये द्वितीयोऽनुक्तसमुच्चयार्थः चकाराद्गमनमाश्रित्यागमनं च तथा तपश्चरणादौ पराक्रमतश्च, (सु) साधोः–उद्युक्तविहारिणो ये समाचारास्तैः समायुक्तः सुसाधुयुक्तः सुसाधुर्हि यत्र स्थान–कायोत्सर्गादिकं विधत्ते तत्र सम्यक् प्रत्युपेक्षणादिकां क्रियां करोति, कायोत्सर्गं च मेरुरिव निष्प्रकम्पः शरीरनिःस्पृहो विधत्ते, तथा शयनं च कुर्वन् प्रत्युपेक्ष्य संस्तारकं तद्भुवं कायं चोदितकाले गुरुभिरनुज्ञातः स्वपेत्, तत्रापि जाग्रदिव नात्यन्तं निःसह इति । एवमासनादिष्वपि तिष्ठता पूर्ववत्संकुचितगात्रेण स्वाध्यायध्यानपरायणेन सुसाधुना भवितव्यमिति, तदेवमादिसुसाधुक्रियायुक्तो गुरुकुलनिवासी सुसाधुर्भवतीति स्थितम् । अपिच–गुरुकुलवासे निवसन् पञ्चसु समितिष्वीर्यासमित्यादिषु प्रविचाररूपासु तथा तिसृषु च गुप्तिषु प्रविचाराप्रविचाररूपासु आगता–उत्पन्ना प्रज्ञा यस्यासावागतप्रज्ञ –संजातकर्तव्यविवेकः स्वतो भवति, परस्यापि च 'व्याकुर्वन्' कथयन् पृथक् पृथग्गुरोः प्रसादात्परिज्ञातस्वरूपः समितिगुप्तीनां यथावस्थितस्वरूपप्रतिपालन तत्फलं च 'वदेत्' प्रतिपादयेदिति ॥५॥

टीकार्थ–संसारसे विरक्त होकर दीक्षा लिया हुआ पुरुष सदा गुरुकुलमें निवास करनेसे स्थान, शयन, आसन (एक चकार समुच्चय अर्थमे है और दूसरा अनुक्त समुच्चयार्थक है) तथा चकारसे गमन, आगमन और तपस्याके विषयमे पराक्रम करता हुआ उत्तम साधुका जो आचरण है उससे युक्त होता है । उत्तम साधु जिस स्थानमे कायोत्सर्ग करता है उसको वह अच्छीतरह देखकर तथा प्रमार्जन करके कायोत्सर्ग कहता है । तथा वह कायोत्सर्ग भी मेरु पर्वतके समान कम्परहित एव शरीरसे निस्पृह होकर करता है । वह शयन करनेके समय बिछौना जमीन और अपने शरीरको देखकर गुरुकी आज्ञा लेकर शास्त्रोक्त कालमें शयन करता है तथा वह सोयाहुआ भी जागते हुएके समान सतर्क रहता है अत्यन्त भानरहित नही होता । इसीतरह आसन आदि पर बैठता हुआ वह अपने गात्रको संकुचित करके बैठता है तथा स्वाध्याय और ध्यानमे सदा तत्पर रहता है । इसप्रकार उत्तम साधुकी क्रियासे युक्त गुरुकुलनिवासी साधु होता है यह सिद्ध हुआ । तथा गुरुकुलमे निवास करनेवाला पुरुष ईर्य्यासमिति आदि विचाररूप पॉच समितिओमे तथा प्रविचार और अप्रविचाररूप तीन गुप्तियोमे विवेकवाला होता है, वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके विवेकसे स्वय युक्त होता है और गुरुकी कृपासे समिति और गुप्तिका स्वरूप जानकर दूसरेको उनके यथार्थस्वरूप तथा उनका पालन और फलका उपदेश करता है । ५

सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहंकहं वा वितिगिच्छ तिन्ने ॥६॥

छाया–शब्दान् श्रुत्वाऽथ भैरवान्, अनाश्रवस्तेषु परिव्रजेत् ।
निद्राञ्च भिक्षुर्न प्रमादं कुर्य्यात्, कथं कथं वा विचिकित्सातीर्णः ॥

अन्वयार्थ—(सद्दाणि अदु भेरवाणि सोच्चा) मधुर या भयङ्कर शब्दोको सुनकर (तेसु अणासवे परिव्वएज्जा) उनमें रागद्वेष रहित होकर साधु विचरे । (भिक्खू निद्द पमाय न कुज्जा) एव उत्तम साधु निद्रा और प्रमाद न करे (कह कह वा वितिगिच्छ तिन्ने) तथा किसी विषयमें भ्रम होने पर गुरुकी कृपा से उससे पार हो जाय ।

भावार्थ–ईर्य्यासमिति आदिसे युक्त साधु मधुर या भयङ्कर शब्दोंको सुनकर राग द्वेष न करे तथा वह निद्रारूप प्रमाद न करे और किसी विषयमे भ्रम होनेपर गुरुसे पूछकर उससे पार हो जाय ।

ईर्यासमित्याद्युपेतेन यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह-'शब्दान्' वेणुवीणादिकान् मधुरान् श्रुतिपेशलान् 'श्रुत्वा' समाकर्ण्याथवा 'भैरवान्' भयावहान् कर्णकटूनाकर्ण्य शब्दान् आश्रवति तान् शोभनत्वेन वा गृह्णातीत्याश्रवो नाश्रवोऽनाश्रव, तेष्वनुकूलेषु प्रतिकूलेषु श्रवणपथमुपगतेषु शब्देष्वनाश्रवो-मध्यस्थो रागद्वेषरहितो भूत्वा परि-समन्ताद् व्रजेत् परिव्रजेत्-संयमानुष्ठायी भवेत्, तथा 'निद्रां च' निद्राप्रमादं च 'भिक्षु' सत्साधुः प्रमादाङ्गत्वान्न कुर्यात्, एतदुक्तं भवति-शब्दाश्रवनिरोधेन विषयप्रमादो निषिद्धो निद्रानिरोधेन च निद्राप्रमाद', चशब्दादन्यमपि प्रमादं विकथाकषायादिकं न विदध्यात् । तदेवं गुरुकुलवासात् स्थानशयनासनसमितिगुप्तिष्वागतप्रज्ञ प्रतिषिद्धसर्वप्रमाद. सन् गुरोरुपदेशादेव कथंकथमपि विचिकित्सां

टीकार्थ–ईर्य्यासमिति आदिसे युक्त साधुको जो करना चाहिये सो बताते है–कानोको मधुर लगनेवाले वीणा और वेणु आदिके शब्दोको अथवा कानोको अप्रिय लगनेवाले भयकर शब्दोंको सुनकर साधु उनमे आश्रव न करे । जो वस्तुको भला और बुरा रूपसे ग्रहण करता है उसे आश्रव कहते है, साधु उससे रहित हो जाय । आशय यह है कि–अनुकूल या प्रतिकूल शब्द साधुके कानमे पडे तो वह उनमे रागद्वेष न करता हुआ मध्यस्थवृत्ति धारण करके संयमका अनुष्ठान करे । तथा उत्तम साधु प्रमादके अङ्गरूप निद्राप्रमाद न करे । यहाँ शब्दरूप आश्रवका निरोध कहकर विषयप्रमादका निषेध किया है और निद्राका निरोध बताकर निद्रारूप प्रमादका निषेध किया है एव च शब्दसे दूसरे विकथा और कषाय आदि प्रमादोंको न करना चाहिये यह उपदेश किया है । इसप्रकार साधु गुरुकुलमे निवास करनेसे ही स्थान, शयन, आसन, समिति और गुप्तियोंमे विवेकयुक्त तथा सब प्रमादोंको छोडताहुआ गुरुके उपदेशसे ही चित्तके भ्रमसे भी पार हो जाता है । अथवा साधुके मनमे जो यह चिन्ता लगी रहती है कि "मेरे

-चित्तविप्लुतिरूपां [वि]तीर्ण -अतिक्रान्तो भवति, यदिवा मद्गृहीतोऽय पञ्च-महाव्रतभारोऽतिदुर्वह कथं कथमप्यन्तं गच्छेद् ?, इत्येवंभूतां विचिकित्सां गुरु-प्रसादाद्वितीर्णो भवति, अथवा यां काञ्चिच्चित्तविप्लुतिं देशसर्वगतां तां कृत्स्नां गुर्वन्तिके वसन् वितीर्णो भवति अन्येषामपि तदपनयनसमर्थः स्यादिति ॥६॥

द्वारा ग्रहण किया हुआ यह पाँच महाव्रतरूपी भार दुःखसे वहन करने योग्य है इसलिये यह वडी मुस्किलसे पार किया जा सकेगा" इसको वह गुरुकी कृपासे पार करजाता है। अथवा गुरुकुलमें निवास करनेवाला पुरुष देशसे या समस्तरूपसे जो कुछ सन्देह होता है उसे वह स्वयं पार हो जाता है और दूसरेके संन्देहको मिटानेमें भी समर्थ होता है। ६

ड रे वुड्ढेणऽणुसासिए उ, रातिणिएणावि समव्वएणं।
म्मं तयं थिरतो णाभिगच्छे, णिज्जंतए वावि अपारए से ॥७॥

छाया-दहरेण वृद्धेनानुशासितस्तु रत्नाधिकेनाऽपि समवयसा।
सम्यक्तया स्थिरतो नाभिगच्छेन्नीयमानो वाप्यपारगः सः ॥

अन्वयार्थ-(डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिए) किसी प्रकारका प्रमाद होनेपर छोटे या वडे साधुके द्वारा शिक्षा दिया हुआ (रातिणिएणावि समव्वएण) तथा अपनेसे प्रव्रज्यामें श्रेष्ठ अथवा समान अवस्थावाले पुरुषके द्वारा भूल सुधारने के लिये कहा हुआ जो पुरुष (सम्म तय थिरओ णाभिगच्छे) अच्छी तरह स्थिरताके साथ स्वीकार नहीं करता है (णिज्जत एवावि अपारएसे) वह ससारके प्रवाहमें वह जाता है। वह उसे पार करनेमें समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ-कभी प्रमादवश भूल होनेपर अपनेसे वडे छोटे अथवा प्रव्रज्यामें वडे या समान अवस्थावाले साधुके द्वारा भूल सुधारनेके लिये कहा हुआ जो साधु उसे स्वीकार न करके क्रोध करता है वह संसारके प्रवाहमे वह जाता है वह संसारको पार करनेमें समर्थ नहीं होता है।

किञ्चान्यत्-स गुर्वन्तिके निवसन् क्वचित् प्रमादस्खलित' सन् वय.पर्यायाभ्यां क्षुल्लकेन-लघुना 'चोदित' प्रमादाचरणं प्रति निषिद्धः, तथा 'वृद्धेन वा' वयोऽधिकेन श्रुताधिकेन वा 'अनुशासित' अभिहितः, तद्यथा-भवद्विधानामिदमीदृक् प्रमादाचरणमासेवितुमयुक्तं, तथा 'रत्नाधिकेन वा' प्रव्रज्यापर्यायाधिकेन श्रुताधिकेन

टीकार्थ-गुरुकुलमे निवास करता हुआ साधु यदि किसी विषयमे प्रमादवश भूल करता है तो उसको अवस्था अथवा पर्यायमें छोटा साधु प्रमाद करनेका निषेध करता है अथवा उससे शास्त्रमें अथवा अवस्थामे वडा साधु निषेध करता है, वह कहता है कि "आप जैसे योग्य पुरुषको इस प्रकार प्रमाद न करना चाहिये" तथा प्रव्रज्याके पर्य्यायमें अधिक या शास्त्रमें अधिक

२६

वा वयसा वा 'अनुशासितः' प्रमादस्खलिताचरणं प्रति चोदितः कुप्यति यथा अहमप्यनेन द्र प्रायेणोत्तमकुलप्रसूतः सर्वजनसंमत इत्येवं चोदित इत्येवमनुशास्यमानो न मिथ्यादुष्कृतं ददाति न सम्यगुत्थानेनोत्तिष्ठति नापि तदनुशा सम्यक् स्थिरतः-अपुनःकरणतयाऽभिगच्छेत्-प्रतिपद्येत, चोदितश्च प्र गोदयेद्, असम्यक् प्रतिपद्यमानश्चासौ संसारस्रोतसा 'नीयमान' उ ।नोऽनुशास्यमानः कुपितोऽसौ न संसारार्णवस्य पारगो भवति। यदिवाऽऽचार्यादिना सदुपदेशदा : ।दस्खलितनि नतो मोक्षं प्रति नीयमानोऽप्यसौ संसारसमुद्रस्य तदकरणतोऽपारग एव भवतीति ॥७॥

अथवा समान अवस्थावाले साधु उसे प्रमाद न करनेकी शिक्षा देते है। इसप्रकार शिक्षा दिया हुआ वह साधु यदि शिक्षा देनेवालेंके ऊपर क्रोध करता है और कहता है कि–"मै उत्तमकुलमें जन्मा हूं मुझे सबलोग मान देते है, मेरे जैसेको यह तुच्छ जीव इसप्रकार शिक्षा दे रहा है ?" इसप्रकार क्रोधित होकर वह अपने आचरणके लिये "मिच्छामि दुक्कड" नहीं देता है और फिर अपनेको सम्हालता नहीं है तथा उस शिक्षाको पाकर भी फिर भूल न करनेके लिये उस बातको मानता नहीं हैं और शिक्षा देनेवालेको प्रत्युत्तर देता है तो वह साधु संसारके प्रवाहमें वह जाता है। वह शिक्षा देनेपर क्रोध करता है इसलिये वह संसार सागरको पार करनेमें समर्थ नहीं होता है। अथवा आचार्य्य आदि उसे सदुपदेश देकर और प्रमादवश भूल करनेकी निवृत्तिकी शिक्षा देकर यद्यपि उसे मोक्षकी ओर लेजानेका प्रयत्न करते है तथापि वह उनकी शिक्षाके अनुसार आचरण न करनेके कारण संसार सागरको पार नही करता है। ७

विउट्ठितेणं मयाणुसिट्ठे, डहरेण वुड्ढे उ ोइए य।
अच्चुट्ठियाए घडदासि ए वा, गारिणं वा याणुसि ट्ठे ॥८॥

छाया–व्युत्थितेन समयानुशिष्टो दहरेण वृद्धेन तु चोदितश्च।
अत्युत्थितया घटदास्यावाऽगारिणां वा समयानुशिष्टः ॥

अन्वयार्थ–(विउट्ठितेण समयाणुसिट्ठे) शास्त्र विरुद्ध कार्य्य करनेवाले गृहस्थ तथा परतीर्थी आदिके द्वारा अर्हद्दर्शनके आचारकी शिक्षा दिया हुआ साधु (डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य) तथा अवस्थामें छोटे या वडेके द्वारा शुभ कार्य्यकी ओर प्रेरित किया हुआ (अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा) अथवा अत्यन्त निन्दनीय कर्म करनेवाली घटदासीके द्वारा भी धर्म कार्य्यका उपदेश किया हुआ (अगारिण वा समयाणुसिट्ठे) अथवा किसीके द्वारा यह कहा हुआ कि "यह कार्य्य तो गृहस्थके योग्यभी नहीं है फिर साधुओंकी तो बात ही क्या है ?" साधु क्रोध न करे।

भावार्थ–शास्त्रविरुद्ध कार्य्य करनेवाला गृहस्थ, परतीर्थी आदि तथा अवस्थामें छोटे या वडे

एवं अत्यन्त निन्दित घटदासी यदि साधुको शुभ आचरण करनेकी शिक्षा दे तो साधुको क्रोध न करना चाहिये ।

साम्प्रतं स्वपक्षचोदनानन्तरतः (रं)स्वपरचोदनामधिकृत्याह–विरुद्धोत्थानेनोत्थितो व्युत्थितः–परतीर्थिको गृहस्थो वा मिथ्यादृष्टिस्तेन प्रमादस्खलिते चोदित मयेन, तद्यथा–नैवंविधमनुष्ठानं भवतामागमे व्यवस्थितं येनाभिप्रवृत्तोऽसि, यदिवा व्युत्थित –संयमाद्भ्रष्टस्तेनापरः साधु. स्खलितः सन् स्वसमयेन–अर्हत्प्रणीतागमानुसारेणानुशासितो मूलोत्तरगुणाचरणे स्खलितः सन् 'चोदित' आगमं प्रदर्श्याभिहितः, तद्यथा–नैतत्त्वरितगमनादिकं भवतामनुज्ञातमिति, तथा अन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना 'क्षुल्लकेन' लघुतरेण वयसा वृद्धेन वा कुत्सिताचारप्रवृत्तश्चोदितः, तुशब्दात्समानवयसा वा तथा अतीवाकार्यकरणं प्रति उत्थिता अत्युत्थिताः, यद्विवा–दासीत्वेन अत्यन्तमुत्थिता दास्या अपि दासीति, तामेव विशिनष्टि–'घटदास्या' जलवाहिन्यापि चोदितो न क्रोध कुर्यात्, एतदुक्तं भवति–अत्युत्थितयाऽतिकुपितयाऽपि चोदितः स्वहितं मन्यमानः सुसाधुर्न कुप्येत्, किं पुनरन्येनेति ?, तथा 'अगारिणा' गृहस्थानां यः 'समयः अनुष्ठानं तत्समयेनानुशासितो, गृहस्थानामपि एतन्न युज्यते कर्तुं यदारब्धं भवतेत्येवमात्मावमेनापि चोदितो ममैवैतच्छ्रेय इत्येवं मन्यमानो मनागपि न मनो दूषयेदिति ॥८॥ एतदेवाह–

टीकार्थ–अपने पक्षवाले साधुओंके द्वारा दी हुई शिक्षा बतानेके पश्चात् अपने और दूसरे पक्षवालोंके द्वारा दी जानेवाली शिक्षाके विषयमें शास्त्रकार कहते है–जो शास्त्रविरुद्ध कार्य्य करता है उसे व्युत्थित कहते है वह परतीर्थी, गृहस्थ और मिथ्यादृष्टि है वे लोग साधुसे चूक होनेपर यदि साधुके सिद्धान्तका उपदेश करे और कहें कि–"आप जो आचरण कर रहे है वह आपके आगममे कहा नहीं है" अथवा सयमसे भ्रष्ट कोई पुरुष मूलगुण तथा उत्तरगुणके पालनमें चूके हुए साधुको तीर्थङ्करप्रणीत आगमका दाखला देकर शिक्षा दे और कहे कि–आपको जल्दी जल्दी चलना शास्त्रविहित नहीं है" तथा अन्य कोई मिथ्यादृष्टि, अवस्थामें छोटा या बडा तथा समान अवस्थावाला पुरुष निन्दनीय आचार करते हुए साधुको उत्तम आचारकी शिक्षा दे तथा जो दासीकी भी दासी है अर्थात् जो जलवहन किया करती है वहभी यदि साधुको शुभ आचार की शिक्षा दे तो साधुको क्रोध नहीं करना चाहिये । आशय यह है कि–अत्यन्त कुपित होकर दासी भी यदि उत्तम आचारकी शिक्षा दे तो साधु उसे अपना हित समझकर क्रोध न करे फिर दूसरे की शिक्षापर क्रोध करनेकी तो वातही क्या है ? । यदि कोई साधुको शिक्षा देता हुआ कहे कि–"जो कार्य्य आप करते है वह तो गृहस्थोंके योग्य भी नहीं है" इसप्रकार साधुको अपमानके साथ भी यदि अच्छी शिक्षा देवे तो साधु समझे कि इसीमे मेरा कल्याण है और यह समझकर थोडा भी मनमें दु ख न माने । ८ यही शास्त्रकार कहते है–

ेसु ज्झे ण पव्वहेज्जा, ण यावि किंची फरुसं वदे ा।
हा रिस्संति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं ण प ाय ा ॥९॥

छाया–नतेषु क्रुध्येन्न च प्रव्यथयेन्न चाऽपि किञ्चित्परुषं वदेत्।
तथा करिष्यामीति प्रतिशृणुयात्, श्रेयः खलु ममेदं न प्रमादं कुर्य्यात्॥

अन्वयार्थ-(तेसु ण कुज्झे) पूर्वोक्त रूपसे शिक्षा देनेवालो पर साधु क्रोध न करे (ण य पव्वहेज्जा) तथा उन्हें पीडित न करे (णयावि किंचि फरुस वदेज्जा) एव उन्हें कटु शब्द न कहे (तहा करिस्सति पडिसुणेज्जा) किन्तु मै अवसे ऐसाही करूंगा यह साधु प्रतिज्ञा करे (सेय खुमेय) और वह यह समझेकि इसमें मेराही कल्याण है (न प्पमाय कुज्जा) इस लिये प्रमाद न करे।

भावार्थ–पूर्वोक्त प्रकारसे शिक्षा दिया हुआ साधु शिक्षा देनेवालों पर क्रोध न करे तथा उन्हें पीडित न करे एवं कटु वचन न कहे किन्तु "अब मै ऐसाही करूगा" ऐसी प्रतिज्ञा करता हुआ साधु प्रमाद न करे।

'तेषु' स्वपरपक्षेषु स्खलितचोदकेष्वात्महितं मन्यमानो न क्रुध्येद् अन्यस्मिन् वा दुर्वचनेऽभिहिते न कुप्येद् एव च चिन्तयेत्–'आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या। यदि सत्य कः कोपः? स्यादनृतं किं नु कोपेन?॥१॥' तथा नाप्यपरेण स्वतोऽधमेनापि चोदितोऽर्हन्मार्गानुसारेण लोकाचारगत्या वाऽभिहितः परमार्थं पर्यालोच्य तं चोदकं प्रकर्षेण 'व्यथेत्' दण्डादिप्रहारेण पीडयेत् न चापि किञ्चित्परुषं तत्पीडादिकारि 'वदेत्' ब्रूयात्, ममैवायमसदनुष्ठायिनो दोषो येनायमपि मामेवं चोदयति, चोदितश्चैवंविधं भवता असदाचरणं न विधेयमेवंविधं च

टीकार्थ–साधुसे संयमपालनमे भूल होनेपर अपने पक्षवाले अथवा अन्यपक्षवाले यदि उसकी भूल बतावें तो उसीमें अपना हित समझकर साधु बतानेवालो पर क्रोध न करे, यदि वे किसी प्रकारका दुर्वचन कहे तो भी साधु क्रोध न करे किन्तु यह विचार करे कि–(आक्रुष्टेन) किसीके द्वारा की जातीहुई अपनी निन्दाको सुनकर बुद्धिमान् पुरुष सत्य बातके अन्वेषणमे अपनी बुद्धि लगावे और यह समझे कि यदि यह निन्दा सची है तो फिर क्रोध क्यो करना चाहिये? और यदि मिथ्या है तो भी क्रोधकी क्या आवश्यकता है?। अपनेसे छोटा मनुष्य भी यदि जिनमार्गकी शिक्षा दे अथवा लोकाचारके विषयमे कुछ कहे तो साधु परमार्थको विचार करके दण्ड आदिके प्रहारसे कहनेवालोंको पीडित न करे तथा कटुवचन कहकर उसको सन्तप्त भी न करे किन्तु वह यह समझे कि–"मेराही असत् अनुष्ठानका यह फल है जिससे यह मुझको ऐसी प्रेरणा करता है। यदि शिक्षा देनेवाला वह पुरुष यह कहे कि–"आपको ऐसा अनुचित आचरण न करना चाहिये किन्तु पूर्वके ऋषियोंसे आचरित अमुक मार्गका अनुष्ठान करना चाहिये"

कुपितव्यम्, अपितु ममायमनुग्रह इत्येवं मन्तव्यं, यदेतद् बुद्धाः सम्यगनुशासयन्ति सन्मार्गेऽवतारयन्ति पुत्रमिव पितर तन्ममैव श्रेय इति मन्तव्यम् ॥१०॥

करना चाहिये किन्तु इस पुरुपने मेर पर कृपा की है यह मानना चाहिये। तथा उसको यह समझना चाहिये कि जैसे पिता अपने पुत्रको अच्छे मार्गकी शिक्षा देता है इसीतरह ये वृद्धलोग मुझको सन्मार्गसे चलनेकी शिक्षा देते हैं अत. इसमें मेराही कल्याण है। १०

तेण मूढेण मूढगस्स, कायव्व पूया सविसेसजुत्ता।
एओवमं तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थं उवणेति सम्मं ॥११॥

छाया—अथ तेन मूढेनामूढस्य, कर्त्तव्या पूजा सविशेषयुक्ता।
एतामुपमां तत्रोदाहृतवान् वीरः, अनुगम्यार्थ मुपनयति सम्यक् ॥

अन्वयार्थ—(अह तेण मूढेण) इसके पश्चात् उस मूढ पुरुषको (अमूढगस्स सविसेसजुत्ता पूया कायव्व) अमूढ पुरुषकी विशेषरूप से पूजा करनी चाहिये। (तत्थ वीरे एओवम उदाहु) इस विषयमें वीर प्रभुने यही उपमा बताई है (अत्थ अणुगम्म सम्म उवणेति) पदार्थको समझकर प्रेरणाके उपकारको साधु अपनेमें स्थापित करे।

भावार्थ—जैसे मार्गभ्रष्ट पुरुष मार्ग वतानेवालेकी विशेषरूपसे पूजा करता है इसीतरह सन्मार्गका उपदेश देनेवाले पुरुषका संयमपालनमे भूल करनेवाला साधु विशेषरूपसे सत्कार करे और उसके उपदेशको हृदयमे स्थापित करके उसका उपकार माने यही उपदेश तीर्थङ्कर और गणधरोंने दिया है।

पुनरप्यस्यार्थस्य पुष्ट्यर्थमाह—'अथे' त्यानन्तर्यार्थे वाक्योपन्यासार्थे वा, यथा 'तेन' मूढेन सन्मार्गावतारितेन तदनन्तरं तस्य 'अमूढस्य' सत्पथोपदेष्टुः पुलिन्दादेरपि परमुपकार मन्यमानेन पूजा विशेषयुक्ता कर्तव्या, एवमेतामुपमाम् 'उदाहृतवान्' अभिहितवान् 'वीर' तीर्थकरोऽन्यो वा गणधरादिकः 'अनुगम्य' बुद्ध्वा 'अर्थं' परमार्थं चोदनाकृतं परमोपकारं सम्यगात्मन्युपनयति, तद्यथा—अहमनेन मिथ्या-

टीकार्थ—फिरभी शास्त्रकार इसी अर्थकी पुष्टिके लिये कहते है—यहाँ 'अथ' शब्द पश्चात् अर्थमे अथवा वाक्यके आरम्भ अर्थमें आया है। जैसे अच्छे मार्गमे उतारे हुए मूढ पुरुपको अच्छे मार्गकी शिक्षा देनेवाले किरात आदिकी भी परम उपकार मानकर विशेषरूपसे पूजा करनी चाहिये इसी तरह भूल करनेवाले साधुको धर्मोपदेशकका सत्कार करना चाहिये। तीर्थङ्कर वीर तथा दूसरे गणधरोंने इस विषयमे यही उपमा बताई है। सयमपालनमे भूल करनेवाला साधु सन्मार्गकी शिक्षा देनेवालेके उपदेशको अच्छीतरह समझकर उसके शिक्षाजनित परम उपकारको अपने हृदयमे स्थापित करे और यह समझे कि—"इस पुरुपने मुझको उत्तम उपदेश देकर जन्म, जरा और मरण आदि अनेक उपद्रवोसे भरे हुए मिथ्यात्वरूपी वनसे पार किया है इस

'सूर्यस्य' आदित्यस्याभ्युद्गमेनापनीते तमसि प्रकाशिते दिक्चक्रे सम्यगाविर्भूते पाषाणदरीनिम्नोन्नतादिके मार्गं जानाति-विवक्षितप्रदेशप्रापकं पन्थानमभिव्यक्तचक्षुः परिच्छिनत्ति-दोषगुणविचारणतः सम्यगवगच्छतीति ॥१२॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याह—

करनेमें समर्थ नहीं होता है परन्तु वही पुरुष सूर्य्यके उदय होनेपर जब अन्धकार हट जाता है और दिशाये प्रकाशित हो जाती है तथा पत्थर, कन्दरा एव नीचा ऊँचा स्थान साफ साफ दीखाई देने लगते है तव इष्ट स्थानको पहुँचानेवाले मार्गको गुण दोष विचार कर निश्चित कर लेता है क्योकि उस समय उसके नेत्रकी शक्ति प्रकट हो जाती है। १२ इसप्रकार दृष्टान्त बताकर अब शास्त्रकार दार्ष्टान्त बताते है—

एवं तु सेहेवि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाइ अबुज्झ णे।
से कोविए जि वयणेण पच्छा, सूरोदए पासति चक्खुणेव॥१३॥

छाया—एवन्तु शिष्योऽप्यपुष्टधर्मा, धर्म न जानात्यबुध्यमानः।
स कोविदो जिनवचनेन पश्चात् सूर्योदये पश्यति च षेव॥

अन्वयार्थ—(एव तु अपुट्ठधम्मे सेहेवि) इसी तरह धर्ममें अनिपुण शिष्यभी (अबुज्झमाणे धम्मं न जाणाइ) सूत्रार्थको न समझता हुआ धर्मको नहीं जानता है। (से जिणवयणेण कोविए) परन्तु वही शिष्य जिनवाक्योका विद्वान् होकर (पच्छा सूरोदए चक्खुणेव पासति) पश्चात् इस प्रकार धर्मको जान लेता है जैसे सूर्य्योदय होनेपर नेत्रके द्वारा पदार्थोंको देखता है।

भावार्थ—सूत्र और अर्थको न जाननेवाला धर्ममे अनिपुण शिष्य धर्मके स्वरूपको नहीं जानता है परन्तु वह जिनवचनोंका ज्ञाता होकर इसप्रकार धर्मको जानलेता है जैसे सूर्य्योदय होनेपर नेत्रके द्वारा घटपटादि पदार्थोंको जानलेता है।

यथा ह्यसावन्धकारावृतायां रजन्यामतिगहनायामटव्यां मार्गं न जानाति सूर्योद्गमेनापनीते तमसि पश्चाज्जानाति एवं तु 'शिष्यकः' अभिनवप्रव्रजितोऽपि सूत्रार्थानिष्पन्न' अपुष्टः-अपुष्कलः सम्यगपरिज्ञातो धर्मः-श्रुतचारित्राख्यो दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावो येनासावपुष्टधर्मा, स चागीतार्थः-सूत्रार्थानभिज्ञत्वादबुध्यमानो धर्म

टीकार्थ—जैसे मार्गको जाननेवाला पुरुप अँधेरी रातमे अत्यन्त गहन जङ्गलमे मार्गको नहीं जानता है किन्तु सूर्य्योदय होनेसे अन्धकार हट जानेपर मार्गको जानलेता है इसीतरह नवीन प्रव्रज्या धारण किया हुआ शिष्य भी सूत्र अर्थके ज्ञानमे अनिपुण होनेके कारण दुर्गतिमे जातेहुए प्राणियोंको दुर्गतिसे रक्षा करनेवाले श्रुत और चारित्रधर्मको अच्छीतरहसे नहीं जानता है। वह गीतार्थ नहीं है इसलिये सूत्रार्थ न जाननेके कारण अबोध है अत वह धर्मको अच्छीतरहसे

न जानातीति-न सम्यक् परिच्छिनत्ति, स एव तु पश्चाद्गुरुकुल जिनवचनेन 'कोविद.' अभ्यस्तसर्वज्ञप्रणीतागमत्वान्निपुणः सूर्योदयेऽप ावरणश्चक्षुषेव यथावस्थितान् जीवादीन् पदार्थान् पश्यति, इदमुक्तं भवति-यथा हि इन्द्रियार्थसंपर्कात्साक्षात्कारितया परिस्फुटा पटादय' पदार्थाः प्रतीयन्ते एवं सर्वज्ञप्रणीतागमे पि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्वर्गापवर्गदेवतादयः परिस्फुटा निःशङ्कं प्रतीयन्त इति । अपिच कदाचिच्चक्षुषाऽन्यथाभूतोऽप्यर्थोऽन्यथा परिच्छिद्यते, तद्यथा- -मरीचिकानिचयो जलभ्रान्त्या किंशुकनिचयोऽग्न्याकारेणापीति । सर्वज्ञ ीतस्यागमस्य क्वचिदपि व्यभिचारः, तद्व्यभिचारे हि सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्गात्, [1]तत्संभवस्य चासर्वज्ञेन प्रतिषेद्धुमशक्यत्वादिति ॥१३॥

नहीं जानता है परन्तु वही शिष्य गुरुकुलमें सर्वज्ञप्रणीत आगमका अभ्यास किया हुआ धर्ममें निपुण होकर जीवादि पदार्थोंको इसप्रकार देखता है जैसे सूर्य्योदय होनेपर नेत्रके द्वारा पदार्थों को देखता है । भाव यह है कि जैसे इन्द्रिय और पदार्थोंके संयोगसे घटपटादि पदार्थ साफ साफ दीखाई देते है इसीतरह सर्वज्ञप्रणीत आगमके द्वारा भी सूक्ष्म, व्यवहित, और दूरवर्त्ती स्वर्ग मोक्ष तथा देवता आदि पदार्थ साफ साफ नि.शंक प्रतीत होते है। यद्यपि कभी कभी नेत्रके द्वारा दूसरे प्रकारका पदार्थ दूसरे तरहका प्रतीत होता है जैसे मरुमरीचिका (मरुदेशमें सूर्य्यकी किरणें) जलरूपसे प्रतीत होती है और पलाशकी पुष्पराशि अग्निरूपसे जाननेमें आती है तथपि सर्वज्ञप्रणीत आगममें कहीं भी फर्क नहीं पड़ता है क्योकि फर्क पडनेपर सर्वज्ञता नहीं रहती है । सर्वज्ञके कहेहुए पदार्थोंको असर्वज्ञ पुरुष निषेध नहीं करसकता है । १३

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावरा जे य पाणा ।
या ए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओसं अवि ंपमाणे ॥१४॥

छाया-ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः ।
सदा यतस्तेषु परिव्रजेत् मनाक् प्रद्वेषमविकम्पमानः ॥

अन्वयार्थ-(उड्ढ अहेय तिरिय दिसासु) ऊपर, नीचे, और तिरिछे दिशाओंमें (तसा य जे थावरा जे य पाणा) जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं (तेसु सया जए परिव्वएज्जा) उनमें सदा यत्नपूर्वक सयम पालन करे (मणप्पओस अविकपमाणे) तथा उनमें थोडाभी द्वेष न करता हुआ संयममें निश्चल रहे ।

भावार्थ—ऊपर नीचे तथा तिरच्छे दिशाओंमें जो त्रस और स्थावर प्राणी निवास करते है उनकी हिंसा जिसमे न हो ऐसा यत्न करता हुआ साधु संयमपालन करे तथा मनसे भी उनके प्रति द्वेष न करता हुआ सयममे दृढ रहे ।

१ सर्वज्ञप्रणीतागमोक्तपदार्थसंभवस्य, सर्वज्ञसंभवस्येति वा ।

शिक्षको हि गुरुकुलवासितया जिनवचनाभिज्ञो भवति, तत्कोविदश्च सम्यक् मूलोत्तरगुणान् जानाति, तत्र मूलगुणानधिकृत्याह-ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् दिक्षु विदिक्षु चेत्यनेन क्षेत्रमङ्गीकृत्य प्राणातिपातविरतिरभिहिता, द्रव्यतस्तु दर्शयति-त्रस्यन्तीति त्रसाः-तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च, तथा ये च स्थावराः-स्थावरनामकर्मोदयवर्तिनः पृथिव्यब्वनस्पतयः, तथा ये चैतद्भेदाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकरूपा दशविध-प्राणधारणात्प्राणिनस्तेषु, 'सदा' सर्वकालम्, अनेन तु कालमधिकृत्य विरतिरभि-हिता, यतः परिव्रजेत्-परिसमन्तादव्रजेत् संयमानुष्ठायी भवेत्, भावप्राणातिपात-विरतिं दर्शयति-स्थावरजङ्गमेषु प्राणिषु तद ारे उपकारे वा मनागपि सा प्रद्वेषं न गच्छेद् आस्तां तावद्दुर्वचनदण्डप्रहारादिकं, तेष्वपकारिष्वपि मनसाऽपि नामङ्गलं चिन्तयेद्, 'अविकम्पमानः' संयमादचलन् सदाचारमनुपालयेदिति, तदेवं योगत्रिककरणत्रिकेण द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपां प्राणातिपातविरतिं सम्यगरक्तद्विष्टतया-ऽनुपालयेद्, एवं शेषाण्यपि महाव्रतान्युत्तरगुणांश्च ग्रहणासेवनाशिक्षा न्वितः सम्यगनुपालयेदिति ॥१४॥

टीकार्थ—शिष्य गुरुकुलमें निवास करके जिनवचनोका ज्ञाता हो जाता है और जिनवचनोका ज्ञाता होकर मूल और उत्तरगुणोंको अच्छीतरहसे जान लेता है, उनमें मूलगुणोंके विषयमें शास्त्रकार कहते है—इस गाथामें ऊपर नीचे तथा तिरिच्छी दिशा और विदिशाओंमें रहनेवाले प्राणियोंकी हिसाका निषेध करके क्षेत्र प्राणातिपातसे विरत होनेका उपदेश किया है अब द्रव्य-प्राणातिपातसे विरत होनेका उपदेश करते है—जो भय पाते है वे त्रस कहलाते है वे तेज वायु और द्वीन्द्रिय आदि है तथा जो स्थावरनाम कर्मके उदयमें वर्तमान है ऐसे पृथिवी, जल और वनस्पति तथा उनके भेद सूक्ष्म, बादर, पर्य्याप्त और अपर्य्याप्त स्थावर कहलाते है। ये दश प्रकारके प्राणोको धारण करते है इसलिये प्राणी कहलाते है इन प्राणियोंकी सब कालमें रक्षा करता हुआ साधु यत्नपूर्वक संयमका अनुष्ठान करे। यहां सब कालमें प्राणियोकी रक्षाका उपदेश देकर शास्त्रकारने कालप्राणातिपातसे विरतिका कथन किया है अब भावप्राणातिपातसे विरतिका उपदेश करते है—स्थावर या जङ्गम प्राणी अपना उपकार करें अथवा अपकार करें परन्तु साधुको उनपर थोडा भी मनमे द्वेप न लाना चाहिये फिर उन्हें दुर्वचन कहना तथा डंडेसे मारने आदि की तो वात ही क्या है [१]। वे यदि अपकार करें तो भी उनके अमङ्गलकी कामना मनसे भी न करनी चाहिये। इसप्रकार सयमसे विचलित न होता हुआ साधु सदाचारको पालन करे तथा पूर्वोक्त प्रकारसे तीन योग और तीन करणोंसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप प्राणातिपातविरति को साधु रागद्वेपरहित होकर पालन करे एव ग्रहण तथा आसेवना शिक्षासे युक्त होकर शेप महाव्रत तथा उत्तरगुणोको साधु अच्छीतरहसे पालन करे। १४

१ ममोपकारे चाद्ये वा दुरायतिके स्वस्य, अन्यथोपकारे द्वेपासम्भवात्।

कालेण पुच्छे   मियं पयासु, आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं।
ोय ारी पुढो पवेसे, सं ा इमं केवलियं समाहिं ॥१५॥

छाया–कालेन पृच्छेत्समितं प्रजासु, आचक्षमाणो द्रव्यस्य वित्तम्।
तच्छ्रोत्रकारी पृथक् प्रवेशयेत्, संख्यायेमं कैवलिकं समाधिम्॥

अन्वयार्थ–(कालेण पयासु समिय पुच्छे) साधु अवसर देखकर सदाचारी आचार्य्यसे प्रजाओंके विषयमें पूछे (दवियस्स वित्त आइक्खमाणो) सर्वज्ञके आगमको बतानेवाले आचार्य्यकी साधु पूजा करे। (त सोयकारी पुढो पवेसे) तथा आचार्य्यकी आज्ञा मानता हुआ उसके उपदेशको हृदयमें स्थापित करे। (इम केवलिय समाहिं सखा) तथा आगे कहे जानेवाले केवलीके सन्मार्गको अच्छी तरह समझकर उसे हृदयमें धारण करे।

भावार्थ–साधु अवसर देखकर सदाचारी आचार्य्यसे प्राणियोंके सम्बन्धमें प्रश्न करे और सर्वज्ञके आगमका उपदेश करनेवाले आचार्य्यका सन्मान करे तथा आचार्य्यकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करताहुआ साधु आचार्य्यके द्वारा कहे हुए केवली सम्बन्धी ज्ञानको सुनकर उसे हृदयमे धारण करे।

गुरोरन्तिके वसतो विनयमाह–सूत्रमर्थं तदुभयं वा विशिष्टेन–प्रष्टव्यकालेनाचार्यादिरवसरं ज्ञात्वा प्रजायन्त इति प्रजा–जन्तवस्तासु प्रजासु–जन्तुविषये चतुर्दशभूतग्रामसंबद्धं कश्चिदाचार्यादिकं सम्यगितं–सदाचारानुष्ठायिनं सम्यक् वा समन्ताद्वा जन्तुगतं पृच्छेदिति। स च तेन पृष्ट आचार्यादिराचक्षाणः शुश्रूषयितव्यो   ति, यदाचक्षाणस्तद्दर्शयति–मुक्तिगमनयोग्यो भव्यो द्रव्यं रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यं तस्य द्रव्यस्य–वीतरागस्य वा वृत्तम्–अनुष्ठान संयमं ज्ञानं वा तत्प्रणीतमं वा सम्यगाचक्षाणः सपर्ययाऽय माननीयो भवति। कथमित्याह–'तद्' आचार्यादिना कथितं श्रोत्रे–कर्णे कर्तुं शीलमस्य श्रोत्रकारी–यथोपदेशकारी आज्ञाविधायी सन् पृथक् पृथगुपन्यस्तमादरेण हृदये प्रवेशयेत्–चेतसि व्यवस्थापयेत्,

टीकार्थ–अब शास्त्रकार गुरुके निकट निवास करनेवाले शिष्यके विनयकी शिक्षा देते है–गुरुकुलमे निवास करनेवाला शिष्य, प्रश्न करने योग्य कालको देखकर सदाचारका अनुष्ठान करनेवाले गुरुसे जन्म धारण करनेवाली प्रजाओके विषयमे अर्थात् चौदह प्रकारके जीवोके सम्बन्धमे सूत्र अर्थ अथवा दोनों ही पूछे। शिष्यके प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य्यका शिष्य सम्मान करे। जो शिक्षा आचार्य्य देता है उसे शास्त्रकार दिखाते है–मुक्तिजाने योग्य भव्य पुरुषको द्रव्य कहते है अथवा जो पुरुष रागद्वेषरहित है उसे द्रव्य कहते है वह वीतराग अथवा तीर्थङ्कर है उनके अनुष्ठान यानी संयम, ज्ञान, अथवा उनके आगमकी शिक्षा देनेवाले आचार्य्यका वह शिष्य पूजाके द्वारा सत्कार करे। किस प्रकार सत्कार करे? सो बताते है–आचार्य्यके द्वारा किये हुए उपदेशको वह शिष्य अपने कानोमे करे अर्थात् वह आचार्य्यके उपदेशका अनुष्ठान करता हुआ उसकी आज्ञा पालन करे तथा उसके उपदेशको अपने हृदयमे स्थापित करे। अत्र

स्थापनीयं दर्शयति-'संख्याय' सम्यक् ज्ञात्वा 'इम' मिति वक्ष्यमाणं केवलिन इदं कैवलिकं-केवलिना कथितं समाधि-सन्मार्ग सम्यग्ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमाचार्यादिना कथितं यथोपदेशं प्रवर्तकः पृथग् विविक्तं हृदये पृथग्व्यवस्थापयेदिति ॥१५॥

शास्त्रकार हृदयमें स्थापन करने योग्य विषयका उपदेश करते है-आगे कहाजानेवाला जो केवली सम्बन्धी मोक्षमार्गरूप सम्यग्ज्ञान आदि सन्मार्ग है उसे आचार्य्यके द्वारा सुनकर तथा समझकर उस उपदेशके अनुसार प्रवृत्ति करता हुआ साधु उसे अपने हृदयमें पवित्रताके साथ स्थापित करे। १५

अस्सिं सुठि ा तिविहेण तायी, एएसु या ंति निरोह ाहु।
ते एव क ंति तिलोगदंसी, ण भुज्ज ेयंति पमायसंगं ॥१६॥

छाया-अस्मिन् सुस्थाय त्रिविधेन त्रायी, एतेषु च शान्ति निरोधमाहुः।
तएव माचक्षते त्रिलोकदर्शिनः न भूय एतन्तु प्रमादसङ्गम् ॥

अन्वयार्थ-(अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी) गुरुने जो उपदेश दिया है उसमें अच्छी तरह निवास करता हुआ साधु मन वचन और कायसे सब प्राणियोकी रक्षा करे। (एएसु या सति निरोह माहु) समिति और गुप्ति के पालनसे ही शान्ति और कर्मोका क्षय होना सर्वज्ञोंने कहा है। (तिलोगदसी ते एव मक्खति) त्रिलोकदर्शी वे पुरुष यह कहते हे कि (ण भुज्जमेयति पमायसग) साधु को फिर कभी प्रमादका सङ्ग न करना चाहिये।

भावार्थ-गुरुके उपदेशमें अच्छीतरह निवास करता हुआ साधु मन, वचन और कायसे प्राणियोंकी रक्षा करे इसप्रकार समिति और गुप्तिके पालनसे ही सर्वज्ञोने शान्तिलाभ और कर्मोका क्षय होना बताया है। वे त्रिलोकदर्शी पुरुप कहते है कि साधु फिर कभी प्रमादका सङ्ग न करे।

किंचान्यत्-'अस्मिन्' गुरुकुलवासे निवसता यच्छ्रुतं श्रुत्वा च सम्यक् हृदयव्यवस्थापनद्वारेणावधारितं तस्मिन् समाधिभूते मोक्षमार्गे सुष्ठु स्थित्वा 'त्रिविधेने'ति मनोवाक्कायकर्मभिः कृतकारितानुमतिभिर्वाऽऽत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी जन्तूनां सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीलो वा तस्य स्वपरत्रायिणः, एतेषु च समितिगुप्त्यादिषु समाधिमार्गेषु स्थितस्य शान्तिर्भवति-अशेषद्वन्द्वोपरमो भवति तथा

टीकार्थ-गुरुकुलमे निवास करतेहुए शिष्यने जो उपदेश गुरुसे सुना है और सुनकर अपने हृदयमे अच्छीतरह निश्चित किया है उस समाधिरूप मोक्षमार्गमे अच्छीतरह रहकर मन वचन और कायसे तथा करने कराने और अनुमति देनेरूप तीनो करणोसे अपनी रक्षा करे अथवा सदुपदेश देकर दूसरे प्राणियोकी रक्षा करे। इसप्रकार जो साधु अपना तथा दूसरेकी रक्षा करता है तथा इन समिति और गुप्ति आदि समाधिमार्गमें अच्छीतरह स्थित रहता है उसे शान्ति प्राप्त होती है उसके सब द्वन्द्व निवृत्त हो जाते है एवं उसके सम्पूर्ण दुःखोका क्षय

निरोधम्-अशेषकर्मक्षयरूपम् 'आहुः' तद्विदः प्रतिपादितवन्तः, क एवमाहुरित्याह-त्रिलोकम्-ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणं द्रष्टुं शीलं येषां ते त्रिलोकदर्शिनः-तीर्थकृतः सर्वे शास्ते 'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या सर्वभावान् केवलालोकेन दृष्ट्वा 'आचक्षते' प्रतिपादयन्तीति । एतदेव समितिगुप्त्यादिकं संसारोत्तारणसमर्थं ते त्रिलोकदर्शिनः कथितवन्तो न पुनर्भूय एतं (नं) 'प्रमादसङ्गं' मद्यविषयादिकं संवन्धं 'विधेयत्वेन प्रतिपादितवन्तः ॥१६॥ किञ्चान्यत्—

हो जाता है इसप्रकार इन बातोको जाननेवाले पुरुष कहते है । इन बातोको बतानेवाले कौन है ? सो शास्त्रकार कहते है—जो पुरुष ऊपर नीचे और तिरच्छा रहनेवाले पदार्थोंको देखते है वे त्रिलोकदर्शी सर्वज्ञ तीर्थङ्कर केवल ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंको देखकर पूर्वोक्त बातोका उपदेश करते है । उन सर्वज्ञ पुरुषोने समिति गुप्ति आदिको ही संसारसे पार करनेमें समर्थ बताया है परन्तु मद्य और विषयसेवन आदिको नहीं । १६

नि म से भिक्खु समीहियट्ठं, पडिभाणवं होइ विसारए य ।
आ ाणअट्ठी वोदाणमोणं, उवेच्च सुद्धेण उवेति मोक्खं ॥१७॥

छाया—निशम्य स भिक्षुः समीहितार्थं, प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।
आदानार्थी व्यवदानमौन मुपेत्य शुद्धेनोपैति मोक्षम् ॥

अन्वयार्थ-(से भिक्खु) गुरुकुलमें निवास करनेवाला वह साधु, (निसम्म समीहियट्ठ) साधुके आचारको सुनकर तथा मोक्षरूपी इष्ट अर्थको जानकर (पडिभाणव विसारए होइ) बुद्धिमान् और अपने सिद्धान्तका वक्ता हो जाता है (आयाण अट्ठी) सम्यग्ज्ञान आदि अथवा मोक्ष से प्रयोजन रखनेवाला वह साधु (वोदाणमोण उवेच्च) तप और सयमको प्राप्त करके (सुद्धेण मोक्ख उवेति) शुद्ध आहारके द्वारा मोक्षको प्राप्त करता है ।

भावार्थ—गुरुकुलमे निवास करनेवाला साधु उत्तम साधुके आचारको सुनकर और अपने इष्ट अर्थ मोक्षको जानकर बुद्धिमान् और अपने सिद्धान्तका वक्ता हो जाता है । तथा सम्यग्-ज्ञान आदिसे ही प्रयोजन रखता हुआ वह तप और संयमको प्राप्त करके शुद्ध आहारके द्वारा मोक्षको प्राप्त करता है ।

स गुरुकुलवासी भिक्षुः द्रव्यस्य वृत्तं 'निशम्य' अवगम्य स्वतः समीहितं चार्थं-मोक्षार्थं बुद्ध्वा हेयोपादेय सम्यक् परिज्ञाय नित्यं गुरुकुलवासतः 'प्रतिभान-वान्' उत्पन्नप्रतिभो भवति । तथा सम्यक् स्वसिद्धान्तपरिज्ञानाच्छ्रोतॄणा यथाव-

टीकार्थ—गुरुकुलमे निवास करनेवाला साधु मोक्षजाने योग्य साधुके आचारको सुनकर तथा अपने इष्ट अर्थ मोक्षको समझकर एवं त्यागकरने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको अच्छी तरह जानकर सदा गुरुकुलमे रहनेके कारण प्रतिभासे सम्पन्न हो जाता है । तथा वह साधु

स्थितार्थानां 'विशारदो भवति' प्रतिपादको भवति । मोक्षार्थिनाऽऽदीयत इत्यादानं-सम्यग्ज्ञानादिकं तेनार्थः स एव वाऽर्थः आदानार्थः स विद्यते यस्यासावादानार्थी, स एवंभूतो ज्ञानादिप्रयोजनवान् व्यवदानं-द्वादशप्रकारं तपो मौनं-संयम आश्रवनिरोधरूपस्तदेवमेतौ तपःसंयमावुपेत्य-प्राप्य ग्रहणासेवनरूपया द्विविधयापि शिक्षया समन्वितः सर्वत्र प्रमादरहितः प्रतिभानवान् विशारदश्च 'शुद्धेन' निरुपाधिना उद्गमादिदोषशुद्धेन चाहारेणात्मानं यापयन्नशेषकर्मक्षयलक्षणं मोक्षमुपैति 'न उवेइ मार'ति क्वचित्पाठः, बहुशो म्रियन्ते स्वकर्मपरवशाः प्राणिनो यस्मिन् स मारः-संसारस्तं जातिजरामरणरोगशोकाकुलं शुद्धेन मार्गेणात्मानं वर्तयन् न उपैति, यदिवा मरणं-प्राणत्यागलक्षणं मारस्त बहुशो नोपैति, तथाहि-अप्रतिपतितसम्यक्त्व उत्कृष्टतः [1]सप्ताष्टौ वा भवान् म्रियते नोर्ध्वमिति ॥१७॥

अपने सिद्धान्तका अच्छा ज्ञाता होकर श्रोताओको वस्तुस्वरूप बतानेमे निपुण हो जाता है । एव मोक्षार्थी पुरुष जिसे ग्रहण करते है उसको आदान कहते है वह सम्यग् ज्ञान आदि है उस सम्यग्ज्ञान आदिसे प्रयोजन रखता हुआ वह साधु बारह प्रकारके तप और आश्रवोका निरोधरूप सयमको प्राप्त करके अर्थात् ग्रहण और आसेवना शिक्षाके द्वारा तप और सयमसे युक्त होकर तथा उद्गमादि दोष रहित आहारसे अपना निर्वाह करता हुआ समस्त कर्मोका क्षय स्वरूप मोक्षको प्राप्त करता है । कही कही "न उवेइ मारं" यह पाठ मिलता है इसका अर्थ यह है-शुद्ध मार्गसे अपना निर्वाह करताहुआ साधु जिसमें प्राणिवर्ग अपने कर्मके आधीन होकर वार वार मरते है उस शोकसे पूर्ण संसारको नहीं प्राप्त करता है अथवा प्राणत्यागको मार कहते है उसको वह वार वार नही प्राप्त करता है क्योंकि सम्यक्त्वको न त्यागनेवाला वह पुरुष उत्कृष्ट सात आठ भवतक ही मृत्युको प्राप्त होता है उसके बाद नहीं । १७

संखाइ धम्मं च वियागरंति, बुद्धा हु ते अंत रा भवंति ।
ते पारगा दोण्हवि मोयणाए, संसोधितं पण्हमुदाहरंति ॥१८॥

छाया-संख्यया धर्मं व्यागृणन्ति, बुद्धाहि तेऽन्तकरा भवन्ति ।
ते पारगा द्वयोरपि मोचनया, संशोधितं प्रश्नमुदाहरन्ति ॥

अन्वयार्थ-(धम्म च सखाइ वियागरंति) गुरुकुलमें निवास करनेवाले पुरुष सद्बुद्धिसे स्वय धर्मको जानकर दूसरेको उपदेश करते हैं । (ते बुद्धा हु अतकरा भवति) तीनो कालको जननेवाले वे पुरुष कर्मोका अन्त करनेवाले होते हैं । (दोण्हवि मोयणाए ते पारगा) (वे अपने और

[1] अट्ठभवा उ चरित्ते इति वचनाचारित्रयुत सम्यक्त्व पर प्रतिपाति तदिति अप्रतिपतितसम्यक्त्व इति, जघन्याराधनया वा जन्मभिरष्टत्र्यैके इति वचनात्, सप्ताष्टाविति मनुष्यकायस्थित्यपेक्ष, सम्यक्त्वभवास्तु पल्योपमासङ्ख्यभागमिताः ।

दूसरे के कर्मपाशको छुडाकर ससारसे पार हो जाते है। (ससोधित पण्हमुदाहरति) वे सोच विचार कर प्रश्नोका उत्तर देते हैं।

भावार्थ—गुरुकुलमें निवास करनेवाले पुरुष सद्बुद्धिसे धर्मको समझकर दूसरेसे उसका उपदेश करते है। तथा तीनो कालोंको जाननेवाले वे पुरुष पूर्वसञ्चित कर्मोका अन्त करते हैं। वे पुरुष अपने और दूसरेको कर्मपाशसे मुक्त करके संसारसे पार हो जाते है। वे पुरुष सोच विचार कर प्रश्नका उत्तर देते हैं।

तदेवं गुरुकुलनिवासितया धर्मे सुस्थिता बहुश्रुताः प्रतिभानवन्तोऽर्थविशारदाश्च सन्तो यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह-सम्यक् ख्यायते-परिज्ञायते यया सा संख्या-सद्बुद्धिस्तया स्वतो धर्मं परिज्ञायापरेषां यथावस्थितं 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं 'व्यागृणन्ति' प्रतिपादयन्ति, यदिवा स्वपरशक्तिं परिज्ञाय पर्षदं वा प्रतिपाद्यं चार्थं सम्यगवबुध्य धर्मं प्रतिपादयन्ति। ते चैवंविधा बुद्धाः-कालत्रयवेदिनो जन्मान्तर-[illegible]नां कर्मणामन्तकरा भवन्ति अन्येषां च कर्मापनयनसमर्था भवन्तीति दर्शयति-ते यथावस्थितधर्मप्ररूपका 'द्वयोरपि' परात्मनोः कर्मपाशविमोचयना स्नेहादिनिगडविमोचनया वा करणभूतया संसारसमुद्रस्य पारगा भवन्ति। ते चैवंभूताः? 'सम्यक् शोधित' पूर्वोत्तराविरुद्धं 'प्रश्नं' शब्दमुदाहरन्ति, तथाहि-पूर्वं बुद्ध्या पर्यालोच्य कोऽयं पुरुषः कस्य चार्थस्य ग्रहणसमर्थोऽहं वा किंभूतार्थप्रतिपादनशक्त इत्येवं सम्यक् परीक्ष्य व्याकुर्यादिति, अथवा परेण कञ्चिदर्थं पृष्टस्तं प्रश्नं सम्यग्

टीकार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे गुरुकुलमें निवास करनेके कारण साधु धर्ममे दृढ, बहुश्रुत प्रतिभाशाली और पदार्थके ज्ञानमे निपुण होकर जो कार्य्य करते है उसे दिखानेके लिये शास्त्रकार कहते है—जिसके द्वारा अच्छीतरहसे पदार्थ जाना जाता है उसे संख्या कहते है। वह उत्तमबुद्धि है। उस उत्तमबुद्धिके द्वारा वह साधु चारित्ररूप धर्मके यथार्थ स्वरूपको बताता है। अथवा गुरुकुलमे निवास करनेवाले साधु अपनी और दूसरेकी शक्तिको जानकर अथवा सभा और प्रतिपादन करने योग्य अर्थको अच्छीतरह समझकर तब धर्मका प्रतिपादन करते है। इसप्रकारके पुरुष तीनो कालोंका ज्ञाता होकर जन्मान्तरके सचित कर्मोंका अन्त करते है और दूसरेके कर्मोंको दूर करनेमें भी समर्थ होते है, यही शास्त्रकार दिखलाते है—धर्मके यथार्थ स्वरूपकी व्याख्या करनेवाले वे पुरुष, अपने और दूसरे दोनोके कर्मरूपी पाशको छुडाकर अथवा स्नेहरूपी बेडीसे मुक्त होकर ससारसमुद्रके पारगामी होते हैं। ऐसे पुरुष अच्छीतरहसे शोधन करके पूर्व और परसे अविरुद्ध शब्दोंको बोलते हैं। वे अपनी बुद्धिसे पहले यह सोच लेते हैं कि—"यह पुरुष कौन है और यह किस पदार्थको समझ सकता है तथा मै कैसे अर्थको प्रतिपादन करनेमें समर्थ हू" इन बातोंको अच्छीतरह परीक्षा करके तब वे प्रश्नकी व्याख्या करते हैं। अथवा साधुसे यदि कोई पुरुष किसी पदार्थके विषयमें प्रश्न करे तो साधु

परीक्ष्योदाहरेत्-सम्यगुत्तरं दद्यादिति, तथा चोक्तम्-[1]"आयरियसयासा व धारिअत्थेण झरियमुणिपुणं। तो संघमज्झयारे ववहरिउं जे सुह होंति ॥१॥" तदेवं ते गीतार्था यथावस्थितं धर्मं कथयन्त स्वपरतारका भवन्तीति ॥१८॥

उस प्रश्नको अच्छीतरह समझकर तब उसका उचित उत्तर देवे, जैसाकि कहा है—आचार्य्यके पास पदार्थको निश्चय किया हुआ और स्मरण करनेमें निपुण विज्ञ पुरुष संघके मध्यमें सुखपूर्वक पदार्थकी व्याख्या कर सकता है। इसप्रकार धर्मके यथार्थ स्वरूपको बताते हुए गीतार्थ पुरुष अपने और दूसरेको ससारसागर से पार करते है। १८

णो ायए णोऽविय लू एज्जा, ाणं ण सेवे प णं च।
ण ावि प े परिहा ज्जा, ण ाऽऽसि यावाय वि ागरेज्जा १९

छाया—नो छादये न्नापिच लूसयेन्मानं न सेवेत प्रकाशनञ्च।
न चाऽपि प्राज्ञः परिहासं कुर्य्यान्न चाप्याशीर्वादं व्यागृणीयात् ॥

अन्वयार्थ-(णोछायए) प्रश्नका उत्तर देता हुआ साधु शास्त्रके अर्थको न छिपावे। (णोविय लूसएज्जा) तथा अपसिद्धान्त के द्वारा शास्त्रकी व्याख्या न करे। (माण ण सेवेज्जा) तथा मैंही सर्व शास्त्रका ज्ञाता हू ऐसा मान न करे। (पगासणच) तथा मै वडा विद्वान् हू तथा तपस्वी हू ऐसा प्रकाश न करे (पन्ने णवावि परिहास कुज्जा) बुद्धिमान् पुरुष श्रोताकी हसी न करे। (णया सियावाय वियागरेज्जा) तथा वह साधु किसीको आशीर्वाद न दे।

भावार्थ—प्रश्नका उत्तर देता हुआ साधु शास्त्रके अर्थको न छिपावे तथा अपसिद्धान्तका आश्रय लेकर शास्त्रकी व्याख्या न करे एवं मैं बडा विद्वान् तथा बडा तपस्वी हूं ऐसा अभिमान न करे तथा अपने गुणका प्रकाश भी न करे। किसी कारणवश श्रोता यदि पदार्थको न समझे तो उसकी हॅसी न करे तथा शाधु किसीको आशीर्वाद न दे।

स च प्रश्नमुदाहरन् कदाचिदन्यथापि ब्रूयादतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह-'स' - स्योदाहर्ता सर्वार्थाश्रयत्वाद्रत्नकरण्डकल्पः कुत्रिकापणकल्पो वा चतुर्दशपूर्विणामन्यतरो वा कश्चिदाचार्यादिभिः प्रतिभानवान्-अर्थविशारदस्तदेवंभूत· कुतश्चिन्निमित्तात्

टीकार्थ—प्रश्नका उत्तर देता हुआ वह साधु कदाचित् अन्यथा उत्तर न दे इसलिये उसका प्रतिपेध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—प्रश्नका उत्तर देनेवाला वह साधु समस्त पदार्थोंका आश्रय होनेके कारण चाहे रत्नकी पेटीके समान हो अथवा जिस बाजारमें तीनो लोकोंकी वस्तु मिलती है उसके समान सर्ववेत्ता हो अथवा चौदह पूर्वधारियोंमेसे कोई एक हो तथा आचार्य्यसे शिक्षा पाकर प्रतिभासम्पन्न और पदार्थज्ञानमें प्रवीण हो, ऐसा साधु किसी कारणवश यदि श्रोताके ऊपर कुपित हो तो भी वह सूत्रार्थको न छिपावे अर्थात् वह सूत्रकी अन्यथा

१ आचार्यसकाशाद् अवधारितेनार्थेन स्मारकेण ज्ञात्रा च तत सघमध्ये व्यवहर्तुं सुख भवति ॥१॥

किंनिमित्तमाशीर्वादो न विधेय इत्याह-भूतेषु-जन्तुषूपमर्दशङ्का ऽऽशीर्वादं 'सावद्यं' सपापं जुगुप्समानो न ब्रूयात् तथा गास्त्रायत इति गोत्रं-मौनं वाक्संयमस्तं 'मन्त्रपदेन' विद्यापमार्जनविधिना 'न निर्वाहयेत्' न निःसारं कुर्यात्। यदिवा गोत्र-जन्तूनां जीवितं 'मन्त्रपदेन' राजादिगुप्तभाषणपदेन राजादीनामुपदेशदानतो 'न निर्वाहयेत्' नापनयेत्, एतदुक्तं भवति-न राजादिना सार्धं जन्तुजीवितोपमर्दकं मन्त्रं कुर्यात्, तथा प्रजायन्त इति प्रजाः-जन्तवस्तासु प्रजासु 'मनुजो' मनुष्यो व्याख्यानं कुर्वन् धर्मकथां वा न 'किमपि' लाभपूजासत्कारादिकम् 'इच्छेद्' अभिलषेत्, तथा कुत्सितानाम्-असाधूनां धर्मान्-वस्तुदानतर्पणादिकान् 'न संवदेत्' न ब्रूयाद् यदिवा नासाधुधर्मान् ब्रुवन् संवादयेद् अथवा-धर्मकथां व्याख्यानं वा कुर्वन् प्रजास्वात्मश्लाघारूपां कीर्तिं नेच्छेदिति ॥२०॥ किञ्चान्यत्—

टीकार्थ—साधुको किस कारण आशीर्वाद न देना चाहिये सो शास्त्रकार बताते हैं—पापसहित वस्तुमे घृणा करताहुआ साधु प्राणियोके विनाशकी आशङ्कासे किसीको आशीर्वाद वाक्य न कहे। जो वाणीकी रक्षा करता है उसे गोत्र कहते है वह मौन अर्थात् वाक्संयम है उस वाक्संयमको साधु मन्त्रका प्रयोग करके निःसार न बनावे। अथवा प्राणियोंके जीवनको गोत्र कहते है उस जीवनको साधु राजा आदिके साथ गुप्त भाषण करके अर्थात् उपदेश देकर नाश न करे। आशय यह है कि—साधु, जिससे प्राणियोंका नाश हो ऐसा मन्त्र राजा आदिके साथ न करे। जन्तुओंको प्रजा कहते है उनके मध्यमे धर्मकी कथा कहता हुआ साधु उनसे लाभ, पूजा और सत्कार आदिकी इच्छा न करे तथा असाधुओका धर्म जो वस्तुदान तथा तर्पण आदि है उनका उपदेश साधु न करे। अथवा असाधुओके धर्मका उपदेश करनेवालेको साधु अच्छा न कहे अथवा धर्मकथा या व्याख्यान करता हुआ साधु प्रजाओमे अपनी कीर्त्तिकी इच्छा न करे। २०

हासं पि णो संधति पावधम्मे, ओए तहीयं फरुसं वियाणे।
णो तुच्छए णो य विकंथइज्जा, अणाइले या अक इ भिक्खू २१

छाया—हासमपि न संधयेत्पापधर्मान्, ओजस्तथ्यं परुषं विजानीयात्।
न तुच्छो न च विकत्थयेदनाकुलोवाऽकषायी भिक्षुः॥

अन्वयार्थ—(हासपि णो सधति) जिससे हसी उत्पन्न हो ऐसा कोई शब्द तथा शरीरादि व्यापार साधु न करे (पावधम्मे) तथा पापमय धर्मको हास्यसे भी न कहे। (ओए तहीयं फरुस वियाणे) राग द्वेष रहित साधु जो सत्य वचन दूसरे के चित्तको दुःखित करनेवाला है उसे न कहे। (णो तुच्छए णो य विकथइज्जा) साधु पूजा सत्कारको पाकर मान न करे तथा अपनी प्रशसा न करे। (अणाउले या अकलमाइ भिक्खू) तथा साधु सदा लोभादि और कषायोंसे रहित होकर रहे।

भावार्थ–जिससे हास्य उत्पन्न होता हो ऐसा शब्द तथा शरीर आदिका व्यापार साधु न करे तथा साधु हास्यसे भी पापमय धर्मको न कहे। रागद्वेषरहित साधु जो वचन दूसरेको दु खित करता है वह सत्य हो तो भी न कहे। एवं साधु पूजा सत्कार आदिको पाकर मान न करे और अपनी प्रशंसा न करे। तथा साधु सदा लोभ आदि और कषायोंसे रहित होकर रहे।

यथा परात्मनोर्हास्यमुत्पद्यते तथा शब्दादिकं शरीरावयवमन्यान् वा पापधर्मान् द्यान्मनोवाक्कायव्यापारान् 'न संधयेत्' न विदध्यात्, तद्यथा–इदं छिन्द्धि भिन्द्धि, तथा कुप्रावचनिकान् हास्यप्रायं नोत्प्रासयेत्, तद्यथा–शोभनं भवदीयं व्रतं, तद्यथा–'मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे। द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्ट॥१॥' इत्यादिकं परदोषोद्भावनप्रायं पापबन्धकमितिकृत्वा हास्येनापि न वक्तव्यं। तथा 'ओजो' रागद्वेषरहितः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थत्यागाद्वा निष्किञ्चन सन् 'तथ्य' मिति परमार्थतः सत्यमपि परुषं वचोऽपरचेतोविकारि ज्ञपरिज्ञया विजानीयात्प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरेत्, यदिवा रागद्वेषविरहादोजा 'तथ्यं' परमार्थभूतमकृत्रिममप्रतारकं 'परुषं' कर्मसंश्लेषाभावान्निर्ममत्वादल्पसत्त्वैर्दुरनुष्ठेयत्वाद्वा कर्कशमन्तप्रान्ताहारोपभोगाद्वा परुषं-संयमं 'विजानीयात्' तदनुष्ठानतः सम्यगवगच्छेत्, तथा स्वतः कश्चिदर्थविशेषं परिज्ञाय पूजासत्कारादिकं वाऽवाप्य 'न तुच्छो भवेत्' नोन्मादं गच्छेत्, तथा 'न विकत्थयेत्' नात्मानं श्लाघयेत् परं वा सम्यगनवबुध्यमान. 'नो विक-

---

टीकार्थ–जिससे अपनेको या दूसरेको हास्य उत्पन्न हो ऐसा कोई शब्द आदि तथा अपने अङ्ग या और कोई सावद्य मन, वचन और कायका व्यापार साधु न करे। जैसेकि–इसे छेदो इसे भेदो इत्यादि वाक्य साधु न बोले। एव साधु कुप्रावचनिकोकी हँसी न करे, जैसेकि–"आपका व्रत सुन्दर है क्योंकि "मुलायम शय्या पर शयन करना और सवेरे उठकर दूध पीना एवं दोपहरके समय भात खाना तथा सायंकालमे शर्वत पीना और आधीरातमे दाख खाना, इन बातोंसे ही शाक्यपुत्रने मोक्ष देखा है" इत्यादि बाते जो दूसरेके दोषोको प्रकट करनेवाली है तथा पापबन्धके कारण है उन्हें साधु हँसीमे भी न कहे। एव रागद्वेषरहित अथवा बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थिको त्याग देनेसे निष्किञ्चन साधु जो बात वस्तुत सत्य होनेपर भी दूसरेके चित्तको दु खित करनेवाली है उसे ज्ञपरिज्ञासे जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञासे त्याग करे। अथवा साधु रागद्वेपरहित होकर ओजस्वी बने और जो वस्तुत सत्य है यानी बनावटी नही है तथा किसीको धोखा देनेवाला नहीं है एवं कर्मके सम्बन्ध न होनेके कारण, तथा ममत्वरहित और अल्पपराक्रमी जीवसे अनुष्ठान न करने योग्य होनेके कारण जो कर्कश है अथवा अन्तप्रान्त आहारके उपभोगके कारण जो आचरण करनेमे कठिन है ऐसे संयमको अनुष्ठानके द्वारा अच्छीतरह जाने। साधु किसी अर्थविशेषको स्वय जानकर अथवा पूजासत्कार आदिको पाकर उन्मादको प्राप्त न हो।

त्थयेत्' नात्यन्तं च येत्, तथा 'अनाकुलो' व्याख्य वसरे ध थावसरे वाऽनाविलो लाभादिनिरपेक्षो भवेत्, तथा 'दा ' षायः' ायरहितो भवेद् 'भिक्षुः' साधुरिति ॥२१॥

तथा साधु आत्मप्रशंसा न करे अथवा अच्छीतरह जाने विना दूसरेकी अत्यन्त प्रशंसा न करे। एवं साधु धर्मकथाके समय लाभ आदिकी अपेक्षा न रखे तथा सदा कषायरहित होकर रहे। २१

ंकेज्ज याऽ ंवि भाव भि क्खू, वि वा ं च वि ा रेज्जा।
भा ादु ं धम्म द्वितेहिं, वि ागरेज्जा या प े ॥२२॥

छाया–शङ्केत चाशङ्कितभावो भि ः, विभज्यवादञ्च व्यागृणीयात्।
भाषाद्वयं धर्मसमुत्थितै र्व्यागृणीयात्समतया मज्ञः ॥

अन्वयार्थ–(असंकितभावभिक्खू) सूत्र और अर्थके विषयमें शङ्कारहितभी साधु (संकेज्ज) गर्व न करे। (विभज्जवाय च वियागरेज्जा) तथा स्याद्वादमय वचन बोले। (धम्मसमुट्ठितेहि भासादुय) तथा धर्माचरण करनेमें प्रवृत्त रहनेवाले साधुओंके साथ विचरता हुआ साधु सत्यभाषा और जो असत्य नहीं तथा मिथ्या नहीं है ऐसी भाषाओंको बोले। (समयासुपुन्ने वियागरेज्जा) उत्तमबुद्धिसम्पन्न साधु धनवान् और दरिद्र सबको समभावसे धर्म कहे।

भावार्थ–सूत्र और अर्थके विषयमें शङ्कारहित भी साधु शङ्कितसा वाक्य बोले। तथा व्याख्यान आदिके समय स्याद्वादमय वचन बोले। एवं धर्माचरण करनेमें प्रवृत्त रहनेवाले साधुओके साथ विचरता हुआ साधु सत्यभाषा और जो भाषा सत्य नही तथा मिथ्या भी नहीं है इन दोनो भाषाओको बोले। तथा धनवान् और दरिद्र दोनोंको समभावसे धर्म कहे।

साम्प्रतं व्याख्यानविधिमधिकृत्याह–'भिक्षु' साधुर्व्याख्यानं कु ं ग्दर्शित्वादर्थनिर्णयं प्रति अशङ्कितभावोऽपि 'शङ्केत' औद्धत्य परिहरन्नहमेवार्थस्य वेत्ता नापर कश्चिदित्येवं गर्वं न कुर्वीत किंतु विषममर्थं प्ररूपयन् साशङ्कमेव कथयेद्, यदिवा परिस्फुटमप्यशङ्कितभावमप्यर्थं न तथा कथयेत् यथा परः शङ्केत, तथा विभज्यवादं–पृथगर्थनिर्णयवादं व्यागृणीयात् यदिवा विभज्यवाद –स्याद्वादस्त सर्वत्रास्खलितं

टीकार्थ–अब शास्त्रकार व्याख्यान विधिके विषयमे कहते है–धर्मकी व्याख्या करताहुआ साधु अर्थके निर्णय करनेमे अशङ्कित होकर भी अर्वाग्दर्शी (सामनेकी वस्तुको देखनेवाला) होनेके कारण शङ्कितसा ही कहे। वह अपनी उद्धताको त्याग करता हुआ यह गर्व न करे कि–"मैं ही इस अर्थको जाननेवाला हूं दूसरा कोई नहीं है" किन्तु कठिन अर्थकी व्याख्या करताहुआ शङ्काके साथ ही कहे। अथवा जो वात अत्यन्त स्फुट है यानी जिसमे शङ्काका स्थान नहीं है उसे साधु इसप्रकार न कहे जिससे सुननेवालेको शङ्का उत्पन्न हो। एव पदार्थोंको अलग अलग करके कहे अथवा स्याद्वादको 'विभज्यवाद' कहते है वह स्याद्वाद कहीं भी धोखा नहीं खाता

लोकव्यवहाराविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेद्, अथवा सम्यगर्थान् विभज्य-पृथक्कृत्वा तद्वादं वदेत्, तद्यथा-नित्यवादं द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतया त्वनित्यवादं वदेत्, तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति, परद्रव्यादिभिस्तु न सन्ति, तथा चोक्तम्-"सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्?। असदेव विपर्यासान्नचेन्न व्यवतिष्ठते ॥१॥" इत्यादिकं विभज्यवादं वदेदिति। विभज्यवादमपि भाषाद्वितयेनैव ब्रूयादित्याह-भाषयोः-आद्यचरमयोः सत्यासत्यामृषयोर्द्विक भाषाद्विकं तद्भाषाद्वयं क्वचित्पृष्टोऽपृष्टो वा धर्मकथावसरेऽन्यदा वा सदा वा 'व्यागृणीयात्' भाषेत, किंभूतः सन्?-सम्यक्-सत्संयमानुष्ठानेनोत्थिता समुत्थिताः-सत्साधव उद्युक्तविहारिणो न पुनरुदायिनृपमारकवत्कृत्रिमास्तैः सम्यगुत्थितैः सह विहरन् चक्रवर्तिद्रमकयोः समतया रागद्वेषरहितो वा शोभनप्रज्ञो भाषाद्वयोपेतः सम्यग्धर्मं व्यागृणीयादिति ॥२२॥

है तथा लोकव्यवहारसे मिलताहुआ होनेके कारण वह सर्वव्यापी है तथा वह अपने अनुभवसे सिद्ध है अत उसका आश्रय लेकर साधु बोले। अथवा पदार्थोंको अच्छी रीतिसे पृथक् करके साधु कहे। जैसेकि-द्रव्यार्थ नयसे नित्यवाद कहे और पर्य्यायार्थ नयसे अनित्यवाद कहे। तथा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावसे सभी पदार्थ अपना अस्तित्व रखते हैं और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावसे अस्तित्व नहीं रखते है। अतएव कहा है कि-"सदेव" इत्यादि। अर्थात् "सभी पदार्थ स्वरूप आदि चारकी अपेक्षासे सत् ही है और पररूप आदि चारकी अपेक्षासे असत् ही है ऐसा कौन नहीं चाहता है क्योकि ऐसा नहीं माननेसे पदार्थोंकी व्यवस्था होती नहीं" इसप्रकार साधु अलग अलग पदार्थोंकी व्याख्या करे। पदार्थोंकी अलग अलग व्याख्याभी साधु दोही भाषाओंमे करे यह शास्त्रकार बताते है-किसीके पूछनेपर या न पूछनेपर अथवा धर्मकथाके अवसरमे अथवा अन्य समयमे सदा साधु पहली यानी सत्य भाषा और अन्तिम यानी जो सत्य भी नही और मिथ्याभी नहीं उन दो भाषाओके द्वारा व्यवहार करे। साधु कैसा होकर ऐसा करे? सो बताते हैं। जो उत्तम रीतिसे संयम पालनमें प्रवृत्त रहते है ऐसे उत्तमविहारी सत्साधु जो उदायी राजाको मारनेवालेके समान कपटी नहीं है उन मुनियोके साथ विहार करताहुआ चक्रवर्ती और दरिद्रको समभावसे धर्मका उपदेश करे अथवा रागद्वेषरहित उत्तमप्रज्ञावाला साधु पूर्वोक्त दो भाषाओंका आश्रय लेकर अच्छी रीतिसे धर्मकी व्याख्या करे। २२

अणुगच्छ णे वितहं विजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेणं।
ण त्थई । विहि इज्जा, निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा ॥२३॥

छाया-अनुगच्छन् वितथं विजानीयात्, तथा तथा साधुरकर्कशेन।
न कथयेद्भाषां विहिंस्यान्निरुद्धं वाऽपि न दीर्घयेत्॥

अन्वयार्थ-(अणुगच्छमाणे) पूर्वोक्त दो भाषाओके द्वारा प्रवचन करते हुए साधुके कथनको कोई ठीक ठीक समझलेते हैं (वितह विजाणे) और कोई मन्दमति विपरीत समझते हैं। (तहा तहा साहु अकक्कसेण) जो विपरीत समझते हैं उन्हें साधु कोमल शब्दोके द्वारा समझानेकी चेष्टा करे। (ण कत्थई) जो ठीक नही समझता है उसके मनको साधु अनादरके साथ कहकर न दुखावे। (भास विहिंसइज्जा) साधु, प्रश्न करनेवालेकी भाषाकी निन्दा न करे (निरुद्धग वावि न दीढइज्जा) छोटे अर्थको शब्दाडम्बरके द्वारा न वढावे।

भावार्थ-पूर्वोक्त दो भाषाओका आश्रय लेकर धर्मकी व्याख्या करते हुए साधुके कथनको कोई बुद्धिमान् पुरुष ठीक ठीक समझ लेते हैं और कोई मन्दमति पुरुष विपरीत समझते है। उन विपरीत समझनेवाले मन्दमतिओको साधु कोमल शब्दोंके द्वारा समझानेकी चेष्टा करे परन्तु अनादरके साथ कहकर उसके दिलको न दुखावे तथा उस प्रश्न करनेवालेकी भाषाकी निन्दा न करे और जो अर्थ छोटा है उसे व्यर्थ शब्दाड्म्बरोसे विस्तृत न करे।

किञ्चान्यत्-तस्यैवं भाषाद्वयेन कथयतः कश्चिन्मेधावितया तथैव तमर्थमाचार्यादिना कथितमनुगच्छन् सम्यगवबुध्यते, अपरस्तु मन्दमेधावितया वितथम्-अन्यथैवाभिजानीयात्, तं च सम्यगनवबुध्यमानं तथा तथा-तेन तेन हेतूदाहरणसद्युक्तिप्र नप्रकारेण मूर्खस्त्वमसि तथा दुर्दुरूढः खसूचिरित्यादिना कर्कशवचनेनानिर्भर्त्सयन् यथा यथाऽसौ बुध्यते तथा तथा 'साधुः' सुष्ठु बोधयेत् न कुत्रचित्क्रुद्धमुखहस्तौष्ठनेत्रविकारैरनादरेण कथयन् मनःपीडामुत्पादयेत्, तथा प्रश्नयतस्तद्भाषामपशब्दादिदोषदुष्टामपि धिग मूर्खासंस्कृतमते! किं तवानेन संस्कृतेन पूर्वोत्तरव्याहतेन वोच्चारितेनेत्येवं 'न विहिंस्यात्' न तिरस्कुर्याद् असंबद्धोद्घट्टन-

टीकार्थ-पूर्वोक्त दो भाषाओसे शास्त्रका अर्थ कहतेहुए आचार्य्य आदिके कथनको कोई मेधावी शिष्य ठीक ठीक उसीतरह समझ लेते है परन्तु दूसरा मन्दमति पुरुष उसे विपरीत समझता है। उक्त प्रकारसे विपरीत समझनेवाले मन्दमति पुरुषको वह साधु उचित हेतु, उदाहरण और समीचीन युक्तियोके द्वारा उसतरह समझावे जैसेकि वह समझ जाय, परन्तु "तूं मूर्ख है, तू लण्ठ है, तू आकाशको देखनेवाला है" इत्यादि कटु वाक्योके द्वारा उसे झिटके नहीं। तथा क्रोधित मुख, हाथ, ओठ, और नेत्रके विकारसे अनादरके साथ कहता हुआ साधु उस मन्दमति पुरुषके मनको पीडित न करे। एवं प्रश्न करनेवाले पुरुषकी भाषा यदि अशुद्ध हो तो उसे धिक्कार देताहुआ साधु यह न कहे कि-"हे मूर्ख! हे असंस्कृतमते! तुझको धिक्कार है, तुम्हारे इस पूर्वापर विरुद्ध उच्चारणसे क्या सिद्ध हो सकता है? इत्यादि कहकर उसकी भाषाकी निन्दा न करे तथा उस प्रश्न करनेवाले पर असम्बद्ध भाषणका दोष लगाकर

१ सोऽर्थो वक्तव्यो यो भण्यतेऽक्षरैः स्तोकैः। य पुनः स्तोको बहुभिरक्षरैः स भवति निस्सारः॥ १॥

तस्तं प्रश्नयितारं न विडम्बयेदिति । तथा निरुद्धम्-अर्थस्तोकं दीर्घवाक्यैर्महता शब्ददर्दुर्देरेणार्कविटपिकाष्टिकान्यायेन न कथयेत् निरुद्धं वा-स्तोककालीनं व्याख्यानं व्याकरणतर्कादिप्रवेशनद्वारेण प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या 'न दीर्घयेत्' न दीर्घकालिकं कुर्यात्, तथा चोक्तम्-"सो अत्थो वत्तव्वो जो भण्णइ अक्खरेहिं थोवेहिं। जो पुण थोवो बहुअक्खरेहिं सो होइ निस्सारो ॥१॥" तथा किंचित्सूत्रमल्पाक्षरमल्पार्थं वा इत्यादि चतुर्भङ्गिका, तत्र यदल्पाक्षरं महार्थं तदिह प्रशस्यत इति ॥२३॥

उसका अपमान न करे । तथा जो अर्थ छोटा है उसे व्यर्थके शब्दाडम्बरोसे न बढावे जैसे आकडेकी लकडी कहनेके स्थानमें कोई "अर्कविटपिकाष्टिका" कहकर व्यर्थ शब्दाडम्बर रचता है वैसा साधु न करे । अथवा जो व्याख्यान थोडे कालमें पूरा किया जासकता है उसे व्याकरण और तर्कका प्रपञ्च लगाकर प्राप्ति और अनुप्राप्तिके द्वारा दीर्घकालिक न कर डाले । जैसाकि कहा है—साधु वही अर्थ कहे जो अल्प अक्षरोमें कहा जाय । जो अर्थ थोडा होकर वहुत अक्षरोमे कहा जाता है वह नि.सार समझना चाहिये । कोई सूत्र अल्प अक्षरवाला और अल्प अर्थवाला होता है इसविषयमें एक चौभङ्गी कहनो चाहिये । उसमे जो सूत्र अल्प अक्षरवाला और महान् अर्थवाला है उसीकी यहां प्रशंसा की जाती है । २३

ा वेजा पडिपुन्नभा ी, निसामिया समियाअट्ठदंसी ।
ाणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे, अभिसंधए पावविवेग भिक्खू ॥२४॥

छाया–समालपेत्प्रतिपूर्णभाषी, निशम्य सम्यगर्थदर्शी ।
आज्ञाशुद्धं वचन मभियुञ्जीत, अभिसन्धयेत्पापविवेकं भिक्षुः ॥

अन्वयार्थ-(पडिपुन्नभासी समालवेज्जा) जो अर्थ थोडे अक्षरोमें न कहा जासके उसे विस्तृत शब्दोंके द्वारा साधु प्रतिपादन करे (निसामिया समिया अट्ठदसी) गुरुसे सुनकर अच्छीतरह पदार्थको जाननेवाला साधु (आणाइ सुद्ध वयण भिउजे) आज्ञा से शुद्ध वचन बोले (भिक्खू पावविवेग अभिसंधए) साधु पापका विवेक रखकर निर्दोष वचन बोले ।

भावार्थ—जो अर्थ थोडे शब्दोमे कहने योग्य नहीं है उसे साधु विस्तृत शब्दोंमें कहकर समझावे । तथा साधु गुरुसे पदार्थको सुनकर उसे अच्छीतरह समझकर आज्ञासे शुद्ध वचन बोले । साधु पापका विवेक रखता हुआ निर्दोष वचन बोले ।

अपिच-यत्पुनरतिविषमत्वादल्पाक्षरैर्न सम्यगवबुध्यते तत्सम्यग्-शोभनेन ारेण समन्तात्पर्यायशब्दोच्चारणतो भावार्थकथनतश्चालपेद्-भाषेत समालपेत्,

---

टीकार्थ—जो पदार्थ अतिकठिन होनेके कारण अल्प शब्दोंके द्वारा अच्छीतरह नहीं समझनेमें आता है उसे अच्छीरीतिसे अर्थात् पर्य्याय शब्दका उचारण करके अथवा उसका भावार्थ

नाल्पैरेवाक्षरैरुक्त्वा कृतार्थो भवेद्, अपितु ज्ञेयगहनार्थभाषणे सद्धेतुयुक्त्यादिभिः श्रोतारमपेक्ष्य प्रतिपूर्णभाषी स्याद्-अस्खलितामिलिताहीनाक्षरार्थवादी भवेदिति। तथाऽऽचार्यादेः सकाशाद्यथावदर्थं श्रुत्वा निशम्य अ म्य च सम्यग्-यथावस्थितमर्थं यथा गुरुसकाशादवधारितमर्थं-प्रतिपाद्यं द्रष्टुं शीलमस्य स भवति सम्यगर्थदर्शी, स एवंभूत' संस्तीर्थकराज्ञया-सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारेण 'शुद्धम्' अवदातं पूर्वापराविरुद्धं निरवद्य वच भियुञ्जीतोत्सर्गविषये सति उत मपवादविषये चापवादं तथा स्वपरसमययोर्यथास्वं नमभिवदेत्। एवं चाभियुञ्जन् भिक्षुः पापविवेकं लाभसत्कारादिनिरपेक्षतया काङ्क्षमाणो निर्दोषं नमभिसन्धयेदिति ॥२४॥ पुनरपि भाषाविधिमधिकृत्याह—

कहकर साधु समझावे। ऐसे अर्थको थोडे शब्दोंमे कहकर साधु अपनेको कृतार्थ न मान लेवे। किन्तु श्रोताकी योग्यता देखकर समझनेमें गहन पदार्थको उत्तम हेतु और युक्तियोंको दिखाकर पूर्णरूपसे कथन करे। ऐसे विषयको समझाता हुआ साधु स्पष्ट, अलग अलग और विस्तृत शब्द तथा अर्थको भाषण करे। आचार्य्यसे पदार्थको अच्छीतरह सुनकर जो उसका निश्चय करके ठीक ठीक वस्तुतत्त्वको जानता है उस साधुको सम्यगर्थदर्शी कहते हैं। साधु सम्यगर्थदर्शी होकर सर्वज्ञप्रणीत मार्गके अनुसार पूर्व और परसे अविरुद्ध शुद्ध वचन बोले। साधु उत्सर्गके स्थानमें उत्सर्ग और अपवादके स्थानमें अपवादात्मक वचन बोलता हुआ अपना और दूसरेका सिद्धान्त बताते समय यथायोग्य वचन बोले। इस प्रकार भाषग करनेवाला साधु लाभ और सत्कारकी इच्छा न रखताहुआ निर्दोष वचन बोलनेकी इच्छा करे। २४

अहाबुइयाइं सुसि क एज्जा, जइ या णातिवेलं वदे ।।
से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लू एज्जा, से जाणई भासि उं तं हिं २५

छाया—यथोक्तानि सुशिक्षेत, यतेत नातिवेलं वदेत्।
स दृष्टिमान् दृष्टिं न लूषयेत्, स जानाति भाषितुं तं समाधिम्॥

अन्वयार्थ—(अहाबुइयाइ सुसिक्खएज्जा) तीर्थङ्कर और गणधर आदिके आगमको अच्छी तरह अभ्यास करे (जइज्जया) और सदा उसमें प्रयत्न करे (णातिवेल वदेज्जा) मर्य्यादाको उल्लङ्घन करके अत्यन्त न बोले। (से दिट्ठिम दिट्ठिण लूसएज्जा) वह सम्यग्दृष्टि पुरुष सम्यग्दर्शनको दूषित न करे। (से तं समाहिं भासिउ जाणई) वही पुरुष तीर्थङ्करोक्त भाव समाधिको कहना जानता है।

भावार्थ—साधु तीर्थङ्कर और गणधरके वचनोंका सदा अभ्यास किया करे तथा उनके उपदेशानुसार ही वचन बोले। वह मर्य्यादाका उल्लङ्घन करके अधिक न बोले। सम्यग्दृष्टि साधु सम्यग्दर्शन को दूषित न करे। जो साधु इसप्रकार उपदेश करना जानता है वही सर्वज्ञोक्त भावसमाधिको जानता है।

यथोक्तानि तीर्थंकरगणधरादिभिस्तान्यहर्निशं 'सुष्ठु शिक्षेत' ग्रहणशिक्षया सर्वज्ञोक्तमागमं ग् गृह्णीयाद् आसेवनाशिक्षया त्वनवरतमुद्युक्तविहारितयाऽऽ-सेवेत, अन्येषां च तथैव प्रतिपादयेद्, अतिप्रसक्तलक्षणनिवृत्तये त्वपदिश्यते, सदा ग्रहणासे शिक्षयोर्देशनायां यतेत, सदा यतमानोऽपि यो यस्य कर्तव्यस्य कालोऽध्य कालो वा तां वेलामतिलङ्घ्य नातिवेलं वदेद्-अध्ययनकर्तव्यमर्यादां नातिलङ्घयेत्स(दस)दनुष्ठानं प्रति व्रजेद्वा, यथावसरं परस्पराबाधया सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः। स एवंगु तीयो यथाकालवादी यथाका री च ' यग्दृष्टिमान्' यथावस्थितान् पदार्थान् श्रद्दधानो देशनां व्याख्यानं वा कुर्वन् 'दृष्टिं' सम्यग्दर्शनं 'न लूषयेत्' न दूषयेत्, इदमुक्तं भवति-पुरुषविशेषं ज्ञात्वा तथा तथा कथनीयमपसिद्धान्तदेशनापरिहारेण यथा यथा श्रोतुः :सम्यक्त्वं स्थिरी ति, न पुनः शङ्कोत्पादनतो दूष्यते, यश्चैवंविधः स 'जानाति' अवबुध्यते 'भाषितुं' पयितुं ' ।ध' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यं यक्चित्तव्यवस्थानाख्यं वा तं 'ज्ञोक्तं धिं सम्यगवगच्छतीति ॥२५॥

टीकार्थ—श्रीतीर्थङ्कर और गणधर आदिने जो वचन कहे है उन्हें साधु रात दिन सीखे। अर्थात् साधु सर्वज्ञोक्त आगमको ग्रहण शिक्षाके द्वारा अच्छीतरह ग्रहण करे और आसेवना शिक्षा के द्वारा उद्युक्तविहारी होकर सेवन करे। साधु दूसरे लोगोको भी सर्वज्ञके आगमको उसीतरह प्रतिपादन करे। जिस कार्य्यका जो काल नहीं है उसमें भी साधु वह कार्य्य न कर बैठे इस लिये शास्त्रकार कहते है कि—साधु सदा ग्रहण शिक्षा और आसेवनाशिक्षा तथा देशनामें प्रयत्न करे परन्तु जो जिस कर्त्तव्यका काल है अथवा जो अध्ययनका काल है उसे उल्लङ्घन करके न बोले अर्थात् साधु अध्ययन तथा दूसरे कर्त्तव्यकी मर्य्यादाको उल्लङ्घन न करे किन्तु उत्तम अनुष्ठानमें प्रवृत्त रहे। साधु अवसरके अनुसार एक क्रियासे दूसरी क्रियाको बाधा न देता हुआ सभी क्रियायें करे। जो साधु इसप्रकारका है अर्थात् जो कालके अनुसार आचरण करता है वह सम्यग्दृष्टिमान् है अर्थात् वह पदार्थके यथार्थस्वरूपमे श्रद्धा रखनेवाला है। वह साधु धर्मोपदेश देताहुआ सम्यग्दर्शनको दूषित न करे आशय यह है कि—सुननेवाले पुरुषकी योग्यता देखकर इसप्रकार धर्मका उपदेश देना चाहिये जिससे वह पुरुष अपसिद्धान्तको त्यागकर सम्यग्धर्ममें दृढ हो जाय परन्तु इसप्रकार उपदेश न करे जिससे श्रोताके मनमें शङ्का उत्पन्न होकर सम्यक्त्वमें दोष आवे। जो पुरुष इसप्रकार उपदेश करना जानता है वह सम्मग् ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप सर्वज्ञोक्त भाव समाधिको अथवा श्रोताके चित्तको स्थिर करनेरूप समाधिको प्रतिपादन करना अच्छीतरह जानता है। २५

लूसए णो पच्छ भा ी, णो सु त्थं च करेज्ज ाई।
त्थार ी ुवीइ वा ं, सुयं च ं पडिवाययंति ॥२६॥

छाया—अलूषको नो प्रच्छन्नभाषी, न सूत्रमर्थञ्च कुर्यात् त्रायी।
शास्तृभक्त्याऽनुविचिन्त्यवादं, श्रुतञ्च सम्यक् प्रतिपादयेत् ॥

अन्वयार्थ—(अलूसए) साधु आगमके अर्थको दूषित न करे (णो पच्छन्नभासी) सिद्धान्तको न छिपावे (ताई सुत्तमत्थ च णो करेज्ज) प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला पुरुष सूत्र और अर्थको अन्यथा न करे। (सत्थारभत्ती अणुवीइ वाय) शिक्षा देनेवाले गुरुकी भक्ति का ध्यान रखता हुआ साधु सोच विचार कर कोई वात कहे। (सुय च सम्मं पडिवाययति) एव साधु जिस प्रकार गुरुसे सुनाहै वैसाही दूसरेसे सूत्रकी व्याख्या करे।

भावार्थ—साधु आगमके अर्थको दूषित न करे। तथा शास्त्रके सिद्धान्तको न छिपावे। प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला साधु सूत्र और अर्थको अन्यथा न करे तथा शिक्षा देनेवाले गुरुकी भक्तिका ध्यान रखते हुए सोच विचार कर कोई बात कहे। एवं गुरुसे जैसा सुना है वैसा ही दूसरेके प्रति सूत्रकी व्याख्या करे।

किचान्यत्-'अलूसए' इत्यादि, ञोक्त मं कथयन् 'नो लूषयेत्' नान्यथाऽपसिद्धान्तव्याख्यानेन दूषयेत्, तथा 'न प्रच्छन्नभाषी भवेत्' सिद्धान्तार्थमविरुद्धमवदातं सार्वजनीनं तत्प्रच्छन्नभाषणेन न गोपयेत्, यदिवा प्रच्छन्नं वाऽर्थमपरिणताय न भाषेत, तद्धि सिद्धान्तरहस्यमपरिणतशिष्यविध्वंसनेन दोषायैव संपद्यते, तथा चोक्तम्-"अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम्। दोषायाभिनवोदीर्णे, शमनीयमिव ज्वरे ॥१॥" इत्यादि, न च सूत्रमन्यत् स्वमतिविकल्पनतः स्वपरत्रायी कुर्वीतान्यथा वा सूत्रं तदर्थं वा संसारात्त्रायी-त्राणशीलो जन्तूनां न विदधीत, किमित्यन्यथा सूत्रं न कर्तव्यमित्याह-परहितैकरतः शास्ता तस्मिन् शास्तरि या

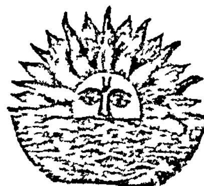
टीकार्थ—साधु सर्वज्ञोक्त आगमकी व्याख्या करता हुआ अपसिद्धान्तकी प्ररूपणा करके सर्वज्ञोक्त आगमको दूषित न करे। एवं जो सिद्धान्त शास्त्रसे अविरुद्ध निर्मल तथा सर्वजनप्रसिद्ध है उसे अस्पष्ट भाषणके द्वारा न छिपावे। अथवा जो सिद्धान्त गुप्त रखने योग्य है उसे किसी अपरिपक्व व्यक्तिको न वतावे क्योंकि अपरिपक्व व्यक्तिको सिद्धान्तका रहस्य वतानेसे वह दूषित हो जाता है अतएव कहा है कि—"अप्रशान्तमतौ" अर्थात् जिसकी मति शान्त नहीं है उसको शास्त्रका उत्तम भाव कहना दोषके लिये होता है जैसे नूतनज्वरवाले रोगीको शान्तिकी दवा देना हानिकारक होता है। अपनी तथा दूसरेकी रक्षा करनेवाला अथवा संसारसागरसे प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला साधु अपनी कल्पनासे सूत्र अथवा उसके अर्थको न वदले। साधु सूत्रको क्यों नहीं वदले ? इसका कारण शास्त्रकार वतलाते है—शिक्षा देनेवाले आचार्य्यमे जो उस साधुकी

तद्विद्यते यस्यासावुपधानवान्, तथा 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं यः यक् वेत्ति विन्दते वा- ग् लभते 'तत्र तत्रे'ति य आज्ञाग्राह्योऽर्थः स आज्ञयैव प्रतिपत्तव्यो हेतुकस्तु घेतुना यदिवा स्वसमयसिद्धोऽर्थः स्वसमये ० स्थापनीयः पर (स) सिद्धश्च परस्मिन् अथवोत्सर्गापवादयोर्व्यवस्थितोऽर्थस्ताभ्यामेव यथास्वं प्रतिपादयितव्यः, एतद्गुणसंपन्नश्च 'आदेयवाक्यो' ग्राह्यवाक्यो भवति, तथा 'कुशलो' निपुणः आ तिपादने सदनुष्ठाने च '० :' परिस्फुटो मीक्ष्यकारी, यश्चैतद्गुणसमन्वितः सोऽर्हति-योग्यो ति 'तं' ञोक्तं ज्ञानादिकं वा भावसमाधि 'भाषितुं' प्रतिपादयितुं, नापरः क दिति । इतिः माप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्, गतोऽनुगमा, ः प्राग्वद्व्याख्येयाः ॥२७॥

॥ समाप्तं चतुर्दशं ग्रन्थाख्यमध्ययनमिति ॥

सूत्रवाला है एवं जो आगमोक्त तपका अनुष्ठान करता है तथा जो श्रुत और चारित्ररूप धर्मको अच्छीतरहसे प्राप्त करता है, आशय यह है कि जो अर्थ शास्त्रकी आज्ञामात्रसे ग्रहण करने योग्य है उसे आज्ञामात्रसे ग्रहण करना चाहिये और जो अर्थ हेतुसे ग्रहण करने योग्य है उसे हेतुके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये अत जो ऐसा करता है अथवा स्वसिद्धान्तमें सिद्ध जो अर्थ है उसे स्वसिद्धान्तमें ही स्थापन करना चाहिये और परसिद्धान्तमें सिद्ध अर्थको परसिद्धान्तमें ही स्थापन करना चाहिये अथवा उत्सर्गरूप अर्थको उत्सर्गरूपमें और अपवादरूप अर्थको अपवादरूपमें स्थापन करना चाहिये, जो पुरुष ऐसे गुणोंसे युक्त है उसीकी बात माननी चाहिये अतः जो पुरुष उत्तमगुणोंसे सम्पन्न है तथा आगमके प्रतिपादन और उत्तम अनुष्ठान करनेमें कुशल है एवं जो विना विचारे कार्य्य नहीं करता है वही पुरुष सर्वज्ञोक्त भावसमाधि अथवा ज्ञान आदिका भाषण कर सकता है दूसरा नहीं । इति शब्द समाप्ति अर्थका बोधक है। ब्रवीमि पूर्ववत् है अनुगम समाप्त हुआ । नयोंकी व्याख्या पूर्ववत् करनी चाहिये ।

यह चौदहवाँ ग्रन्थाध्ययन समाप्त हुआ ।



अथवा ' ीयं'ति अस्याध्ययनस्य नाम, तच्चादानपदेन, आदावादीयते इत्यादानं, तच्च ग्रहणमित्युच्यते, तत आदानग्रहणयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह-'आदाणे' इत्यादि, आदीयते कार्यार्थिना तदित्यादानं, कर्मणि ल्युट् प्रत्ययः, करणे वा, आदीयते-गृह्यते स्वीक्रियते ॅ क्षितमनेनेतिकृत्वा, आदानं च पर्यायतो ग्रहणमित्युच्यते, तत आदा हणयोर्निक्षेपो(पे) भवति द्वौ चतुष्कौ, तद्यथा-नामादानं स्थापनादानं द्रव्यादानं भावादानं च, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यादानं वित्तं, यस्माल्लौकिकैः परित्यक्तान्यकर्तव्यैर्महता क्लेशेन तदादीयते, तेन वाऽपरं द्विपद-चतुष्पदादिकमादीयत इतिकृत्वा, भावादानं तु द्विधा-प्रश मप्रशस्तं च, तत्राप्रशस्तं क्रोधाद्युदयो मिथ्यात्वाविरत्यादिकं वा, प्रशस्तं तूत्तरोत्तरगुणश्रेण्या विशुद्धाध्यवसायकण्डकोपादानं सम्यग्ज्ञानादिकं वेत्येतदर्थप्रतिपादनपरमेतदेव वाऽध्ययनं द्रष्टव्यमिति, एवं ग्रहणेऽपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो द्रष्टव्यः, भावार्थोऽप्यादानपदस्येव द्रष्टव्यः, तत्पर्यायत्वादस्येति । एतच्च ग्रहणं नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रार्थनयाभिप्रायेणादानपदेन सहालोच्यमानं शक्रेन्द्रादिवदेकार्थम्-अभिन्नार्थं भवेत्,

---

टीकार्थ-अथवा इस अध्ययनका ' जमतीय ' नाम है परन्तु यह नाम आदानपदकी अपेक्षा से है । आदिमें जो पद ग्रहण किया जाता है उसे 'आदान' कहते हैं और उसीको ग्रहण भी कहते है अत· आदान और ग्रहणका निक्षेप बतानेके लिये निर्युक्तिकार कहते है "आदाणे" इत्यादि । कार्य्यार्थी पुरुष जिस वस्तुको ग्रहण करता है उसे 'आदान' कहते है आदान शब्दमें कर्म अर्थमें ल्युट् प्रत्यय हुआ है अथवा करग अर्थमे ल्युट् प्रत्यय है इसप्रकार जिसके द्वारा इष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है उसे 'आदान' कहते है । आदानका पर्य्याय ग्रहग है इसलिये आदान और ग्रहणके निक्षेपमे दो चतुष्क (चौक) होते है । जैसेकि—नामादान, स्थापनादान, द्रव्यादान, और भावादान । इनमे नाम और स्थापना सुगम है इसलिये इन्हें छोडकर शेष आदान बताये जाते है । द्रव्यादान धनका नाम है क्योकि ससारी मनुष्य दूसरे कर्तव्योको छोड़कर महान् क्लेगसे धनको ग्रहण करते है अथवा उस धनके द्वारा दूसरे द्विपद और चतुष्पद आदिको ग्रहण करते है इसलिये धनको द्रव्यादान कहते है। 'भावादान' दो प्रकारका है—प्रगस्त और अप्रशस्त। इनमे क्रोध आदिका उदय होना अथवा मिथ्यात्व और अविरति आदि अप्रगस्त भावादान है तथा उत्तरोत्तर गुणश्रेणिके द्वारा विशुद्ध अध्यवसायको ग्रहण करना अथवा सम्यग् ज्ञान आदिको ग्रहण करना प्रगस्तभावादान है । इसी प्रगस्त भावादानको यह अध्ययन प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार ग्रहगमे भी नाम आदि चार निक्षेप समझने चाहिये और भावार्थ भी आदान पदके समान ही समझना चाहिये क्योंकि ग्रहणपद आदानपदका पर्य्याय है । नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्ररूप अर्थनयके अभिप्रायसे विचार करनेपर जैसे शक्र और इन्द्र शब्द एकार्थक है इसी तरह आदान और ग्रहण शब्द भी एकार्थक है परन्तु शब्द, समभिरूढ और इत्थंभूत नयके

शब्दसमभिरूढेत्थंभूतशब्दनयाभिप्रायेण च [1]नानार्थं भवेत् । इह तु 'प्रकृतं' प्र व 'आदाने' आदानविषये यत आदानपदमाश्रित्यास्याभिधानमकारि, आदानीयं वा ज्ञानादिकमाश्रित्य नाम कृतमिति ॥ आदानीयाभिधानस्यान्यथा वा प्रवृत्तिनिमित्त-माह-यत् पदं प्रथमश्लोकस्य तदर्धस्य च अन्ते-पर्यन्ते तदेव पदं शब्दतोऽर्थत उभयतश्च द्वितीयश्लोकस्यादौ तदर्धस्य वाऽऽदौ भवति एतेन प्रकारेण-आद्यन्त-पदसदृशत्वेनादानीयं भवति, एष आदानीयाभिधानप्रवृत्तेः 'पर्यायः' अभिप्रायः अन्यो वा विशिष्टज्ञानादि आदानीयोपादानादिति । केचित्तु पुनरस्याध्य स्यान्तादिपदयोः संकलनात्संकलिकेति नाम कुर्वते, तस्या अपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो विधेयः, तत्रापि द्रव्यसंकलिका निगडादौ भावसंकलना तूत्तरोत्तरविशिष्टाध्यवसाय-लनम्, इदमेव वाऽध्ययनम्, आद्यन्तपदयोः संकलनादिति । येषामादानपदेनाभिधानं तन्मतेनादौ यत्पदं तदादानपदम्, अत आदेर्निक्षेपं कर्तुकाम आह-आदेर्नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः, नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादि दर्शयति-द्रव्यादिः पुन 'द्रव्यस्य' परमाण्वादेर्यः 'स्वभावः' परिणतिविशेषः 'स्वके स्थाने'

हिसाबसे आदान और ग्रहण शब्द भिन्न भिन्न अर्थवाले है परन्तु यहां आदानके विषयका ही प्रकरण है क्योंकि आदानपदको लेकर इस अध्ययनका नाम किया गया है । अथवा ग्रहण करने योग्य ज्ञान आदिको लेकर इसका नाम रखा है ।

अब निर्युक्तिकार 'आदानीय' नामका प्रवृत्तिनिमित्त दूसरे प्रकार से बताते है—जो पद प्रथम श्लोकके अन्तमें हो अथवा प्रथम श्लोकके अर्धभागके अन्तमें हो वही पद यदि शब्द अर्थ और उभयके द्वारा द्वितीय श्लोकके आदिमें हो अथवा द्वितीयश्लोकके अर्धभागके आदिमें हो तो वह पद आदि और अन्तके सदृश होनेसे आदानीय कहलाता है। इस अध्ययनमे ऐसा ही हुआ है इस लिये इसका आदानीय नाम है अथवा विशिष्ट ज्ञान आदिका इसमें प्रतिपादन हुआ है इसलिये इसका नाम आदानीय रखा है ।

कोई कहते है कि—इस अध्ययनके अन्त और आदि पदका सकलन हुआ है इसलिये इस का काम 'संकलिका' है । संकलिकाके भी नाम आदि चार निक्षेप करने चाहिये । उनमें द्रव्य संकलिका बेड़ी आदिमें होती है और भावसंकलिका उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणोको संग्रह करना समझना चाहिये । अथवा आदि और अन्तपदके संकलन होनेसे यही अध्ययन भावसंकलिका है । जिनका मत यह है कि आदानपदको लेकर अध्ययनका नाम होता है उनके मतमें अध्य-नके आदिमें जो पद होता है उसको आदानपद कहते है इसलिये आदि शब्दका निक्षेप बताने के लिये निर्युक्तिकार कहते है—आदि शब्दके नाम आदि चार निक्षेप होते है उनमे सुगम होनेके कारण नाम और स्थापनाको छोडकर द्रव्य आदि बताते हैं—परमाणु आदि द्रव्यका अपने पर्य्यायमें

१ कर्मकरणयोर्भेदात्, यद्वा धातुभेदेनार्थभेदात्, सामाप्य ग्रहण आदावादानादादानमिति वा भेद. ।

स्वकीये पर्याये प्रथमम्-आदौ ति स द्रव्यादि', द्रव्यस्य द्रव्यादेर्य आद्यः परि विशेषः क्षीरस्य विना मकालीनः, एवमन्यस्यापि परमाण्वादेर्द्रव्यस्य यो यः परिणतिविशेषः प्रथममुत्पद्यते स सर्वोऽपि द्रव्यादिर्भ । ननु च कथं क्षीरविनाशसमय एव दध्युत्पादः ?, तथाहि-उत्पादविनाशौ भावाभावरूपौ वस्तुधर्मौ वर्तेते, न च धर्मो धर्मिणमन्तरेण भवितुमर्हति, अत एकस्मिन्नेव क्षणे तद्धर्मि गो-दधिक्षीरयोः सत्ताऽवाप्नोति, एतच्च दृष्टेष्टबाधितमिति, नैष दोषः, यस्य हि वादिनः क्षणमात्रं वस्तु तस्यायं दोषो, यस्य तु पूर्वोत्तरक्षणानुगतमन्वयि द्रव स्ति तस्यायं दोष न भवति, तथाहि-तत्परिणामिद्रव्यमेकस्मिन्नेव क्षणे एकेन स्वभावेनो-त्पद्यते परेण विनश्यति, अनन्तधर्मात्मकत्वाद्वस्तुन इति यत्किंचिदेतत् । तदेवं द्रव्यस्य विवक्षि रिणामेन परिणमतो य आद्यः समय स द्रव्यादिरिति रि , द्रव्यस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वादिति ॥ साम्प्रतं भावादिमधिकृत्याह- :-अन्तः-करणस्य परिणतिविशेषस्तं 'बुद्धाः' ती र धरादयो 'व्यपदिशन्ति' प्रतिपाद-यन्ति, तद्यथा-आगमतो नोआगमतश्च, तत्र नोआगमतः प्र पुरुषार्थतया चिन्त्य-मानत्वात् 'पञ्चविधः' पञ्चप्रकारो भवति, तद्यथा-प्राणातिपातविरमणादीनां पञ्चा-

जो पहले पहल परिणाम होता है उसे द्रव्य आदि कहते हैं तथा दूधके नाशके समय दधि आदिका जो पहला परिणाम होता है उसे द्रव्यादि कहते है । इसीतरह दूसरे परमाणु आदिका जो पहले पहल परिणाम उत्पन्न होता है वह सभी द्रव्यादि कहलाता है ।

कहते हैं कि-जिस समय दूधका नाश होता है उसी समय दधिकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? क्योकि उत्पत्ति और विनाश, भाव तथा अभावरूप होनेसे वस्तु के धर्म हैं। धर्म, धर्मी के विना नहीं होता है इसलिये उत्पत्तिके धर्मी दधि और विनाशके धर्मी दूधकी एक क्षणमें सत्ता (रहना) प्राप्त होती है परन्तु यह देखा नहीं जाताहै तथा इष्ट भी नहीं है । कहते हैं कि-यह दोष नहींहै, जो वादी क्षणमात्र वस्तुकी सत्ता मानताहै उसके मतमें यह दोष हो सकता है (अर्थात् दधिके समयमे भी दूधकी सत्ता सिद्ध होनेसे उसका क्षणिक सिद्धान्त नष्ट हो जाता है) परन्तु जो अन्वयी द्रव्यको पूर्व और उत्तर दोनों क्षणोमें रहना मानते हैं उनके मतमे दधिके समयमे दूधका रहना दोष नहीं किन्तु इष्ट है क्योकि वह परिणामी द्रव्य, एकही समयमे एक स्वभावसे उत्पन्न होताहै और दूसरे स्वभावसे नष्ट होता है क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक होतीहै इस लिये उक्त शंका साररहित है । इस प्रकार अपने इष्ट परिणामसे परिणत होते हुए पदार्थका जो प्रथम समय है उसे द्रव्यादि कहते है । यहां द्रव्यकी प्रधानता की विवक्षा करके प्रथम समयको द्रव्यादि कहते है । अब निर्युक्तिकार भाव आदिके विषयमें कहते हैं-तीर्थङ्कर और गणधर आदि अन्तःकरणके परिणाम विशेषको भाव कहते है वह आगमसे और नो आगमसे होनेके कारण दो प्रकारका है । उनमें नो आगमसे भाव, प्रधान पुरुषार्थ-रूपसे माने जानेके कारण पॉच प्रकारका है, जैसेकि-प्राणातिपात विरमण आदि, उन

नामपि महाव्रतानामाद्यः प्रतिपत्तिसमय इति, तथा 'आगमओ' इत्यादि, आगममाश्रित्य पुनरादिरेवं द्रष्टव्यः, था-यदेतद्गणिनः-अ र्यस्य पिटकं-सर्वस्वमाधारो वा तद्द्वादशाङ्गं भवति, तुशब्दादन्यदप्युपाङ्गादिकं द्रष्टव्यं, तस्य च चनस्यादिभूतो यो ग्रन्थस्तस्याप्याद्यः श्लोकस्तत्राप्याद्यं पदं तस्यापि प्रथममक्षरम्, एवंविधो बहुप्रकारो भावादिर्द्रष्टव्य इति। तत्र सर्वस्यापि चनस्य सा यिकमादिस्तस्यापि करोमीति पदं तस्यापि ककारो, द्वादशानां त्वङ्गानामाचाराङ्गमादिस्तस्यापि शस्त्रपरिज्ञाध्यय स्यापि च जीवोद्देशकस्तस्यापि 'सुय'ति पद तस्यापि सुकार इति, अस्य च प्रकृताङ्गस्य समयाध्ययनमादि यापि आद्युद्देशकश्लोकपादपदवर्णादिर्द्रष्टव्य इति। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनन्तरमस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

पाँच महाव्रतोंको ग्रहण करनेका जो प्रथम समय है वह नो आगमसे भावादि है। तथा आगमसे भावादि इसप्रकार समझना चाहिये—आचार्य्यकी पेटी अथवा सर्वस्व आधार जो यह द्वादशाङ्ग है तथा तु शब्दसे जो दूसरे उपाङ्ग आदि हैं उन प्रवचनोंका जो पहला ग्रन्थ है और उस ग्रन्थका जो पहला श्लोक है एवं उसका भी जो पहला पद है और उसका भी जो प्रथम अक्षर है ये सब भावादि हैं। इसप्रकार भावादि अनेक प्रकारका होता है। उसमें भी समस्त प्रवचनोंका आदि सामायिक है और उसका आदि 'करोमि' पद है और उस पदका भी आदि ककार है इसलिये वह भावादि है। इसीतरह बारह अङ्गोंमें आचाराङ्ग सूत्र आदि है और उसमें भी शस्त्रपरिज्ञाध्ययन आदि है शस्त्रपरिज्ञाध्ययनमें भी जीवोद्देशक आदि है' उसमें भी 'सुय' पद आदि है और उसमें भी 'सु' आदि है (इसलिये वह भावादि है।) इस सूत्रकृताङ्ग सूत्रका समयाध्ययन आदि है और उसका भी पहला उद्देशक पहला श्लोक पहला पद, और पहला वर्ण आदि समझना चाहिये। नाम निक्षेप समाप्त हुआ। इसके पश्चात् शुद्धताके साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिये वह सूत्र यह है—

ज तीतं पडुप ं, आगमिस्सं च णायओ।
व्वं मन्नति तं ाई, दंसणावरणंतए ॥१॥

छाया—यदतीतं प्रत्युत्पन्न मागमिष्यच्च नायकः।
सर्वं मन्यते तत् त्रायी दर्शनावरणान्तकः॥

अन्वयार्थ-(जमतीय) जो पदार्थ हो चुके है (पडुपन्न) और जो वर्तमानमें विद्यमान है (आगमिस्स च) एव जो भविष्य में होनेवाले है (त सव्व) उन सबको (दसणावरणतए) दर्शनावरणीय कर्मको अन्त करनेवाला (ताई) जीवोंकी रक्षा करनेवाला (णायओ) नेता पुरुष (मन्नति) जानता है।

भावार्थ–जो पदार्थ उत्पन्न हो चुके है और जो वर्तमानकालमें विद्यमान है तथा जो भविष्यकालमें होगे उन सब पदार्थोंको, दर्शनावरणीय कर्मको अन्त करनेवाला जीवरक्षक नेता पुरुष जानता है ।

अस्य चानन्तरसूत्रेण संबन्धो वक्तव्यः, स चायं, तद्यथा–आदेयवाक्यः कुशलो व्यक्तोऽर्हति तथोक्तं समाधिं भाषितुं, यश्च यदतीतं प्रत्युत्पन्नमागामि च सर्वमवगच्छति स एव भाषितुमर्हति नान्य इति । परम्परसूत्रसंबन्धस्तु य एवातीतानागतवर्तमानकालत्रयवेदी स एवाशेषबन्धनानां परिज्ञाता त्रोटयिता वेत्येतद् बुध्येतेत्यादिकः संबन्धोऽपरसूत्रैरपि स्वबुद्ध्या लगनीय इति । तदेवं प्रतिपादितसंबन्धस्यास्य सूत्रस्य व्याख्या प्रस्तूयते–यत्किमपि द्रव्यजातमतीतं यच्च प्रत्युत्पन्नं यच्चानागतम्–पष्यत्कालभावि तस्यासौ सर्वस्यापि यथावस्थितस्वरूपनिरूपणतो 'नायकः' प्रणेता, यथावस्थितवस्तुस्वरूपप्रणेतृत्वं च परिज्ञाने सति भवत्यतस्तदुपदिश्यते–'सर्वम्' अतीतानागतवर्तमानकालत्रयभावतो द्रव्यादिचतुष्कस्वरूपतो द्रव्यपर्यायनिरूपणतश्च मनुते–असौ जानाति सम्यक् परिच्छिनत्ति तत्सर्वमवबुध्यते, जानानश्च विशिष्टोपदेशदानेन संसारोत्तारणतः सर्वप्राणिनां त्राय्यसौ–त्राणकरणशीलः, यदिवा–'अयवयपयमयचयतयणय गतौ' वित्यस्य धातोर्घञ्प्रत्ययः, तयनं

टीकार्थ–इस सूत्रका पूर्व सूत्रके साथ सम्बन्ध कहना चाहिये, वह सम्बन्ध यह है–पूर्व सूत्रमे कहा है कि "जो पुरुष ग्रहण करने योग्य वाक्य बोलता है तथा कुशल और विचार कर कार्य्य करनेवाला है वही शास्त्रीय समाधिका भाषण करसकता है" अब यहा बताते है कि जो पुरुष भूत वर्तमान और भविष्य तीनो कालोंके पदार्थोंको जानता है वही समाधिका भाषण करसकता है दूसरा नहीं करसकता है । परम्पर सूत्रके साथ सम्बन्ध यह है–जो पुरुष भूत भविष्य और वर्तमान तीनो कालेके पदार्थोंको जानता है वही समस्त बन्धनोको जाननेवाला और तोडनेवाला है यह जानना चाहिये, इसप्रकार दूसरे सूत्रोंके साथ भी अपनी बुद्धिसे सम्बन्ध मिला लेना चाहिये । इसप्रकार जिसका सम्बन्ध बतादिया गया है ऐसे इस सूत्रकी अब व्याख्या आरम्भ की जाती है ।

जो कोई पदार्थ भूतकालमे होचुके है और जो वर्तमान कालमें विद्यमान है तथा जो भविष्य कालमे होनेवाले है उन सबोके यथार्थस्वरूपका निरूपण करनेके कारण वह पुरुष नायक यानी प्रणेता है । वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करना, उनके ज्ञान होनेपर होता है इसलिये शास्त्रकार उसका उपदेश करते है–वह पुरुष भूत वर्तमान और भविष्य तीनों-कालोंके पदार्थोंको द्रव्यादि चार स्वरूपसे तथा द्रव्य और पर्य्यायके निरूपणसे जानता है और जानताहुआ वह विशिष्ट उपदेश देकर प्राणियोको संसारसागरसे पार उतारकर सब जीवोंकी रक्षा करता है । अथवा "अय वय पय मय गतौ" इस गत्यर्थक अय् धातुसे घञ् प्रत्यय

तायः स विद्यते यस्यासौ तायी, 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इतिकृत्वा सामान्यस्य परिच्छेदको, मनुते इत्यनेन विशेषस्य, तदनेन सर्वज्ञः सर्वदर्शी चेत्युक्तं भवति, न च कारणमन्तरेण कार्यं भवतीत्यत इदमपदिश्यते-दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽन्तकृत्, मध्यग्रहणे (न) तु घातिचतुष्टयस्यान्तकृद् द्रष्टव्य इति ॥१॥

होकर 'ताय' पद बनता है और ताय पदसे मत्वर्थीय इन् प्रत्यय करके 'तायी' पद बना है इसलिये जो सामान्य अर्थको जानता है उसे तायी कहते है क्योंकि-सभी गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक है। तथा मनुते पदसे वह विशेष अर्थका ज्ञाता है यह बताया जाता है। इसप्रकार वह पुरुष सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है यह यहा कहा है। कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नही होती है इसलिये शास्त्रकार कहते है कि वह पुरुष दर्शनावरणीय कर्मका नाश करनेवाला है। दर्शनावरणीय कर्म मध्यम है इसलिये उसके ग्रहण से चार प्रकारके घाती कर्मोका नाश करने वाला वह पुरुष है यह जानना चाहिये। १

अंतए वितिगिच्छाए, से जाणति अणेलिसं।
अणेलिसस्स अक्खाया, ण से होइ तहिं तहिं ॥२॥

छाया-अन्तको विचिकित्सायाः स जानात्यनीदृशम्।
अनीदृशस्याख्याता, स न भवति तत्र तत्र ॥

अन्वयार्थ-(वितिगिच्छाए अतए) जो सशयको दूर करनेवाला है (से अणेलिसं जाणति) वह पुरुष सबसे ज्यादा पदार्थको जानता है। (अणेलिसस्स अक्खाया) जो पुरुष सबसे बढकर वस्तुतत्त्वको बतानेवाला है (से तहिं तहिं ण होइ) वह बौद्धादि दर्शनो में नही है।

भावार्थ-सशयको दूर करनेवाला पुरुष सबसे बढकर पदार्थको जानता है। जो पुरुष सबसे बढकर वस्तुतत्त्वका निरूपण करनेवाला है वह बौद्धादि दर्शनोंमे नहा है।

यश्च घातिचतुष्टयान्तकृत्स ईदृग्भवतीत्याह-विचिकित्सा चित्तविप्लुतिः संशयज्ञानं तस्यासौ तदावरणक्षयादन्तकृत्, संशयविपर्ययमिथ्याज्ञानानामविपरीतार्थपरिच्छेदादन्ते वर्तते, इदमुक्तं भवति-तत्र दर्शनावरणक्षयप्रतिपादनात् ज्ञानाद् भिन्नं दर्शनमित्युक्तं भवति, ततश्च येषामेकमेव सर्वज्ञस्य ज्ञानं वस्तुगतयोः सामान्य-

टीकार्थ-जो पुरुष चार प्रकारके घाती कर्मोको नाश करनेवाला है वह इसप्रकारका होता है यह शास्त्रकार बताते है-चित्तकी अस्थिरता यानी सशयज्ञानको विचिकित्सा कहते है उसके आवरणीय कर्मके क्षय करनेके कारण जो पुरुष संशयका अन्त करनेवाला है वह सशयका अन्त करनेवाला है वह संशय विपर्य्यय और मिथ्याज्ञानको ठीक ठीक जाननेके कारण इनके अन्तमे निवास करता है। यहां दर्शनावरणीय कर्मके क्षयका कथन किया है इसलिये दर्शनको ज्ञानसे भिन्न जानना चाहिये अत. जिनका सिद्धान्त यह है कि

विशेषयोरचिन्त्यशक्त्युपेतत्वात्परिच्छेदकमित्येषोऽभ्यु म· सोऽनेन पृथगावरणक्षयप्रति दनेन निरस्तो भवतीति, यश्च घातिकर्मान्तकृदतिक्रान्तसंशयादिज्ञानः सः 'अनीदृशम्' न्यसदृशं जानीते न तत्तुल्यो वस्तुगतसामान्यविशेषांशपरिच्छेदक उभयरूपेणैव विज्ञानेन विद्यत इति, इदमुक्तं भवति-न तज्ज्ञानमितरजनज्ञानतुल्यम्, अतो यदुक्तं मीमांसकैः-सर्वज्ञस्य सर्वपदार्थपरिच्छेदकत्वेऽभ्युप माने सर्वदा स्पर्शरूपर न्धवर्णशब्दपरिच्छेदादनभिमतद्रव्यरसास्वादनमपि प्राप्नोति, तदनेन व्युदस्तं द्रष्टव्यं, यदप्युच्यते-सामान्येन सर्वज्ञसद्भावेऽपि शेषहेतोरभावादर्हत्येव संप्रत्ययो नोपपद्यते, तथा चोक्तम्-"अर्ह(रुह)न् यदि सर्वज्ञो, बुद्धो नेत्यत्र का प्रमा ?। अथोभावपि सर्वज्ञौ, मतभेदस्तयोः कथम् ? ॥१॥" इत्यादि, एतत्परिहारार्थमाह-'अनीदृ ' अनन्यसदृशस्य यः परिच्छेदक आख्याता च नासौ 'तत्र तत्र' दर्शने बौद्धादिके भवति, तेषां द्रव्यपर्याययोरनभ्युपगमादिति, तथाहि-शाक्यमुनिः सर्वं क्षणि मिच्छन् पर्यायानेवेच्छति न द्रव्यं, द्रव्यमन्तरेण च निर्बीजत्वात् पर्यायाणामप्यभावः प्राप्नोत्यतः पर्यायानिच्छ ऽवश्यमकामेनापि तदाधारभूतं परिणामि द्रव्यमेष्टव्यं, तदनभ्युपगमाच्च नासौ सर्वज्ञ इति, तथा अप्रच्युतानुत्पन्न-

"सर्वज्ञ पुरुषका एकही ज्ञान अचिन्त्यशक्तिसे युक्त होनेके कारण वस्तुके सामान्य और विशेष दोनोको निश्चय करता है" सो यहां अलग दर्शनावरणीयके क्षय कहनेसे खण्डित समझना चाहिये। जो पुरुष चार प्रकारके घाती कर्मोका नाश करनेवाला और संशयादि ज्ञानको उलंघन किया हुआ है वह अनन्यसदृश पदार्थका ज्ञाता है उसके समान दोनो ही विज्ञानोसे वस्तुके सामान्य और विशेष अंशको जाननेवाला दूसरा नहीं है। कहनेका आशय यह है कि-उस पुरुषका ज्ञान दूसरे पुरुषोके ज्ञानके समान नही है इसलिये मीमांसकोने जो यह कहा है कि-सर्वज्ञ यदि सब पदार्थोके ज्ञाता है तो उनको सदा स्पर्श आदिका ज्ञान बना रहने से अनभिमत वस्तुके रसास्वादका ज्ञान भी होना चाहिये सो इस कथनसे खण्डित समझना चाहिये तथा वे जो यह कहते है कि-सामान्यरूपसे सर्वज्ञकी सिद्धि होजानेपर भी अरिहन्त ही सर्वज्ञ है इसमें कोई हेतु नहीं है इसलिये अरिहन्त ही सर्वज्ञ है यह वात नहीं वन सकती है। जैसाकि उन्होने कहा है-"यदि अरिहन्त सर्वज्ञ है तो बुद्ध सर्वज्ञ नहीं है इसमे क्या प्रमाण है ?। यदि दोनो ही सर्वज्ञ है तो इन दोनोमे मतभेद क्यों ?।" इस आक्षेपका परिहार करनेके लिये कहते है कि-"अनीदृशस्य" अर्थात् जो पुरुष अनन्यसदृश पदार्थको कहनेवाला है वह बौद्ध आदि दर्शनोमे नहीं है क्योकि वे द्रव्य और पर्य्याय दोनोको स्वीकार नहीं करते है। शाक्य मुनि सभी पदार्थोको क्षणिक मानते हुए केवल पर्य्यायको ही मानते है द्रव्यको नहीं मानते है परन्तु द्रव्यके विना निर्वीज होनेके कारण पर्य्याय भी नहीं हो सकते है इसलिये पर्य्याय माननेवालेको पर्य्यायोका आधारस्वरूप परिणामी द्रव्य अवश्य मानना चाहिये परन्तु शाक्य मुनि परिणामी द्रव्य नही मानते है इसलिये वे सर्वज्ञ नही है। तथा कपिल उत्पत्ति विनाशरहित स्थिर एकस्वभाववाला एकमात्र द्रव्यको ही

तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति मोक्षाङ्गतयेत्येतत्सर्वं पूर्वोत्तराविरोधितया युक्तिभिरुपपन्नतया च सुष्ट्वाख्यातं-स्वाख्यातं, तीर्थिकवचन तु 'न हिंस्याद्भूतानी'ति भणित्वा तदुपमर्दकारम्भाभ्यनुज्ञानात्पूर्वोत्तरविरोधितया तत्र तत्र चिन्त्यमानं निर्युक्तिकत्वान्न स्वाख्यात भवति, स चाविरुद्धार्थस्याख्याता रागद्वेषमोहानामनृतकारणानामसंभवात् सद्भ्यो हितत्वाच्च सत्यः 'स्वाख्यातः' तत्स्वरूपविद्भिः प्रतिपादितः। रागादयो ह्यनृतकारणं ते च तस्य न सन्ति अतः कारणाभावात्कार्या इतिकृत्वा तद्वचो भूतार्थप्रतिपादकं, तथा चोक्तम्-"वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते वचः। यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां, [1]तथ्य भूतार्थदर्शनम् ॥१॥" ननु च सर्वज्ञत्वमन्तरेणापि हेयोपादेयमात्रपरिज्ञानादपि सत्यता भवत्येव, तथा चोक्तम्-"सर्वं पश्यतु वा मा वा, तर ष्टं तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते? ॥१॥ इत्याशङ्क्याह-'सदा' सर्वकालं 'सत्येन' अवितथभाषणत्वेन संपन्नोऽसौ अवितथभाषणत्वं च सर्वज्ञत्वे सति ति, नान्यथा,

एव सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रको जो मोक्षका मार्ग बताया है सो सब मोक्षके कारण और पूर्व परसे अविरुद्ध एवं युक्तिसे युक्त होनेके कारण स्वाख्यात यानी सम्यक्कथन है परन्तु अन्य तीर्थियोका कथन स्वाख्यात नहीं है क्योकि पहले तो अन्यतीर्थियोने "किसी भी जीवकी हिंसा न करनी चाहिये" ऐसी आज्ञा देकर फिर स्थल स्थलमें जीवोके विनाशक आरम्भ की आज्ञा दी है इसलिये उनके ग्रन्थ पूर्वापर विरुद्ध है अतः विचार करनेपर युक्तिरहित होनेके कारण अन्यतीर्थिकोका कथन स्वाख्यात नहीं है। श्रीतीर्थङ्करदेव, अविरुद्ध अर्थको बतानेवाले है क्योकि मिथ्या भाषणके कारण रागद्वेष और मोह उनमे नही हैं अतएव उनका स्वरूप जाननेवाले पुरुष कहते है कि-सत्पुरुषोके हितकारी होनेके कारण श्री तीर्थङ्करदेव सत्य है। राग आदि, मिथ्या भाषणके कारण है वे श्री तीर्थङ्करदेवमे नहीं है इसलिये कारणके अभावसे कार्यका अभाव होना स्वाभाविक ही है अतः तीर्थङ्करदेवका वचन सत्य अर्थका प्रतिपादक है। अतएव कहा है कि-सर्वज्ञ पुरुष वीतराग होते है वे मिथ्यावचन नहीं बोलते है इसलिये सर्वज्ञ पुरुषोका वचन सत्य अर्थका प्रतिपादक है।

यहां शङ्का होती है कि-सर्वज्ञता न होनेपर भी त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तुके ज्ञानमात्रसे सत्यवादिता हो सकती है अतएव कहा है कि (सर्वम्) अर्थात् मार्ग दर्शक पुरुष सर्वज्ञ हो या न हो परन्तु इष्ट अर्थका दर्शक होना चाहिये क्योकि कीडों संख्याका ज्ञान हमारे किस प्रयोजनको सिद्ध करसकता है। इस शङ्काका समाधान करने लिये शास्त्रकार कहते हैं कि-वह तीर्थङ्कर सदा सत्य भाषणसे युक्त है परन्तु सर्वज्ञता होने ही सदा सत्य भाषण किया जा सकता है अन्यथा नहीं क्योकि उनको जैसे कीडोंकी संख्या

१ तथा भूतार्थ० प्रत्र।

तथाहि-कीटसंख्यापरिज्ञानासंभवे सर्वत्रापरिज्ञानमाशङ्कयेत, तथा चोक्तम्-"सदृशे बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्याद्" इति सर्वत्रानाश्वास', तस्मात्सर्वज्ञत्वं तस्य भगवत एष्टव्यम्, अन्यथा तद्वचसः सदा सत्यता न स्यात्, सत्यो वा संयमः सन्तः-प्राणिनस्तेभ्यो हितत्वाद् अतस्तेन तपःप्रधानेन संयमेन भूतार्थहितकारिणा 'सदा' सर्वकालं 'संपन्नो' युक्तः, एतद्गुणसंपन्नश्चासौ 'भूतेषु' जन्तुषु 'मैत्रीं' तद्रक्षणपरतया भूतदयां 'कल्पयेत्' कुर्यात्, इदमुक्तं भवति-परमार्थतः स सर्वज्ञस्तत्त्वदर्शितया यो भूतेषु मैत्रीं कल्पयेत्, तथा चोक्तम्-[''मातृवत्परदाराणि, परद्रव्याणि लोष्टवत् ।] आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति ॥१॥" ॥३॥

ज्ञान नहीं है इसीतरह दूसरे पदार्थोका ज्ञान न होना भी सम्भव है अतएव कहा है कि जैसे एक स्थलमें उस पुरुषका ज्ञान बाधित और असम्भव है इसीतरह दूसरी जगह भी हो सकता है इसप्रकार उसकी सत्यवादिता दूषित हो जाती है अत उसके किसी भी वाक्य पर विश्वास नहीं किया जा सकता है अत श्री तीर्थङ्कर भगवान्को अवश्य सर्वज्ञ मानना चाहिये। अन्यथा उनका वचन सदा सत्य नहीं हो सकता है । अथवा प्राणियोंको सत् कहते हैं और उनका जो हितकर है उसे सत्य कहते है वह संयम है क्योंकि वह प्राणियोंका हितकर है उस भूतहितकारी तप प्रधान संयमसे सदा युक्त होकर वह तीर्थङ्करदेव प्राणियोंमें मैत्रीकी स्थापना करते है, अर्थात् वे जीवोंकी रक्षाका उपदेश देकर भूतदयाकी स्थापना करते है । आशय यह है कि—वस्तुत. वही पुरुष सर्वज्ञ है जो तत्वदर्शी होकर प्राणियोंमें मैत्रीकी स्थापना करता है । अतएव कहा है कि—जो पुरुष दूसरेकी स्त्रीको माताके समान और दूसरेके द्रव्यको पाषाण के समान तथा सब प्राणियोंको अपने समान देखता है वही तत्वदर्शी है । ३

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
वुसिमं जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवितभावणा ॥४॥

छाया-भूतैर्न विरुद्धयेतैष धर्मः साधोः ।
साधु र्जगत्परिज्ञाया,स्मिन् जीवितभावना ॥

अन्वयार्थ-(भूएहिं न विरुज्झेज्जा) प्राणियोंके साथ वैर न करे (एस वुसीमओ धम्मे) यह साधुओंका धर्म है। (वुसिम जग परिन्नाय) साधु जगत्के स्वरूपको जानकर (अस्सिं जीवितभावणा) शुद्ध धर्मकी भावना करे ।

भावार्थ—प्राणियोके साथ विरोध न करना साधुका धर्म है । इसलिये जगत्के स्वरूपको जानकर साधु धर्मकी भावना करे ।

---

२ नास्ति क्वचिदपि आदर्शे ।

यथा भूतेपु मैत्री संपूर्णभावमनु ति तथा दर्शयितुमाह-'भूतैः' स्थावरजङ्गमैः सह 'विरोधं न कुर्यात्' तदुपघातकारिणमारम्भं तद्विरोधकारणं दूरतः परिवर्जयेदित्यर्थः स 'एषः' अनन्तरोक्तो भूताविरोधकारी 'धर्मः' स्वभावः पुण्याख्यो वा 'वुसीमओ'त्ति तीर्थकृतोऽयं सत्संयमवतो वेति। तथा सत्संयमवान् साधुस्तीर्थकृद्वा 'जगत्' चराचरभूतग्रामाख्यं केवलालोकेन सर्वज्ञप्रणीतागमपरिज्ञानेन वा 'परिज्ञाय' सम्यगववुध्य 'अस्मिन्' जगति मौनीन्द्रे वा धर्मे भा ाः पञ्चविंशतिरूपा द्वादशप्रकारा वा या अभिमतास्ता 'जीवितभावना' जीवसमाधानकारिणीः सत्संयमाङ्गतया मोक्षकारिणीर्भावयेदिति ॥४॥ सद्भावनाभावितस्य यद्भवति तद्दर्शयितुमाह—

टीकार्थ—प्राणियोंके साथ जिसप्रकार पूर्ण मैत्री हो सकती है सो बतानेके लिये शास्त्रकार कहते है—साधु, स्थावर और जङ्गम सब प्रकारके प्राणियोंके साथ विरोध न करे। प्राणियोका विघात करनेवाला आरम्भ है और वही उनके साथ विरोधका कारण है इसलिये साधु उसे दूरसे ही त्याग करे। भूतोंके साथ विरोध न करनेवाला यह पूर्वोक्त धर्म यानी स्वभाव अथवा पुण्यकार्य तीर्थङ्करका है अथवा उत्तम संयम पालनेवाले साधुका है। इसीतरह उत्तम संयमवाला साधु अथवा तीर्थङ्कर चराचर जगत्को सर्वज्ञ प्रणीत आगमके द्वारा अथवा केवलज्ञानके द्वारा अच्छीतरह जानकर अपने आत्माको शान्ति देनेवाली, उत्तम सयमके अङ्गभूत तथा मोक्षके कारण और सत्पुरुषोंके इष्ट जो इस जगतमें अथवा मुनीन्द्रसम्बन्धी धर्ममें २५ प्रकारकी भावनायें है उनकी भावना करे। ४

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥५॥

छाया—भावनायोगशुद्धात्मा, जले नौरिवाहितः।
नौरिव तीरसम्पन्नः सर्वदुःखात् त्रुटयति ॥

अन्वयार्थ—(भावणाजोगसुद्धप्पा) भावनारूपी योगसे शुद्ध आत्मावाला पुरुष (जले णावाव आहिया) जलमें नावके समान कहा गया है। (णावाव तीरसपन्ना) तीरको प्राप्त करके जैसे नाव विश्राम करती है (सव्वदुक्खा तिउट्टइ) इसीतरह उक्त पुरुष सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—पूर्वोक्त पचीसप्रकारकी अथवा बारह प्रकारकी भावनासे जिसका आत्मा शुद्ध हो गया है वह पुरुष जलमें नावके समान कहा गया है। जैसे तीरभूमिको पाकर नाव विश्राम करती है इसीतरह वह पुरुष सब दुखोसे छुट जाता है।

भावनाभियोगः-सम्यक्प्रणिधानलक्षणो भावनायोगस्तेन शुद्ध आत्मा-अन्तरात्मा यस्य स तथा, स च भावनायोगशुद्धात्मा सन् परित्यक्तसंसारस्वभावो नौरिव जलोपर्यवतिष्ठते संसारोदन्वत इति, नौर्यथा जलेऽनिमज्जनत्वेन प्रख्याता एवमसावपि संसारोदन्वति न निमज्जतीति। यथा चासौ निर्यामकाधिष्ठिताऽनुकूलवातेरिता समस्तद्वन्द्वापगमात्तीरमास्कन्दत्येवमायतचारित्रवान् जीवपोतः सदागमकर्णधाराधिष्ठितस्तपोमारुतवशात्सर्वदुःखात्मकात्संसारात् 'त्रुटयति' अपगच्छति मोक्षाख्यं तीरं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपमवाप्नोतीति ॥५॥

टीकार्थ—उत्तम भावना करनेवाले पुरुषकी जो गति होती है उसे बतानेके लिये शास्त्रकार कहते है—उत्तम भावनाके योगसे जिसका अन्त करण शुद्ध हो गया है वह पुरुष संसारके स्वभावको छोड़कर जलमें नावकी तरह संसारसागरके ऊपर रहता है। जैसे नाव जलमे नहीं डूबती है इसीतरह वह पुरुष भी संसारसागरमें नहीं डूबता है। जैसे उत्तम कर्णधारसे युक्त और अनुकूल पवनसे प्रेरित नाव सब द्वन्द्वोसे मुक्त होकर तीर पर प्राप्त होती है इसीतरह उत्तम चारित्रवान् जीवरूपी नाव उत्तम आगमरूप कर्णधारसे युक्त तथा तपरूपी पवनसे प्रेरित होकर दु खात्मक संसारसे छुटकर समस्त दु खोका अभावरूप मोक्षको प्राप्त करती है। ५

तिउट्टई उ मेधावी, जाणं लोगंसि पावगं।
तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ॥६॥

छाया—त्रुटयति तु मेधावी जानन् लोके पापकम्।
त्रुटयन्ति पापकर्माणि नवं कर्माकुर्वतः ॥

अन्वयार्थ—(लोगसि पावग जाण) लोकमें पापकर्मको जाननेवाला (मेधावी उ तिउट्टई) बुद्धिमान् पुरुष सब बन्धनोंसे छुट जाता है। (नव कम्म अकुव्वए) नूतन कर्म न करते हुए पुरुषके (पावकम्माणि तिउट्टंति) सभी पाप कर्म छुट जाते हैं।

भावार्थ—लोकमे पाप कर्मको जाननेवाला पुरुष सब बन्धनोसे मुक्त हो जाता है तथा नूतन कर्म न करनेवाले पुरुषके सभी पापकर्म छुट जाते है।

अपिच—स हि भावनायोगशुद्धात्मा नौरिव जले संसारे परिवर्तमानस्त्रिभ्यो-मनोवाक्कायेभ्योऽशुभेभ्यस्त्रुटयति, यदिवा अतीव सर्वबन्धनेभ्यस्त्रुटयति-मुच्यते अतित्रुटयति-संसारादतिवर्तते 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थित. सदसद्विवेकी वाऽस्मिन्

टीकार्थ—भावनायोगसे शुद्ध आमावाला पुरुष जलमे नावकी तरह संसारमे वर्तमान रहता हुआ मन वचन और काय तीनोके द्वारा अशुभ यानी पापसे छुट जाता है। अथवा वह सब प्रकारके बन्धनोसे अत्यन्त मुक्त हो जाता है। वह संसारसागरको उल्लङ्घन कर जाता है। शास्त्रोक्त

'लोके' चतुर्दशरज्ज्वात्मके भूतग्रामलोके वा यत्किमपि 'पापकं' कर्म सावद्यानुष्ठानरूपं तत्कार्यं वा अष्टप्रकारं कर्म तत् ज्ञपरिज्ञया जानन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तदुपादानं परिहरन् ततस्त्रुट्यति, तस्यैवं लोकं कर्म वा जानतो नवानि कर्माण्यकुर्वतो निरुद्धाश्रवद्वारस्य विकृष्टतपश्चरणवतः पूर्वसंचितानि कर्माणि त्रुट्यन्ति निवर्तन्ते वा नवं च कर्माकुर्वतोऽशेषकर्मक्षयो भवतीति ॥६॥

मर्यादा मे स्थित अथवा सत् और असत्का विवेकी पुरुप चौदह रज्जुस्वरूप तथा जीवोसे पूर्ण इस लोकमें सावद्यानुष्ठानरूप पाप कर्मको अथवा उसके कार्यरूप आठप्रकारके कर्मोको ज्ञपरिज्ञासे जानकर प्रत्याल्यान परिज्ञासे उनके कारणोको त्यागता हुआ उनसे मुक्त हो जाता है। इसप्रकार लोक अथवा कर्मको जानते हुए तथा नवीन कर्म न करते हुए एवं आश्रवद्वारोको रोके हुए और उत्कृष्ट तप करते हुए पुरुषके पूर्वसञ्चित पाप कर्म नष्ट हो जाते है। जो पुरुष नूतन कर्म नही करता है उसके समस्त कर्मोका क्षय हो जाता है। ६

अ व्वओ णवं णत्थि, कम्ं ना विजाणइ।
वि ाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जई ॥७॥

छाया—अकुर्वतो नवं नास्ति, कर्म नाम विजानाति।
विज्ञाय स महावीरो येन याति न म्रियते ॥

अन्वयार्थ—(अकुव्वओ णव णत्थि) जो पुरुष कर्म नहीं करता है उसको नवीन कर्मवन्ध नहीं होता है (कम्म नाम विजाणइ) वह पुरुष आठ प्रकारके कर्मोको जानता है (से महावीरे विन्नाय) वह महावीर पुरुष कर्मोको जानकर (जेण जाई ण मिज्जई) ऐसा कार्य्य करता है जिससे वह समारमें न उत्पन्न होता है और न मरता है।

भावार्थ—जो पुरुप कर्म नही करता है उसको नूतन कर्मबन्ध नहीं होता है। वह पुरुप अष्टविध कर्मोको जानता है। वह महावीर पुरुप आठ प्रकारके कर्मोको जानकर ऐसा प्रयत्न करता है जिससे वह संसारसागरमे न तो कभी उत्पन्न होता है और न मरता है।

केषाञ्चित्सत्यामपि कर्मक्षयानन्तर मोक्षावाप्तौ [तथापि] स्वतीर्थनिकारदर्शनतः पुनरपि संसाराभिगमनं भवती(तो) दमाशङ्क्याह—तस्याशेषक्रियारहितस्य योगप्रत्ययाभावात्किमप्यकुर्वतोऽपि 'नवं' प्रत्यग्रं कर्म ज्ञानावरणीयादिकं 'नास्ति' न

टीकार्थ—कई दार्शनिकोकी मान्यता यह है कि—"कर्मक्षय होजानेके पश्चात् जिनको मुक्ति मिल चुकी है वे भी अपने तीर्थका अपमान देखकर फिर संसारमें आते है" यह शङ्का करके शास्त्रकार कहते है कि—वह मुक्त पुरुप समस्त क्रियाओंसे रहित होता है उसके योगरूप कारण नही होते इसलिये वह कुछ भी कार्य नहीं करता है इसकारण उसको नवीन ज्ञानावरणीय आदि

लक्षणमकारि, अथवा पराणि व्रतानि सापवादानि इदं तु निरपवादमित्यस्यार्थस्य प्रकटनार्थं ारि, अ ा ण्यपि व्रतानि तुल्यानि, एकखण्डने सर्वविराधनमितिकृत्वा येन केनचिन्निर्देशो न दोषायेति ॥८॥ अधुना स्त्रीप्रसङ्गाश्रवनिरोधफलमाविर्भावयन्नाह—

आश्रवोको उपलक्षित किया है। अथवा दूसरे व्रत अपवादके सहित है परन्तु इस चौथे व्रतमें अपवाद नही है इस बातको बतानेके लिये यहां चौथे आश्रवका ग्रहण किया है। अथवा सभी व्रत तुल्य है, यदि एककी भी विराधना हो तो सभीकी विराधना होती है इसलिये चाहे किसीका भी निर्देश किया जाय कोई दोष नहीं है। ८

इत्थिओ जे ण सेवंति, आइमोक ा ते ा ।
ते ा बंधणुम ा, ावकंखंति जीवियं ॥९॥

या—स्त्रियो ये न सेवन्ते, आदिमोक्षा हि ते जनाः ।
ते जनाः बन्धनोन्मु ाः नावकाङ्क्षन्ति जीवितम् ॥

अन्वयार्थ—(जे इत्थिओ ण सेवति) जो स्त्रीका सेवन नहीं करते हे (ते जणा आइमोक्खाहु) वे मनुष्य सवसे प्रथम मोक्षगामी होते है। (वधणुम्मुक्का ते जणा जीविय नावकखति) तथा वन्धनसे मुक्त वे जीव, असयम जीवनकी इच्छा नहीं करते है।

भावार्थ—जो स्त्रीका सेवन नही करते हैं वे पुरुप सवसे प्रथम मोक्षगामी होते है। तथा वन्धनसे मुक्त वे पुरुष असंयम जीवनकी इच्छा नहीं करते है।

ये महासत्त्वाः कटुविपाकोऽयं स्त्रीप्रसङ्ग इत्येवमवधारण[त]या स्त्रिय सुगतिमार्गार्गलाः संसारवीथीभूताः सर्वाविनयराजधान्यः कपटजालशताकुला महामोहनशक्तयो 'न सेवन्ते' न तत्प्रसङ्गमभिलषन्ति त एवभूता जना इतरजनातीताः साधव आदौ-प्रथमं मोक्षः-अशेषद्वन्द्वोपरमरूपो येषां ते आदिमोक्षाः, हुरवधारणे, आदिमोक्षा एव तेऽवगन्तव्याः, इदमुक्तं भवति-सर्वाविनयास्पदभूतः स्त्रीप्रसङ्गो यैः

टीकार्थ—अव शास्त्रकार स्त्रीप्रसङ्गरूप आश्रवद्वारके निरोधका फल वतानेके लिये कहते है—जो पुरुष महापराक्रमी है वे समझते है कि—"स्त्रीके प्रसङ्गका फल कटु होता है तथा स्त्रियॉ सुगतिमार्गकी अर्गलारूप है एव ससारमें उतरनेके मार्ग है तथा अविनयोकी राजधानी है, और सैकडो कपटजालोंसे भरी हुई है एवं वे महामोहनशक्ति है" अत वे उनके प्रसङ्गकी इच्छा नहीं करते हे ऐसे पुरुप दूसरे पुरुषोसे उत्कृष्ट हैं और वे साधु है वे पुरुप सवसे प्रथम समस्त द्वन्द्वोंकी निवृत्ति रूप मोक्षको प्राप्त करते है। यहां "हु" शब्द अवधारण अर्थमें है इसलिये उन पुरुषोको सवमे प्रधान मोक्षगामी समझना चाहिये। आशय यह है कि जिन पुरुषोंने

परित्यक्तस्त एवादिमोक्षा -प्रधानभूतमोक्षाख्यपुरुषार्थोद्यताः, आदिशब्दस्य प्रधानवाचित्वात्, न केवलमुद्यतास्ते ाः स्त्रीपाशबन्धनोन्मुक्ततयाऽशेषकर्मबन्धनोन्मुक्ताः सन्तो 'नावकाङ्क्षन्ति' नाभिलषन्ति असंयमजीवितम् अपरमपि परिग्रहादिकं नाभिलषन्ते, यदिवा परित्यक्तविषयेच्छाः सदनुष्ठानपरायणा मोक्षैकताना 'जीवितं' दीर्घकालजीवितं नाभिकाङ्क्षन्तीति ॥९॥

समस्त अविनयोंके स्थानस्वरूप स्त्रीप्रसङ्गको त्याग दिया है वेही पुरुष आदिमोक्ष है अर्थात् वे प्रधानभूत मोक्षनामक पुरुषार्थमे उद्यत हैं (यहां आदि शब्द प्रधान अर्थका वाचक है) वे पुरुष मोक्षरूप पुरुपार्थमें केवल उद्यत ही नही अपितु स्त्रीरूपी पाशबन्धनसे मुक्त होजानेके कारण समस्त पाशबन्धनोंसे मुक्त है इसकारण वे असंयम जीवनकी कामना नहीं करते है तथा दूसरे भी परिग्रह आदिकी इच्छा नहीं करते है । अथवा विषयभोगकी इच्छाको त्याग कर उत्तम अनुष्ठानमें तत्पर तथा मोक्षमें एकाग्र वे पुरुष दीर्घकाल तक जीनेकी इच्छा नहीं करते है । ९

जीवितं पिट्ठओ कि ा, अंतं पावंति कम्मुणं ।
म्मुणा संमुहीभूता, जे ग्गमणुसासई ॥१०॥

छाया-जीवितं पृष्ठतः कृत्वाऽन्तं प्राप्नुवन्ति कर्मणाम् ।
कर्मणा सम्मुखीभूता, ये मार्गमनुशासति ॥

अन्वयार्थ-(जीवित पिट्ठओ किच्चा) जीवनको पीछे करके (कम्मुण अत पावति) साधु कर्मके अन्तको प्राप्त करते है । (कम्मुणा समुहीभूता) वे पुरुष विशिष्ट कर्मके अनुष्ठानसे मोक्षके समुखीभूत हैं (जे मग्गमणुसासई) जो मोक्षमार्गकी शिक्षा देते है ।

भावार्थ-साधु पुरुष जीवनसे निरपेक्ष होकर ज्ञानावरणीयादि कर्मोके अन्तको प्राप्त करते है । वे पुरुष उत्तम अनुष्ठानके द्वारा मोक्षके सम्मुख हैं जो मोक्षमार्गकी शिक्षा देते हैं ।

किंचान्यत्-'जीवितम्' असंयमजीवितं 'पृष्ठत' कृत्वा' अनादृत्य प्राणधारणलक्षणं वा जीवितमनादृत्य सदनुष्ठानपरायणाः 'कर्मणां' ज्ञानवरणादीनाम् 'अन्तं' पर्यवसानं प्राप्नुवन्ति, अथवा 'कर्मणा' सदनुष्ठानेन जीवितनिरपेक्षा संसारोदन्वतोऽन्तं-सर्वद्वन्द्वोपरमरूपं मोक्षाख्यमाप्नुवन्ति, सर्वदुःखविमोक्षलक्षणं मोक्षमप्राप्ता

टीकार्थ-असंयम जीवन अथवा प्राणधारणरूप जीवनका अनादर कर उत्तम अनुष्ठानमे रत रहनेवाले पुरुष ज्ञानावरणीय आदि कर्मोका अन्त (नाश) करते है । अथवा जीवनसे निरपेक्ष होकर उत्तम अनुष्ठानमे रत पुरुष संसारसागरके अन्त स्वरूप सब द्वन्द्वोंका अभावरूप मोक्षको प्राप्त करते है । यद्यपि वे पुरुष समस्त दुःखोंकी निवृत्तिरूप मोक्षको प्राप्त नहीं है

अपि कर्मणा-विशिष्टानुष्ठानेन मोक्षस्य संमुखीभूता-घातिचतुष्टयक्षयक्रियया उत्पन्नदिव्यज्ञानाः शाश्वतपदस्याभिमुखीभूताः, क एवंभूता इत्याह-ये विपच्यमानतीर्थकृन्नामकर्माणः समासादितदिव्यज्ञाना 'मार्गं' मोक्षमार्गं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपम् 'अनुशासति' सत्त्वहिताय प्राणिनां प्रतिपादयन्ति स्वतश्चानुतिष्ठन्तीति ॥१०॥

तथापि वे विशिष्ट क्रियाके द्वारा मोक्षके सम्मुख हैं वे पुरुष चार प्रकारके घाती कर्मोका क्षय करके दिव्यज्ञानकी उत्पत्तिसे युक्त और मोक्षपदके अभिमुख है। वे पुरुष कौन है ? यह शास्त्रकार बताते है-जिनका तीर्थङ्कर नाम कर्म परिपाकको प्राप्त हो रहा है तथा जिनको दिव्यज्ञान उत्पन्न होगया है तथा जो प्राणियोंके हितके लिये ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप मोक्षमार्ग का उपदेश करते ह और स्वयं भी उसका आचरण करते हैं वे पुरुष मोक्षके अभिमुख है। १०

अणु ा णं पुढो पाणी, वसु ं पू णा ( ) े ।
अणा ए जते दंते, दढे आरयमेहुणे ॥११॥

छाया-अनुशासनं पृथक् प्राणिषु, वसुमान् पूजनास्वादकः ।
अनाशयो यतो दान्तो दृढ आरतमैथुनः ॥

अन्वयार्थ-(अणुसासण पुढो पाणी) धर्मोपदेश भिन्न भिन्न प्राणियोंमें भिन्न भिन्न रूपमें परिणत होता है। (वसुम पूयणासु (स) ते) सयमधारी तथा देवादिकृत पूजाका भोग करनेवाला (अणासए जते दते) पूजामें रुचि न रखनेवाला, सयमपरायण, जितेन्द्रिय (दढे आरयमेहुणे) दृढ और मैथुनरहित पुरुष मोक्षके सम्मुख है ।

भावार्थ-धर्मोपदेश भिन्न भिन्न प्राणियोमें भिन्न भिन्न रूपमें परिणत होता है। संयमधारी, देवादिकृत पूजाको प्राप्त करनेवाला परन्तु उस पूजामे रुचि न रखनेवाला, संयमपरायण जितेन्द्रिय, संयममे दृढ और मैथुनरहित पुरुप मोक्षके सम्मुख है ।

अनुशासनप्रकारमधिकृत्याह-अनुशास्यन्ते-सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सदसद्विवेकतः प्राणिनो येन तदनुशासनं-धर्मदेशनया सन्मार्गावतारण तत्पृथक् पृथक् भव्याभव्यादिषु प्राणिषु क्षित्युदकवत् स्वाशयवशादनेकधा भवति, यद्यपि च अभव्येषु तदनुशासनं न सम्यक् परिणमति तथापि सर्वोपायज्ञस्यापि न सर्वज्ञस्य दोषः,

टीकार्थ-अब शास्त्रकार धर्मोपदेशका भेद बतानेके लिये कहते है-जिस शिक्षा से प्राणी, सत और असत्के विवेकी बनाये जाकर सन्मार्गमें उतारे जाते हैं उसे अनुशासन कहते हैं। वह धर्मकी शिक्षा है क्योंकि उसीके द्वारा प्राणी सन्मार्गमे लाये जाते है। परन्तु वह सन्मार्गमें उतरना भव्य और अभव्य आदि प्राणियोंके अभिप्रायके भेदसे अनेक प्रकारका होता है, जैसे पृथिवीके भेदसे एक ही जलका अनेक भेद हो जाता है। यद्यपि अभव्य प्राणियोंमे

तेषामेव स्वभावपरिणतिरियं यया तद्वाक्यममृतभूतमेकान्तपथ्यं समस्तद्वन्द्वोपघातकारि न यथावत् परिणमति, तथा चोक्तम्-"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव! तवापि खिलान्यभूवन्। तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥१॥" किंभूतोऽसावनुशासक इत्याह-वसु-द्रव्यं स च मोक्षं प्रति प्रवृत्तस्य संयमः तद्विद्यते यस्यासौ वसुमान्, पूजनं-देवादिकृतमशोकादिकमास्वादयति-उपभुङ्क्त इति पूजनास्वादकः, ननु चाधाकर्मणो देवादिकृतस्य समवसरणादेरुपभोगात्कथमसौ सत्संयमवानित्याशङ्क्याह-न विद्यते आशयः-पूजाभिप्रायो यस्यासावनाशयः, यदिवा द्रव्यतो विद्यमानेऽपि समवसरणादिके भावतोऽनास्वादकोऽसौ, तद्गतगार्ध्याभावात्, सत्यप्युपभोगे 'यत' प्रयतः सन्संयमवानेवासावेकान्तेन संयमपरायणत्वात्, कुतो? यत इन्द्रियनोइन्द्रियाभ्यां दान्तः, एतद्गुणोऽपि कथमित्याह-दृढः संयमे, आरतम्-उपरतमपगतं मैथुनं यस्य स आरतमैथुनः-अपगतेच्छामदनकामः, इच्छामदनकामाभावाच्च संयमे दृढोऽसौ भवति, आयतचारित्रत्वाच्च दान्तोऽसौ भवति, इन्द्रियनोइन्द्रियदमाच्च प्रयतः प्रयत्नवत्वाच्च

देवादिपूजनानास्वादकः, तदनास्वादनाच्च सत्यपि द्रव्यतः परिभोगे सत्
नेवासाविति ॥११॥

पूजाके आस्वादक नही है । भगवान् देवादिकृत पूजाके आस्वादक नहीं है इसलिये देवादिकृत पूजाके भोग करने पर भी वे सत्संयमी ही है । ११

ीवारे ण लीए ा, छि सोए ाविले ।
ाइले ा दंते, ं धिं पे ेलि ं ॥१२॥

छाया–नीवार इव न लीयेत, छिन्नस्रो अनाविलः ।
अनाविलः सदा दान्तः सन्धि प्राप्तोऽनीदृशम् ॥

अन्वयार्थ–(णीवारेव ण लीएज्जा) सुअर आदि प्राणीको प्रलोभित करके मृत् पहुचानेवाले चावलके दानेके समान स्त्रीप्रसङ्ग है अत' साधु स्त्रीप्रसङ्ग न करें । विषयभोगमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति ससारमें आनेके द्वार हैं इस लिये जिसने विषयभोगरूप छेदन करडाला है (अणाविले) तथा जो रागद्वेषरूप मलसे रहित है (अणाइले) एव प्रवृत्ति न करता हुआ जो स्थिरचित्त है (सयादते) वही पुरुष इन्द्रिय और मनको व (अणेलिस सधि पत्ते) अनुपम भावसन्धिको प्राप्त करता है ।

भावार्थ–जैसे चावलके दानोको खानेके लोभसे सुअर आदि प्राणी वध्यस्था हैं इसीतरह स्त्रीसेवनके लोभमें पडकर जीव संसार भ्रमण करता है अतःसुअर स्थानमे पहुँचानेवाले चावलके दानेके समान स्त्रीप्रसङ्ग जीवके नाशका कारण है पुरुप स्त्रीप्रसङ्ग कदापि न करे । जो पुरुष अपनी इन्द्रियोको विषयभोगमें प्रवृ तथा रागद्वेषको जीतकर प्रसन्नचित्त हो गया है वह इन्द्रिय और मनको वश वि अनुपम भावसन्धिको प्राप्त करता है ।

अथ किमित्यसावुपरतमैथुन इत्याशङ्कयाह-नीवारः-सूकरादीनां स्थानप्रवेशनभूतो भक्ष्यविशेषस्तत्कल्पमेतन्मैथुनं, यथा हि असौ प्रलोभ्य वध्यस्थानमभिनीय नानाप्रकारा वेदनाः प्राप्यते तावप्यसु कल्पेनानेन स्त्रीप्रसङ्गेन वशीकृतो बहुप्रकारा यातना' प्राप्नोति, अतो

टीकार्थ–वह पुरुप मैथुनका त्याग क्यों करता है? यह शङ्का करके शास्त्र सुअर आदि प्राणियोंको वध्यस्थानमें प्रवेश करानेवाले चावलके दाने आदि भक्ष्य कहते हैं उस नीवारके समानही यह स्त्रीप्रसङ्ग है । जैसे व्याध आदि प्राणी सुअर चावलके दानोंका लोभ देकर वध्यस्थानमें ले जाकर अनेक प्रकारकी पीडायें देते है प्राणधारी पुरुप स्त्रीप्रसङ्गके वशमें होकर नाना प्रकारकी यातनायें भोगता है । अत

मेतन्मैथुनमवगम्य स तस्मिन् ज्ञा स्वो 'न लीयेत' न स्त्रीप्रसङ्गं कुर्यात्, किंभूतः सन्नित्याह-छिन्नानि-अपनीतानि स्रोतांसि-संसारावतरणद्वाराणि यथाविषयमिन्द्रिय-प्रवर्तनानि प्राणातिपातादीनि वा आश्रवद्वाराणि येन स छिन्नस्रोताः, तथा 'अनाविलः' अकलुषो रागद्वेषासंपृक्ततया मलरहितोऽनाकुलो वा-विषयाप्रवृत्तेः स्वस्थचेता एवंभूतश्चानाविलोऽनाकुलो वा 'सदा' सर्वकालपि मिन्द्रियनोइन्द्रियाभ्यां दान्तो ति, ईदृग्विधश्च कर्मविवरलक्षणं भावसंधिम् 'अनीदृशम्' अनन्यतुल्यं प्राप्तो भवतीति ॥१२॥ किञ्च—

पुरुष सुअरको लोभित करनेवाले चावलके दानेके समान मैथुनको जानकर स्त्रीप्रसङ्गमे प्रवृत्त न हो अर्थात् वह स्त्रीप्रसङ्ग न करे। वह पुरुष किसतरह हो ? सो शास्त्रकार कहते हैं—अपने अपने विषयोमें इन्द्रियोंको जो प्रवृत्ति है अथवा प्राणातिपात आदि जो आश्रवद्वार है वे संसारमें उतरनेके द्वार हैं इसलिये जिसने इनका छेदन करदिया है उसे 'छिन्नस्रोता' कहते है। जो पुरुष 'छिन्नस्रोता' है तथा जो रागद्वेष से रहित होनेके कारण मलरहित है अथवा विषय सेवनमें व्यग्र नहीं है अथवा विषय सेवनमें प्रवृत्ति न करनेके कारण जिसका चित्त स्वस्थ है ऐसा मल रहित अथवा आकुलता रहित पुरुष सदा इन्द्रिय और मनको बश किया हुआ है और ऐसाही पुरुष कर्मके विवररूप अनुपम भावसन्धिको प्राप्त होता है। १२

अणेलि स खेय , ण विरुज्झिज्ज केणइ ।
ण ा व ा चेव, ा ा चेव चक्खुमं ॥१३॥

छाया—अनीदृशस्य खेदज्ञो न विरुध्येत केनाऽपि ।
मनसा वचसा चैव कायेन चैव चक्षुष्मान् ॥

अन्वयार्थ—(अणेलिसस्स खेयन्ने) जिसके समान उत्तम दूसरा पदार्थ नहीं है उसको अनीदृश कहते हैं वह सयम है अथवा तीर्थङ्करोक्त धर्म है। उस सयममें अथवा तीर्थङ्करोक्त धर्ममें जो पुरुष निपुण है वह (मणसा वयसा कायसा चेव केणइ ण विरुज्झिज्ज) मन वचन और कायसे किसी प्राणीके साथ विरोध न करे (चक्खुम) जो पुरुष ऐसा है वही परमार्थदर्शी है।

भावार्थ—जो पुरुष संयम पालन करनेमे तथा तीर्थङ्करोक्त धर्मके सेवन करनेमें निपुण है वह मन वचन और कायसे किसी प्राणीके साथ विरोध न करे। जो पुरुष ऐसा है वही परमार्थदर्शी है।

भावयेदित्यर्थः, योगत्रिककरणत्रिकेणेति दर्शयति-'मसा' अन्तःकरणेन प्रशान्तमनाः, तथा 'वाचा' हितमितभाषी तथा कायेन निरुद्धदुष्प्रणिहितकायचेष्टो दृष्टिपूतपादचारी सन् परमार्थतश्चक्षुष्मान् भवतीति ॥१३॥

प्राणीके साथ विरोध न करे किन्तु सबके साथ मैत्रीकी भावना करे यह अर्थ है। उक्त पुरुष तीन योग और तीन करणोसे किसीके साथ वैर न करे यह शास्त्रकार दिखलाते हैं—उक्त पुरुष मन यानी अन्तः करणसे किसीके साथ विरोध न करे किन्तु चित्तको शान्त किया रहे, तथा वाणीसे वह प्रजाओंका हितकारक और परिमित शब्द बोले एवं शरीरसे वह सब प्रकारकी संयम विरोधी चेष्टाओको त्याग करे। इस प्रकार पृथीवीको देखकर उसपर चलनेवाले जीवोको बँचाकर पैर रखनेवाले पुरुष परमार्थत· तत्त्वदर्शी है। १३

से हु चक्खू मणुस्साणं, जे ं ाए अं ए।
अंतेण खुरो वहती, चक्कं अंतेण लो ॥१४॥

छाया-सहि चक्षु र्मनुष्याणां, यः काङ्क्षायाश्चान्तकः।
अन्तेन क्षुरो वहति चक्रमन्तेन लुठति॥

अन्वयार्थ-(सेहु मणुस्साण चक्खू) वही पुरुष मनुष्योंका नेत्र है (जे कखाए अतए) जो भोगकी इच्छाके अन्तमें है। (खुरो अतेण वहति) अस्तुरा अन्तिम भागसे ही वहता है (चक्क अतेण लोट्टति) तथा रथका चक्र अन्तिम भागसे ही चलता है।

भावार्थ-जिस पुरुषको भोगकी तृष्णा नहीं है वही सब मनुष्योको नेत्रके समान उत्तम मार्ग दिखानेवाला है। जैसे अस्तुराका अग्रभाग और चक्रका अन्तिम भागही चलता है इसीतरह मोहनीय कर्मका अन्तही ससारको क्षय करता है।

अपिच-हुरवधारणे, स एव प्राप्तकर्मविवरोऽनीदृशस्य खेदज्ञो भव्यमनुष्याणां चक्षुः-सदसत्पदार्थाविर्भावनान्नेत्रभूतो वर्तते, किंभूतोऽसौ ?, यः 'काङ्क्षायाः' भोगेच्छाया अन्तको विषयतृष्णायाः पर्यन्तवर्ती। किमन्तवर्तीति विवक्षितमर्थं साधयति ?, साधयत्येवेत्यमुमर्थं दृष्टान्तेन साधयन्नाह-'अन्तेन' पर्यन्तेन 'क्षुरो' नापितोपकरणं

टीकार्थ-'हु' शब्द अवधारण अर्थमे आया है। जिसने कर्मके विवरको प्राप्त किया है तथा जो सर्वोत्तम संयम अथवा तीर्थङ्करोक्त धर्ममे निपुण है वही पुरुष भव्य जीवोका नेत्र है। वह भले और बुरे पदार्थोंको प्रकट करनेके कारण भव्य जीवोंका नेत्रके समान है। वह पुरुष कैसा है सो शास्त्रकार बतलाते है—जो पुरुष भोगकी इच्छाके अन्तमे है अर्थात् जो विषयतृष्णाके पर्य्यन्तमे स्थित है वही नेत्रके सदृश है। विषय तृष्णाके अन्तमे रहनेवाला पुरुष क्या इष्ट वस्तुकी सिद्धि करलेता है ? हाँ, अवश्य करलेता है, यह दृष्टान्तके द्वारा सिद्ध करते हुए

ज्ञानचारित्रात्मकं धर्ममाराध्य 'नराः' मनुष्याः कर्मभूमिगर्भव्युत्क्रान्तिजसंख्येयवर्षायुषः सन्तः सदनुष्ठानसामग्रीमवाप्य 'निष्ठितार्था' उपरतसर्वद्वन्द्वा भवति ॥१५॥

वर्ष की आयुवाले गर्भज जीव होकर उत्तम अनुष्ठान की सामग्री पाकर सब बन्धों से रहित हो जाते है। १५

णिट्ठियट्ठा व देवा वा, उ रीए इयं सुयं ।
यं च मेयमेगेरिं, मणुस्से णो हा ॥१६॥

छाया-निष्ठितार्थाश्च देवा वा, उत्तरीये इदं श्रुतम् ।
श्रुतश्च मे इद मेकेषा, ममनुष्येषु नो तथा ॥

अन्वयार्थ-(उत्तरीये इय सुय) लोकोत्तर प्रवचन में यह आगमका कहना है कि (णिट्ठियट्ठा देवा वा) मनुष्यही कर्मक्षय करके सिद्ध गतिको प्राप्त करता है अथवा देवता होता है। (मेय मेगेसि सुयच) मैने तीर्थङ्करसे सुना है कि (अमणुस्सेसु णो तहा) मनुष्यसे भिन्न गतिवाले सिद्धिको प्राप्त नहीं करते हैं।

भावार्थ-मैने तीर्थङ्करसे सुना है कि-मनुष्य ही कर्मक्षय करके सिद्धिको प्राप्त होता है अथवा देवता होता है परन्तु दूसरी गतिवाले जीवोंकी ऐसी योग्यता नही होती है।

इदमेवाह-'निष्ठितार्थाः' कृतकृत्या भवन्ति, केचन प्रचुरकर्मतया सत्यामपि सम्यक्त्वादिकायां सामग्र्यां न तद्भव एव मोक्षमास्कन्दन्ति अपितु सौधर्माद्याः पञ्चो(श्चानु)त्तरविमानावसाना देवा भवन्तीति, एतल्लोकोत्तरीये प्रवचने श्रुतम्-आगमः एवंभूतः सुधर्मस्वामी वा जम्बूस्वामिनमुद्दिश्यैवमाह-यथा मयैतल्लोकोत्तरीये भगवत्यर्हत्युपलब्धं, तद्यथा-अवाप्तसम्यक्त्वादिसामग्रीकः सिध्यति वैमानिको वा भवतीति। मनुष्यगतमेवैतन्नान्यत्रेति दर्शयितुमाह-'सुय मे' इत्यादि पश्चार्द्धं, तच्च मया तीर्थकरान्तिके 'श्रुतम्' अवगतं, गणधरः स्वशिष्याणामेकेषामिदमाह-यथा

टीकार्थ-मनुष्य सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की आराधना करके मोक्ष को प्राप्त करते है परन्तु कोई कोई अधिक कर्म होने के कारण सम्यक्त्व आदि सामग्री होने पर भी उसी भव मे मोक्ष नहीं पाते किन्तु सौधर्म आदिक पञ्चानुत्तर विमानवासी तक देवता होते हैं यह लोकोत्तर प्रवचन मे आगम का कथन है। अथवा सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते है कि-यह मैंने लोकोत्तर भगवान् अरिहन्त से सुना है कि सम्यक्त्व आदि सामग्री को पाकर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है अथवा वैमानिक होता है। मनुष्य गति मे ही सिद्धि प्राप्त होती है दूसरी गति में नहीं यह शास्त्रकार दिखलाते है-गणधर अपने किन्हा शिष्यों

गणधरादिभिराख्यातं, तद्यथा-युगसमिलादिन्याय प्रकथञ्चित्कर्मविवरात् योऽयं [1]शरीरसमुच्छ्रय सोऽकृतधर्मोपायैरसुमद्भिर्महासमुद्रप्रभ्रष्टरत्नवत्पुनर्दुर्लभो भवति, तथा चोक्तम्-"ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसार धिविभ्रष्टम्। मानुष्यं खद्योत-कतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥१॥" इत्यादि ॥१७॥

है। जिसने धर्म सञ्चय नहीं किया है उस को यह शरीर नहीं प्राप्त होता है जैसे महा समुद्र में गिरा हुआ रत्न फिर नहीं मिलता है इसी तरह यह भी दुर्लभ है। विद्वानोंने कहा है कि-यह मनुष्यशरीर खद्योत का प्रकाश और विजली के विलास के समान अत्यन्त चञ्चल है इस लिये यह यदि अगाध संसार सागर में गिर गया तो फिर इस का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। १७

इओ विद्धं णस्स , पुणो बोहि दु भा।
दुल्लहाओ तह ओ, जे धम्म ट्ठं वियागरे ॥१८॥

छाय-इतो विध्वंसमानस्य, पुनः बोधि दुर्लभा।
दुर्लभा तथार्चा, ये धर्मार्थं व्यागृणान्ति ॥

अन्वयार्थ—(इओ विद्धसमाणस्स) जो जीव इस मनुष्य शरीरसे भ्रष्ट होजाता है उसको (पुणो सवोहि दुल्लभा) फिर वोध प्राप्त होना दुर्लभ है। (तहच्चाओ दुल्लहाओ) सम्यग्दर्शनकी प्राप्तियोग्य हृदयका परिणाम दुर्लभ है (जे धम्मट्ठ वियागरे) जो जीव धर्मकी व्याख्या करते हैं अथवा धर्मको प्राप्त करने योग्य हैं उनकी लेश्या प्राप्त करना कठिन है।

भावार्थ—जो जीव इस मनुष्य शरीर से भ्रष्ट हो जाता है उस को फिर बोध प्राप्त होना दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के योग्य अन्तःकरण का परिणाम होना वडा कठिन है। जो जीव धर्म की व्याख्या करते हैं तथा धर्म की प्राप्ति के योग्य हैं उनकी लेश्या प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

अपिच-'इत' अमुष्मात् मनुष्यभवात्सद्धर्मतो वा विध्वंसमानस्याकृतपुण्यस्य पुनरस्मिन् संसारे पर्यटतो 'बोधि' सम्यग्दर्शनावाप्ति सुदुर्लभा उत्कृष्टत. अपा-

टीकार्थ—पुण्य का सञ्चय नहीं किया हुआ जो जीव इस मनुष्य शरीर से अथवा इस उत्तम धर्मसे भ्रष्ट होकर इस संसार मे भ्रमण करता है उसको फिर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ है क्योकि सम्यक्त्व से पतित पुरुष को उत्कृष्ट अर्धपुद्गल परावर्तकाल के पश्चात्

१ शरीरमेव पुद्गलसघातत्वात्समुच्छ्रय 'उस्सय समुस्सए वा' इति वचनात् समुच्छ्रय एव वा देहवाचक शरीरशब्दस्तु विशेषण।

र्धपुद्गलपरावर्तकालेन'[1] गो भवति, तथा 'दुर्लभा' दुरापा तथाभूता-सम्यग्दर्शनप्राप्तियोग्या 'अर्चा' लेश्याऽन्त:करणपरिणतिरकृतधर्मणामिति, यदिवाऽर्चा-मनुष्यशरीरं तदप्यकृतधर्मबीजानामार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिसकलेन्द्रियसामग्र्यादिरूपं दुर्लभं ति, जन्तूनां ये धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति, ये धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थः, तेषां तथाभूतार्चा सुदुर्लभा भवतीति ॥ १८ ॥

फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । तथा धर्माचरण नहीं किये हुए पुरुष को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के योग्य अन्तःकरण का परिणाम प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है । अथवा मनुष्य शरीर को अर्चा कहते है वह भी जिसने धर्मरूपी वीज नहीं वोया है उसको प्राप्त नहीं होता है । आर्य्यक्षेत्र, उत्तम कुल में उत्पत्ति और समस्त इन्द्रियों की पूर्णता इत्यादि सामग्री अत्यन्त दुर्लभ है । अर्थात् जो धर्मको प्राप्ति करने योग्य जीव है उनके समान लेश्या प्राप्त करना जीवों के लिये अन्यन्त कठिन है । १८

जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुन्न णेलिसं ।
अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्म हा ओ ? ॥१९॥

छाया-ये धर्मं शुद्ध माख्यान्ति, प्रतिपूर्ण मनीदृशम् ।
अनीदृशस्य यत् स्थानं, तस्य जन्मकथा कुतः ॥

अन्वयार्थ-(जे) जो महापुरुष (पडिपुन्नमणेलिस सुद्ध धम्म अक्खति) प्रतिपूर्ण, सर्वोत्तम, शुद्ध धर्मकी व्याख्या करते हैं (अणेलिसस्स जं ठाण) वे सर्वोत्तम पुरुपके स्थानको प्राप्त करते हैं (तस्स जम्मकहा कओ) फिर उनके लिये जन्म लेनेकी वात भी कहा है ?

भावार्थ-जो पुरुष प्रतिपूर्ण, सर्वोत्तम और शुद्ध धर्म की व्याख्या करते है और स्वयं आचरण करते हैं वे सर्वोत्तम पुरुष का जो सव दुःखों से रहित स्थान है उसको प्राप्त करते हैं । उनके जन्म लेने और मरने की वात भी नहीं है ।

किञ्चान्यत्-ये महापुरुषा वीतरागाः करतलामलकवत्सकलजगद्द्रष्टारः त एवंभूताः परहितैकरताः 'शुद्धम्' अवदातं सर्वोपाधिविशुद्धं धर्मम् 'आख्यान्ति' प्रतिपादयन्ति स्वतः समाचरन्ति च 'प्रतिपूर्णम्' आयतचारित्रसद्भावात्संपूर्ण

टीकार्थ-जो महापुरुष, राग रहित हैं तथा हाथ में रखे हुए आँवले की तरह समस्त जगत् को देखनेवाले है और सदा दूसरे के हित करने में लगे रहते हैं जो सव उपाधियों से वर्जित शुद्ध धर्म का उपदेश करते हैं, (आशय यह है कि) आयत चारित्र होने से जो धर्म परिपूर्ण है अथवा यथाख्यात चारित्र रूप है एवं जो सव से उत्तम है

१ वान्तसम्यक्त्वधर्मस्यैतावताऽवश्य सम्यक्त्वस्य पुन. प्राप्ता ।

यथाख्यातचारित्ररूपं वा 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशं धर्मम् आख्यान्ति अनुतिष्ठन्ति (च)। तदेवम् 'अनीदृशस्य' अनन्यसदृशस्य ज्ञानचारित्रोपेतस्य यत् स्थानं-सर्वद्वन्द्वोपरमरूपं तदवाप्तस्य तस्य कुतो जन्मकथा ?, जातो मृतो वेत्येवंरूपा कथा स्वप्नान्तरेऽपि तस्य कर्मबीजाभावात् कुतो विद्यत ? इति, तथोक्तम्-"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥१॥" इत्यादि ॥१९॥

उसका जो प्रतिपादन करते हैं और स्वयं आचरण करते है वे पुरुष ज्ञान और चारित्र से युक्त पुरुष का जो सव द्वन्द्वों से रहिन स्थान है डसको प्राप्त करते है। उनके विषय में जन्म लेने की वात भी कहा है ? । वे जन्म लेते है या मरते हैं यह स्वप्न में भी नहीं होता क्योंकि उनके कर्म वीज नष्ट हो गये है अत एव कहा है कि जैसे वीज जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता है इसी तरह कर्मरूपी वीज जल जाने पर संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है। १९

ओ याइ मेधावी, प्प ंति तहागया।
तहागया अप्पडिन्ना, चक्खू ोगस्सणु रा ॥२०॥

छाया-कुतः कदाचिन्मेधावी, उत्पद्यन्ते तथागताः।
तथागता अप्रतिज्ञा श्चक्षु र्लोकस्यानुत्तराः ॥

अन्वयार्थ-(तहागया) इस जगत्में फिर नहीं आनेके लिये गये हुए (मेहावी) ज्ञानी पुरुष (कओ कयाइ उप्पज्जति) कभी किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं ?। (अप्पडिन्ना तहागया) निदान-रहित तीर्थङ्कर और गणधर आदि (लोगस्सणुत्तरा चक्खू) प्राणियोंके लिये सर्वोत्तम नेत्रके समान है।

भावार्थ-इस जगत्मे फिर नहीं आनेकेलिये मोक्षमें गये हुए ज्ञानी पुरुष कभी भी किस प्रकार इस जगत्मे उत्पन्न होसकते है। निदान न करनेवाले तीर्थङ्कर और गणधर आदि, प्राणियोंके सर्वोत्तम नेत्र है।

किंचान्यत्-कर्मबीजाभावात् 'कुतः' कस्मात्कदाचिदपि 'मेधाविनो' ज्ञानात्मकाः तथा-अपुनरावृत्त्या गतास्तथागताः पुनरस्मिन् संसारेऽशुचिनि गर्भाधाने समुत्पद्यन्ते ?, न कथञ्चित्कदाचित्कर्मोपादानाभावादुत्पद्यन्त इत्यर्थः, तथा 'तथागताः' तीर्थकृद्गणधरादयो न विद्यते प्रतिज्ञा-निदानबन्धनरूपा येषां तेऽप्रतिज्ञा-अनिदाना

टीकार्थ-इस जगत्मे फिर नहा आनेके लिये मोक्षमें गये हुए ज्ञानी पुरुष अपवित्र गर्भाधानरूप इस संसारमें फिर कभी भी किसप्रकार उत्पन्न होसकते है ? कर्मरूपी वीज न होनेके कारण वे कभी किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं होते। निदान रहित अर्थात् सांसारिक पदार्थोंकी

पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पव गं ।
धुणे पुव्व डं म्मं, णवं वाऽवि ण व्वती ॥२२॥

छाया-पण्डितः वीर्य्यं लब्ध्वा, निर्घाताय प्रवर्तकम् ।
धुनीयात् पूर्वकृतं कर्म नवं वाऽपि न करोति ॥

अन्वयार्थ-(पडिए णिग्घायाय पवत्तग वीरिय लद्धु) पण्डित पुरुष, कर्मको विनाश करने समर्थ वीर्य्यको पाकर (पुव्वकड कम्म धुणे) पूर्वकृत कर्मको नाश करे (णव वाऽवि ण कुव्वती और नवीन कर्म न करे ।

भावार्थ-पडित पुरुष, कर्मको विदारण करनेमें समर्थ वीर्य्यको प्राप्त करके पूर्वकृत कर्म नाश करे और नवीन कर्म न करे ।

अपिच-'पण्डितः' सदसद्विवेकज्ञो 'वीर्यं' कर्मोद्दलनसमर्थं सत्संयमवीर्यं तपोवीर्यं वा 'लब्ध्वा' अवाप्य, तदेव वीर्यं विशिनष्टि-नि शेषकर्मणो 'निघाताय' निर्जरणाय प्रवर्तकं पण्डितवीर्यं, तच्च बहुभवशतदुर्लभं कथञ्चित्कर्मविवरादवाप्य 'धुनीयाद् अपनयेत् पूर्वभवेष्वनेकेषु यत्कृतम्-उपात्तं कर्माष्टप्रकारं तत्पण्डितवीर्येण धुनीयात 'नवं च' अभिनवं चाश्रवनिरोधान्न करोत्यसाविति ॥२२॥

टीकार्थ-सत् और असत् का विवेकी जीव कर्मोंके नाशमे समर्थ अनेक भवोमे दुर्लभ पण्डित वीर्य्यको पाकर अपने पूर्वकृत अनेक भवोंके कर्मोंका नाश कर डाले अ.. नवीन कर्म न करे। २२

ण कुव्वती महावीरे, अणुपुव्व डं रयं ।
रयसा संमुहीभूता, कम्मं हेच्चाण जं यं ॥२३॥

छाया-न करोति महावीरः, आनुपूर्व्या कृतं रयः ।
रजसा सम्मुखीभूताः कर्म हित्वा यन्मतम् ॥

अन्वयार्थ-(महावीरे) कर्मको विदारण करने म समर्थ पुरुष, (अणुपुव्वकड रय) दूसरे प्राणी जो क्रमश पाप करत हैं (ण कुव्वती) उसे नहीं करता है। (रयसा) क्योंकि वह पाप कर्म पूर्वकृत पापके प्रभावसे ही किया जाता है (ज मय कम्म हेचा समुहीभूता) परन्तु वह पुरुष आठ प्रकारके कर्मोंको छोडकर मोक्षके सम्मुख हुआ है ।

भावार्थ-दूसरे प्राणी मिथ्यात्व आदि क्रमसे जो पाप करते हैं उस कर्मको विदारण करनेमें समर्थ पुरुष नहीं करता है। पूर्वभवोंमें किये हुए पापके द्वाराही नूतन पाप किये जाते हैं परन्तु उस पुरुषने पूर्वकृत पापोंको रोक दिया है और आठ प्रकारके कर्मोंको त्यागकर वह मोक्षके संमुख हुआ है।

किञ्च-'महावीर' कर्मविदारणसहिष्णु. सज्ञानुपूर्व्येण मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद-कषाययोगैर्यत्कृतं रजोऽपरजन्तुभिस्तदसौ 'न करोति' न विधत्ते, यतस्तत्प्राक्तनोपात्तरजसैवोपादीयते, स च तत्प्राक्तनं कर्मावष्टभ्य सत्संयमात्संमुखीभूतः, तदभिमुखीभूतश्च यन्मतमष्टप्रकार कर्म तत्सर्वं 'हित्वा' त्यक्त्वा मोक्षस्य सत्संयमस्य वा मुखीभूतोऽसाविति ॥२३॥

टीकार्थ—कर्मको विदारण करनेमे समर्थ पुरुष, दूसरे जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगक्रमसे जो पाप कर्म करते है उसे नही करता है क्योकि वह पापकर्म पूर्वभवमे कियेहुए पापके द्वाराही किया जाता है परन्तु उक्त वीर पुरुषने सत् संयमका आश्रय लेकर अपने पूर्वकृत कर्मको दवा दिया है और जीवोके द्वारा माननीय जो आठप्रकारके कर्म है उन सवोको त्यागकर वह मोक्ष या सत्संयमके सम्मुख हुआ है। २३

जं यं व्वसाहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं।
ाहइत्ताण तं ति ा, देवा वा अभविं ते ॥२४॥

छाया—यन्मतं सर्वसाधूनां तन्मतं शल्यकर्त्तनम्।
साधयित्वा तत्तीर्णाः देवा वा अभूवँस्ते ॥

अन्वयार्थ—(ज सव्वसाहूण मय) जो सव साधुओंको मान्य है (सल्लगत्तण त साहइत्ताण) उस, पाप या पापसे उत्पन्न कर्मको नाश करनेवाले सयमकी आराधना करके (तिन्ना) वहुत जीव ससारसागरसे पार हुए है (देवा वा अभविंसु) अथवा देवता हुए है।

भावार्थ—सव साधुओंका मान्य जो संयम है वह पापको नाश करनेवाला है इसलिये वहुत जीवोंने उसकी आराधना करके संसार सागरको पारकिया है अथवा देवलोकको प्राप्त किया है।

अन्यच्च-'जम्मय' मित्यादि, सर्वसाधूनां यत् 'मतम्' अभिप्रेतं तदेतत्सत्संयमस्थानं, तद्विशिनष्टि-शल्यं-पापानुष्ठानं तज्जनितं वा कर्म तत्कर्तयति-छिनत्ति यत्तच्छल्यकर्तनं तच्च सदनुष्ठानं उद्युक्तविहारिणः 'साधयित्वा' सम्यगाराध्य वहवः संसारकान्तार तीर्णाः, अपरे तु सर्वकर्मक्षयाभावात् देवा अभूवन्, ते चाप्तसम्यक्त्वाः सच्चारित्रिणो वैमानिकत्वमवापुः प्राप्नुवन्ति प्राप्स्यन्ति चेति ॥२४॥

टीकार्थ—सव साधुओको जो मान्य है वह यह संयमस्थान है उस संयमस्थानकी विशिष्टता वताते हुए शास्त्रकार कहते है कि—वह सयमस्थान पाप अथवा पापजनित कर्मको नाश करनेवाला है इसलिये वहुतसे शास्त्रानुकूल विचरनेवाले पुरुष उस उत्तम अनुष्ठानको अच्छीतरह आराधन करके संसारसे पार हुए है तथा जिनके समस्त कर्मक्षय नही हुए वे देवता हुए है। सम्यक्त्वको प्राप्त किये हुए सच्चारित्री पुरुष वैमानिक हुए है और होते है तथा आगे चलकर होंगे। २४

अभविंसु पुरा धी(वी)रा, आगमि[illegible]ावि सुव्व[illegible]ा।
दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउ[illegible]रा ति[illegible]॥त्तिबेमि॥२५॥

छाया—अभूवन् पुरा धीरा, आगामिन्यपि सुव्रताः।
दुर्निवोधस्य मार्गस्यान्तं, प्रादुष्करास्तीर्णाः॥

अन्वयार्थ-(पुरा धीरा अभविंसु) पूर्व समयमें धीर पुरुष हो चुके है (आगमिस्सावि सुव्वता) और भविष्यकालमें भी सुव्रत पुरुष होगे। (दुन्निवोहस्स मग्गस्स अत) जो, दुर्निवोध मार्ग यानी दु खसे प्राप्त करने योग्य समग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मार्गके अन्तको पाकर तथा (पाउकरा) उस मार्गको प्रकट करके (तिन्ना) ससारसे पार हुए हैं। (तिबेमि) यह मै कहता हू।

भावार्थ—पूर्व समयमें बहुतसे वीर पुरुष हुए है और भविष्यमें भी होगे। वे दु.खसे प्राप्त करने योग्य सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्रका अनुष्ठान करके तथा इनका प्रकाश करके संसारसे पार हुए है।

सर्वोपसंहारार्थमाह-'पुरा' पूर्वस्मि[illegible]ादिके काले वहवो 'महावीरा' कर्मविदारणसहिष्णवः 'अभूवन्' भूताः, तथा वर्तमाने च काले कर्मभूमौ तथाभूता भवन्ति तथाऽऽगामिनि चानन्ते काले तथाभूताः सत्संयमानुष्ठायिनो भविष्यन्ति, ये किं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति चेत्याह-यस्य दुर्निवोधस्य-अतीव दुष्प्रापस्य (मार्गस्य) ज्ञानदर्शनचारित्राख्यस्य 'अन्तं' परमकाष्ठामवाप्य तस्यैव मार्गस्य 'प्रादुः' प्राकाश्य तत्करणशीलाः प्रादुष्करा स्वतः सन्मार्गानुष्ठायिनोऽन्येषां च प्रादुर्भावकाः सन्तः संसारार्णवं तीर्णास्तरन्ति तरिष्यन्ति चेति। गतोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च प्राग्वत् द्रष्टव्याः। इतिरध्ययनपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२५॥

॥ इति आदानीयाख्यं पञ्चदशाध्ययनं समाप्तम् ॥

टीकार्थ—इस अध्ययनको समाप्त करते हुए शास्त्रकार कहते है कि—कर्मको विदारण करनेमे समर्थ वहुतसे वीर पुरुप पूर्वके अनादिकालमे हो चुके है तथा वर्तमान समयमे भी कर्मभूमिमे वहुतसे वीर पुरुप होते है एव आगामी अनन्तकालमे उत्तम संयमका अनुष्ठान करनेवाले वहुतसे धीर पुरुप होगे। उक्त पुरुषोंने क्या किया है और क्या करते है तथा क्या करेगे? सो शास्त्रकार वतलाते है। वे पुरुप दु खसे प्राप्त करने योग्य ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप मोक्षमार्गकी अन्तिम सीमापर पहुँचकर दूसरोंके प्रति उसी मार्गको प्रकट करके तथा स्वयं उसका आचरण करते हुए ससारसे पार हुए हैं तथा हो रहे है और होगे। अनुगम समाप्त हुआ। अव नय वताने चाहिये। वे भी पूर्ववत् है। इति शब्द अध्ययनकी समाप्तिका द्योतक है ब्रवीमि पूर्ववत् है। यह आदानीय नामक पन्द्रहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ। २५

॥ थ षोडशं श्री ाथाध यनं ारभ ते ॥

उक्तं पञ्चदशमध्ययनं, साम्प्रतं षोडशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्ध -इहा-नन्तरोक्तेषु पञ्चदश स्वध्ययनेषु येऽर्था अभिहिता विधिप्रतिषेधद्वारेण तान् तथैवाचरन् साधुर्भवतीत्येतदनेनोपदिश्यते, ते चामी अर्थाः, तद्यथा-प्रथमाध्ययने स्वसमयपरसमयपरिज्ञानेन सम्यक्त्वगुणावस्थितो भवति द्वितीयाध्ययने ज्ञानादिभिः कर्मविदारणहेतुभिरष्ट ार कर्म विदारयन् साधुर्भवति तथा तृतीयाध्ययने यथा-ऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गान् सम्यक् सहमानः साधुर्भवति चतुर्थे तु स्त्रीपरीषहस्य दुर्जयत्वात्तज्जयकारीति पञ्चमे तु नरकवेदनाभ्यः समुद्विजमानस्तत्प्रायोग्यकर्मणो विरतः सन्साधुत्वमवाप्नुयात् षष्ठे तु यथा श्रीवीरवर्धमानस्वामिना कर्मक्षयोद्यतेन चतुर्ज्ञानिनाऽपि संयमं प्रति प्रयत्नः कृतस्तथाऽन्येनापि छद्मस्थेन विधेय इति सप्तमे तु कुशीलदोषान् ज्ञात्वा तत्परिहारोद्यतेन सुशीलावस्थितेन भाव्यम् अष्टमे तु बालवीर्यपरिहारेण पण्डितवीर्योद्यतेन सदा मोक्षाभिलाषिणा भाव्यं नवमे तु यथोक्तं क्षान्त्यादिकं धर्ममनुचरन् ससारान्मुच्यत इति दशमे तु संपूर्णसमाधियुक्तः सुगति-भाग्भवति एकादशे तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यं सन्मार्गं प्रतिपन्नोऽशेषक्लेशप्रहाणं

टीकार्थ—पन्द्रहवॉ अध्ययन कहा जाचुका अब सोलहवॉ आरम्भ किया जाता है। इसका पूर्व अध्ययनोंके साथ सम्बन्ध यह है—पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनोमें विधि निषेधके द्वारा जो अर्थ कहे गये है उनका उसीतरह आचरण करता हुआ पुरुष साधु होता है यह इस अध्ययनके द्वारा उपदेश कियाजाता है पूर्वोक्त अध्ययनोमें कहे हुए अर्थ ये है—प्रथम अध्ययनमें कहे हुए स्वसमय और पर समयके ज्ञानसे जीव सम्यक्त्वगुणमे स्थिर होता है तथा दूसरे अध्ययनमें कहे हुए कर्मको विदारण करनेवाले ज्ञान आदिके द्वारा आठ प्रकारके कर्मोको विदारण करता हुआ जीव, साधु होता है। एव तृतीयाध्ययनमे कहे हुए अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंको सहन करता हुआ पुरुष साधु होता है। चौथे अध्ययनमें कहा है कि—स्त्रीपरीषह दुःखसे सहन करने योग्य है इसलिये जिसने स्त्रीपरीषहको सहन करलिया है वही साधु है। पञ्चम अध्ययनमें कही हुई नरककी पीडाको सुनकर उससे डरता हुआ पुरुष नरक देनेवाले कर्मोंको त्यागकर साधुताको प्राप्त करसकता है। छठे अध्ययनमे कहा है कि—चार ज्ञानके धनी होते हुए भी श्रीमहावीर वर्धमान स्वामीने कर्मोंको क्षय करनेके लिये उद्यत होकर जो संयमपालनमे प्रयत्न किया है वह दूसरे छद्मस्थोंको भी करना चाहिये। सप्तम अध्ययनमें कहा है कि—कुशीलके दोषोको जानकर उनके त्यागके लिये उद्यत पुरुषको सुशीलके पास स्थित होना चाहिये। अष्टम अध्ययनमें कहा है कि—मोक्षार्थी पुरुषको बालवीर्य्य त्यागकर पण्डित वीर्य्यमे प्रवृत्त होना चाहिये। नवम अध्ययनमे कहा है कि—शास्त्रोक्त क्षान्ति आदि धर्मोंको यथावत् पालन करता हुआ जीव संसारसे मुक्त होता है। दशम अध्ययनमें कहा है कि—सम्पूर्ण समाधिसे युक्त पुरुष मोक्षका भाजन होता है। एग्यारहवे अध्ययनमें कहा है कि—सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूपी उत्तम मार्गको प्राप्त किया हुआ

विधत्ते द्वादशे तु तीर्थिकदर्शनानि यग्गुणदोषविचारणतो विजानन्न तेषु श्रद्धानं विधत्ते त्रयोदशे तु शिष्यगुणदोषविज्ञः सद्‌गुणेषु वर्तमानः कल्याणभाग ति चतुर्दशे तु प्रशस्तभावग्रन्थभावितात्मा विस्रोतसिकारहितो भवति पञ्चदशे तु यथावदा - चारित्रो भवति भिक्षुस्तदुपदिश्यत इति । तदेवमनन्तरोक्तेषु पञ्चदशस्वध्ययनेषु येऽर्थाः प्रतिपादितास्तेऽत्र संक्षेपतः प्रतिपाद्यन्त इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्या-ध्ययनस्य चत्वार्युपक्रमादीन्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति । तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो-ऽनन्तरमेव संबन्धप्रतिपादनेनैवाभिहितः । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे [1]गाथाषोडशक-मिति नाम । तत्र गाथानिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

णामंठवणागाहा दव्वगाहा य भावगाहा य ।
पोत्थगपत्तगलिहिया होई दव्वगाहा उ ॥ १३७ ॥

होति पुण भावगाहा सागारुवओगभावणिप्फन्ना ।
महुराभिहाणजुत्ता तेणं गाहत्ति णं बिंति ॥ १३८ ॥

गाहीकया व अत्था अहव ण सामुद्दएण छंदेणं ।
एएण होति गाहा एसो अन्नो ऽवि पज्जाओ ॥ १३९ ॥

पण्णरससु अज्झयणेसु पिंडितत्थेसु जो अवितहत्ति ।
पिंडियवयणेणऽत्थं गहेति तम्हा ततो गाहा ॥ १४० ॥

सोलसमे अज्झयणे अणगारगुणाण वण्णणा भणिगा ।
गाहासोलसणामं अज्झयणमिणं ववदिसंति ॥ १४१ ॥

पुरुष क्लेशोंका नाश करता है बारहवें अध्ययनमें कहा है कि—अन्यतीर्थिकों के दर्शनोको गुण और दोषके विचारके साथ अच्छीतरह जानताहुआ पुरुष उनमें श्रद्धा नहीं करता है । तेरहवें अध्ययनमे कहा है कि—शिष्यके गुणदोषको जाननेवाला और सद्‌गुणमें वर्तमान पुरुष कल्याणका भाजन होता है । चौदहवें अध्ययनमें कहा है कि—प्रशस्त भावसे जिसका हृदय वासित है वह मनुष्य अशान्तिसे रहित होता है । पन्द्रहवे अध्ययनमे उपदेश किया है कि शास्त्रोक्त चारित्रको पालन करनेवाला भिक्षु होता है । इस प्रकार पूर्वके अध्ययनोंमें जो अर्थ कहे गये है वे इस अध्ययनमे संक्षेपसे कहे जाते है। इस सम्बन्धसे आये हुए इस अध्ययनके उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार है । उनमे उपक्रममें अर्थाधिकार सम्बन्ध कहकर अभी बतादिये गये है । नाम निष्पन्न निक्षेपमें इस अध्ययनका नाम गाथा षोडशक है। यहां गाथाका निक्षेप बतानेके लिये निर्युक्तिकार कहते हैं ।

---

१ गाथैव षोडश गाथाषोडश तदेव गाथाषोडशक गाथाख्य षोडशमध्ययन यत्र तत्तथा वा।

मिच्छादंसणसल्लविरए समिए सहिए सया जए णो कुज्झे णो माणी माहणेत्ति वच्चे ॥१॥

छाया—अथाह भगवान्—एवं स दान्तो द्रव्यः व्युत्सृष्टकाय, इति वाच्यः माहन इति वा श्रमण इति वा भिक्षुरिति वा निर्ग्रन्थ इति वा। प्रत्याह भदन्त! कथं नु दान्तो द्रव्यः व्युत्सृष्टकाय इति वाच्यः माहन इति वा श्रमण इति वा भिक्षु रिति वा निर्ग्रन्थ इति वा ? तन्नो ब्रूहि महामुने ।। इतिविरतः सर्वपापकर्मेभ्यः प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यान पैशून्यपरपरीवादारतिरतिमायामृषामिथ्यादर्शनशल्यविरतः समितः सहितः सदा यतः न क्रुध्येन्नो मानी माहन इति वाच्यः ।

अन्वयार्थ-(अह भगवं आह) पन्द्रह अध्ययन कहनेके पश्चात् भगवान्ने कहा कि (एव से दंते दविए वोसिठ्काए माहणेतिवा समणेतिवा भिक्खूतिवा णिग्गथेतिवा वच्चे) पन्द्रह अध्यायोंमें कहे हुए अर्थ से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मनको वश किया हुआ मुक्ति जाने योग्य तथा शरीर को व्युत्सर्ग किया हुआ है उसे माहन श्रमण भिक्षु, अथवा निर्ग्रन्थ कहना चाहिये। (पडिआह) शिष्यने पूछा (भंते! कहंनु दंते दविए वोसिठ्काएति माहणेतिवा समणेतिवा भिक्खूतिवा णिग्गथे तिवा वच्चे) हे भदन्त! पन्द्रह अध्ययनोंमें कहे हुए अर्थसे युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मनको जीता हुआ मुक्ति जाने योग्य तथा कायव्युत्सर्ग किया हुआ है वह क्यों माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहने योग्य है?। (त नो बूहि महामुणी) हे महामुने! यह मुझको आप बताइए?। (इति सव्वपावकम्मेहिं विरए) पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनोंमें जो उपदेश किया है उसके अनुसार आचरण करनेवाला जो पुरुष सब पापोंसे हटा हुआ है (पिज्जदोसकलहअब्भक्खाण पेसुन्न परपरिवाय अरतिरति मायामोस मिच्छादंसणसल्लविरए) तथा किसीसे रागद्वेष नहीं करता है, किसीसे कलह नहीं करता है, किसीपर झूठा दोष नहीं लगाता है किसीकी चुगुली नहीं करता है, किसीकी निन्दा नहीं करता है एव संयममें अप्रेम और असंयममें प्रेम नहीं करता है, कपट नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मिथ्यादर्शनशल्यसे अलग रहता है (समिए सहिए सया जए णो कुज्झे णो माणी माहणेति वच्चे) पाँच गुप्तिओंसे गुप्त और ज्ञानादि गुणोंके सहित, सदा इन्द्रियोंको जीतनेवाला किसीपर क्रोध नही करता है मान नहीं करता है वह माहन कहने योग्य है।

भावार्थ—पन्द्रह अध्ययन कहनेके पश्चात् भगवान्ने कहा कि—पन्द्रह अध्यायोंमें कहे हुए अर्थसे युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मनको वश किया हुआ मुक्ति जाने योग्य शरीरको व्युत्सर्ग किया हुआ है उसे माहन, श्रमण भिक्षु, अथवा निग्रन्थ कहना चाहिये। शिष्यने पूछा हे भदन्त! पन्द्रह अध्ययनोमे कहे हुए अर्थसे युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मनको जीता हुआ मुक्ति जाने योग्य तथा कायव्युत्सर्ग किया हुआ है वह क्यों माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निग्रन्थ कहने योग्य है?। हे महामुने! यह मुझको आप बताइए?। पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनोंमें जो उपदेश

किया है उसके अनुसार आचरण करनेवाला जो पुरुष सब पापोंसे हटा हुआ है तथा किसीसे रागद्वेष नहीं करता है, किसीसे कलह नही करता है, किसीपर झूठा दोष नहीं लगाता है किसीकी चुगुली नही करता है, किसीकी निन्दा नहीं करता है एवं सयममें अप्रेम और असंयममें प्रेम नहीं करता है, कपट नहीं करता है झूठ नहीं बोलता है मिथ्यादर्शन शल्यसे अलग रहता है पॉच गुप्तिओसे गुप्त और ज्ञानादि गुणोंके सहित, सदा इन्द्रियोंको जीतनेवाला किसी पर क्रोध नही करता है मान नही करता है वह माहन कहने योग्य है ।

'अथे' त्ययं शब्दोऽवसानमङ्गलार्थ', आदिमङ्गलं तु बुध्येतेत्यनेनाभिहितं, अत आद्यन्तयोर्मङ्गलत्वात्सर्वोऽपि श्रुतस्कन्धो मङ्गलमित्येतदनेनावेदितं भवति । आनन्तर्ये वाऽथशब्दः, पञ्चदशाध्ययनानन्तरं तदर्थसंग्राहीदं षोडशमध्ययनं प्रारभ्यते । अथानन्तरमाह-'भगवान्' उत्पन्नदिव्यज्ञानः सदेवमनुजाया पर्षदीदं वक्ष्यमाणमाह, तद्यथा-एवमसौ पञ्चदशाध्ययनोक्तार्थयुक्तः स साधुर्दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन द्रव्यभूतो मुक्तिगमनयोग्यत्वात् 'द्रव्यं च भव्ये' इति वचनात् रागद्वेषकालिकापद्रव्यरहितत्वाद्वाजात्यसुवर्णवत् शुद्धद्रव्यभूतस्तथा व्युत्सृष्टो निष्प्रतिकर्मशरीर । कायः-शरीरं येन स भवति व्युत्सृष्टकाय , तदेवंभूतः सन् पूर्वोक्ताध्ययनार्थेषु वर्तमानः प्राणिनः स्थावरजङ्गमसूक्ष्मवादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नान् मा हणत्ति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो नवब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्तो ब्रह्मचर्यधारणाद्वा ब्राह्मण इत्यनन्तरोक्तगुणकदम्बकयुक्तः साधुर्माहनो ब्राह्मण [ग्रन्थाग्रम् ८०००] इति वा वाच्यः, तथा श्राम्यति-

---

टीकार्थ-अथ शब्द ग्रन्थके अन्तमें मङ्गलके लिये है । आदि मङ्गल तो "बुध्येत" इस शब्दके द्वारा कहा गया है । इस प्रकार आदि और अन्तके मङ्गल होनेसे समस्त श्रुतस्कन्ध मङ्गल है यह सूचित होता है । अथवा 'अथ' शब्द आनन्तर्य्य अर्थमें आया है । पन्द्रह अध्ययनके पश्चात् उनके अर्थोंको संग्रह करनेवाला यह सोलहवॉ अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है । इसके पश्चात् उत्पन्न दिव्य ज्ञानवाले भगवान् देवता और मनुष्योंसे भरी हुई सभामें आगे कही जानेवाली वात कहते है-पन्द्रह अध्ययनोंमे जो उपदेश किया गया है उसके अनुसार आचरण करता हुआ जो साधु इन्द्रिय और मनको दमन करनेके कारण दान्त है तथा मुक्ति जानेके योग्य होनेसे द्रव्यभूत है अथवा भव्य अर्थमें द्रव्य शब्दका प्रयोग होता है इस वचनके अनुसार उत्तम जातिके सुवर्णकी तरह रागद्वेषके समय होनेवाले अपद्रव्य यानी बुराइयोंसे रहित होनेके कारण जो शुद्ध द्रव्यभूत है तथा शरीरका प्रतिकर्म न करनेके कारण जो शरीरको व्युत्सर्ग किया हुआ है इस प्रकार जो पूर्वोक्त अध्ययनोंमे कहे हुए अर्थोंमे वर्तमान होकर स्थावर जङ्गम, सूक्ष्म, वादर, पर्य्याप्त और अपर्य्याप्त भेदवाले प्राणियोको हनन नहीं करता है उस साधुको माहन कहना चाहिये । अथवा ब्रह्मचर्यकी नवगुप्तियोसे गुप्त जो साधु पूर्वोक्त गुण समूहसे युक्त है उसे माहन या ब्राह्मण कहना चाहिये । तथा तपस्यामे वह परिश्रम करता है

एत्थवि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पिज्जं च दोसं च इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पदोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिआ दंते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे ॥२॥

छाया—अत्रापि श्रमणोऽनिश्रितोऽनिदानः आदानञ्चातिपातञ्च मृषावादञ्च बहिर्द्धञ्च क्रोधञ्च मानञ्च मायाञ्च लोभञ्च प्रेम च द्वेषञ्च इत्येव यतो यत आदान मात्मनः प्रद्वेषहेतून् ततस्तत आदानात् पूर्वं प्रतिविरतः प्राणातिपातात् स्याद् दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः श्रमण इति वाच्यः ।

गृहस्थैरात्मार्थं निर्वर्तितमाहारजातं तैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी, स एव- गुणकलितो भिक्षुरिति वाच्यः ॥३॥

तथाऽत्रापि गु णे वर्तमानो निर्ग्रन्थ इति वाच्यः, अमी चान्ये अपदिश्यन्ते, तद्यथा—

संयमके अनुष्ठानमें तत्पर है तथा गृहस्थोंके द्वारा अपने वास्ते वनाये हुए आहारको उनके द्वारा पाकर खाता है वह उक्त गुणयुक्त पुरुष भिक्षु कहलाने योग्य है। ३

तथा उक्त गुणोंमें वर्तमान साधु निग्रन्थ भी कहा जाता है परन्तु उसमें दूसरे गुण भी बताये जाते है वे ये है—

एत्थवि णिग्गंथे एगे ए विऊ बुद्धे संछि सोए सुसं ते सुसमि ते ामाइए आ वा पत्ते विऊ दुहओवि सोयपलि- च्छि न्ने णो पूया क्कार ाभट्ठी धम्म ट्ठी धम्मविऊ णियागपडिव म्मि (म)यं चरे दंते दविए वो ट्ठ ाए निग्गंथेत्ति वच्चे ॥४॥ से एवमेव जाणह ज हं भयंतारो ॥ त्ति बेमि ॥ इति सो मं गा ा ा ज्झयणं ॥ पढमो अक धो ो ॥१॥

छाया—अत्राऽपि निग्रन्थः एकः एकविद् बुद्धः संछिन्नस्रोताः सुसंयतः सुसमितः सु मायिकः आत्मवादप्राप्तः विद्वान् द्विधाऽपि स्रोतः परिच्छिन्नः नो पूजासत्कार-लाभार्थी धर्मविद् नियागप्रतिपन्नः समतां चरेद् दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः निग्रन्थ इति वाच्यः । ४ तदेवमेव जानीत यदहं भयत्रातारः । इति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ—(एत्थवि) भिक्षुके गुणभी निग्रन्थमें होने चाहिये तथा (एगे) जो रागद्वेषसे रहित होकर रहता है (एगविऊ) यह आत्मा अकेलाही परलोकमें जाता है यह जो जानता है। (बुद्धे) जो वस्तुस्वरूपको जानता है (सच्छिन्नसोए) जिसने आश्रव द्वारोंको रोक दिया है (सुसंजते) जो विना प्रयोजन अपने शरीरकी क्रिया नहीं करता है अथवा जो अपनी इन्द्रिय और मनको वशमें रखता है (सुसमिए) जो पांच प्रकारकी समितियोंसे युक्त है। (सुसामाइए) जो शत्रु और मित्रमें समभाव रखता है। आयवायपत्ते) जो आत्माके सच्चे स्वरूपको जानता है (विऊ) जो समस्त पदार्थोंके स्वभावको जानता है। (दुहओवि सोयपलिच्छिन्ने) जो द्रव्य और भाव दोनोही प्रकारसे ससारमें जानेके स्रोत यानी मार्गको छेदन किया हुआ है। (णो पूयासक्कारलभट्ठी) जो पूजा र और लाभकी इच्छा नहीं रखता है (धम्मट्ठी) किन्तु धर्मकी इच्छा रखता है (धम्मविऊ)

जो धर्मको जानता है (णियागपडिवन्ने) जो मोक्ष मार्गको प्राप्त है (समिय चरे) वह समभावसे विचरे (दते दविए वोसट्ठकाए णिग्गथेति वच्चो) उक्त गुणोंसे युक्त जो पुरुष जितेन्द्रिय, मुक्तिजाने योग्य तथा शरीरका व्युत्सर्ग किया हुआ है उसे निग्रन्थ कहना चाहिये (से एव मेव जाणह जम ह) सो आपलोग इसीतरह समझें जैसा हमने कहा है (भयतारो) क्योंकि भयसे जीवोंकी रक्षा करनेवाले सर्वज्ञ अन्यथा नहीं कहते है।

भावार्थ–पूर्वसूत्रमें भिक्षुके जितने गुण बताये है वे सभी निग्रन्थमें भी होने चाहिये। इसके सिवाय ये गुण भी निग्रन्थमें आवश्यक है–जो पुरुष राजद्वेष रहित है और "यह आत्मा परलोकमें अकेलाही जाता है" यह जानता है तथा जो पदार्थोंके स्वभावको जाननेवाला और आश्रवद्वारोंको रोककर रखनेवाला है जो प्रयोजनके विना अपने शरीरकी कोई क्रिया नहीं करता है अथवा इन्द्रिय और मनको वशमें रखता है, जो पांच प्रकारकी समितियोंसे युक्त रहकर शत्रु और मित्रमें समभाव रखता है तथा जो आत्माके सच्चे स्वरूपको जानता है, जो समस्त पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाला विद्वान् है, एव जिसने संसारमें उतरनेके मार्गको द्रव्य और भाव दोनोही प्रकारसे छेदन किया है, तथा पूजा सत्कार और लाभकी इच्छा न रखता हुआ केवल धर्मकी इच्छा रखता है, जो धर्मके तत्वको जाननेवाला और मोक्षमार्गको प्राप्त है उसे समभावसे विचरना चाहिये। इस प्रकार जो जितेन्द्रिय, मुक्तिजाने योग्य और शरीरका व्युत्सर्ग किया हुआ है उसे निग्रन्थ कहना चाहिये। श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्गसे कहते है कि–यह मैने तीर्थङ्कर देवसे सुनकर आपलोगोंसे जो कहाहै सो आप सत्य समझें क्योंकि जगत्को भयसे रक्षा करनेवाले श्री तीर्थङ्कर देव अन्यथा उपदेश नहीं करते है।

'एको' रागद्वेषरहिततया ओजाः, यदिवाऽस्मिन् संसारचक्रवाले पर्यटन्नसुमान् स्वकृतसुखदुःखफलभाक्त्वेनैकस्यैव परलोकगमनतया सदैकक एव भवति। तत्रोद्यतविहारी द्रव्यतोऽप्येकको भावतोऽपि, गच्छान्तर्गतस्तु कारणिको द्रव्यतो भाज्यो भावतस्त्वेकक एव भवति। तथैवमेवात्मानं परलोकगामिनं वेत्तीत्येकवित्, न मे कश्चिद्दुःखपरित्राणकारी सहायोऽस्तीत्येवमेकवित्, यदिवैकान्तविद्–एकान्तेन

टीकार्थ–जो पुरुप एक है यानी रागद्वेप रहित होनेके कारण अकेला है अथवा इस संसार रूपी चक्रमे प्राणी अकेलाही अपने पुण्य पापका फल भोगते हुए घूमते है, वे अकेलाही परलोकमें जाते है इसलिये वे अकेलाही हैं। जो साधु उत्कृष्ट विहारी है वे द्रव्य और भाव दोनोही प्रकारसे अकेला रहते है परन्तु गच्छमें रहनेवाले साधु कारण पाकर द्रव्यसे अकेलाभी रह सकते है। परन्तु वे भी भावसे तो अकेलेही है। तथा "यह आत्मा अकेलाही परलोकमे जाता है" यह जो जानता है तथा "मुझको कोई भी दु खसे रक्षा करनेवाला सहाय नहीं है" ऐसा जो जानता है अथवा

न्द्रियतया रागद्वेषाभावाच्च परिच्छिन्नानि येन स परिच्छिन्नस्रोताः, तथा नो पूजासत्कारलाभार्थी किंतु निर्जरापेक्षी सर्वास्तपश्चरणादिकाः क्रिया विदधाति, एतदेव दर्शयति-धर्मः-श्रुतचारित्राख्यस्तेनार्थः स एव वाऽर्थो र्थः स विद्यते यस्यासौ धमार्थीति, इदमुक्तं ति-न पूजाद्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते अपितु धर्मार्थीति। किमिति ?, यतो धर्मं य त्फलानि च स्वर्गावाप्तिलक्षणानि सम्यक् वेत्ति, धर्मं च सम्यग् जानानो यत्करोति तद्द ति-नियागो-मोक्षमार्गः सत्संयमो वा तं त्मिना भावतः प्रति : नियागपडिवन्नेत्ति, तथाविधश्च यत्कुर्यात् तदाह-'समि(म)यं'ति समतां समभावरूपां वासीचन्दनकल्पां 'चरेत्' सततमनुतिष्ठेत्। किंभूतः सन् ?, आह-दान्तो द्रव्यभूतो व्युत्सृष्टकायश्च, एतद्गुणसमन्वितः सन् पूर्वोक्तमाहनश्रमणभिक्षुशब्दानां यत् प्रवृत्तिनिमित्तं तत्समन्वितश्च निर्ग्रन्थ इति वाच्यः। तेऽपि माहनादयः शब्दा निर्ग्रन्थशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताविनाभाविनो भवन्ति, सर्वेऽप्येते भिन्नव्यञ्जना अपि कथञ्चिदेकार्था इति ॥५॥

साम्प्रतमुपसंहारार्थमाह-सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिप्रभृतीनुद्दिश्येदमाह-'से' इति तद्यन्मया कथितमेवमेव जानीत यूयं, नान्यो मद्वचसि विकल्पो विधेयः,

---

कर इन दोनो स्रोतोका छेदन किया हुआ है, जो पूजा, सत्कार और लाभकी कामना न करता हुआ केवल निर्जराके लिये तप आदि समस्त क्रियाये करता है, (यही शास्त्रकार दिखाते है) जो श्रुत और चारित्ररूप धर्मकी कामना करता है आशय यह है कि वह पूजा आदिके लिये नहीं किन्तु धर्मके लिये क्रियामें प्रवृत्ति करता है, कारण यह है कि वह धर्मको और स्वर्गादिप्राप्तिरूप उसके फलको अच्छीतरहसे जानता है (धर्मको अच्छीतरहसे जाननेवाला पुरुष जो कार्य्य करता है उसे शास्त्रकार दिखलाते है) नियाग, मोक्षमार्ग अथवा सत्सयमको कहते है उसको वह पुरुष सव प्रकारसे प्राप्त करता है। ऐसे पुरुषको जो करना चाहिये वह शास्त्रकार दिखलाते है उस पुरुषको सवके प्रति समभावसे व्यवहार करना चाहिये जैसे चन्दन कुठार चलानेवाले और लगानेवाले दोनोंमें समभाव रखता है। अर्थात् वह सवको समानरूपसे गन्ध देता है उसी तरह साधुको भी समभावसे रखना चाहिये। कैसा होकर साधु यह करे सो शास्त्रकार कहते है—जितेन्द्रिय, मुक्तिजाने योग्य और कायका व्युत्सर्ग करनेवाला होकर साधु पूर्वोक्त कार्य्य करे। जो साधु इन गुणोसे युक्त होकर पूर्वोक्त माहन, श्रमण और भिक्षु शब्दके अर्थोसे युक्त है उसे निग्रन्थ कहना चाहिये। पूर्वोक्त माहन आदि शब्द भी निग्रन्थ शब्दके प्रवृत्ति निमित्त (अर्थ)के विना नहीं होते इसलिये माहन, श्रमण, भिक्षु और निग्रन्थ शब्द भिन्न भिन्न वर्णोंसे युक्त होकर भी कथञ्चित् एकही अर्थके वाचक है। ४

अव शास्त्रकार इस अध्ययनको समाप्त करते हुए कहते हैं—श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्यवर्गसे कहते है कि—मैंने आपलोगोसे जो कुछ कहा है उसे आप सत्य समझें मेरे वचनमें किसी प्रकारकी शङ्का न करें क्योंकि मैने सर्वज्ञकी आज्ञासे ये वातें कही है। सर्वज्ञ

बहुविहवत्तव्वयं णिसामेत्ता । तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥२॥" त्ति, समाप्तं च गाथाख्यं षोडशमध्ययनं, तत्समाप्तौ च समाप्तः प्रथमः श्रुतस्कन्ध इति ॥ [ग्रन्थाग्रम् ८१०६]

करने योग्य वस्तुको जानकर उनको ग्रहण करने और त्याग करनेके लिये मनुष्यको प्रयत्न करना चाहिये इस उपदेशको नय कहते है। सब नयोके अनेक प्रकारके वक्तव्योंको सुनकर उसीको सब नयसे विशुद्ध समझना चाहिये जो उत्तम चारित्रमें स्थित साधु आचरण करता है।

इस प्रकार गाथानामक सोलहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ और उसके समाप्त होनेसे प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

॥ इति श्रीमच्छीलाङ्काचार्यविरचितविवरणयुतः सूत्रकृताङ्गीयः प्रथमः श्रुतस्कन्धः ॥

